तंत्र-महाविज्ञान

(प्रथम खण्ड)

[तन्त्र के सिद्धान्तो का वैज्ञानिक निरूपण]

लेखक

वेदमूर्ति तपोनिष्ठ

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

चारो वेद, १०८ उपनिषद्, षट् दर्शन, २० स्मृतियो
एव १८ पुराणो के प्रसिद्ध भाष्यकार

संस्कृति संस्थान

ख्वाजा कुतुब (वेद नगर)

बरेली (उ० प्र०)

प्राक्कथन

भारतीय अध्यात्म-साहित्य मे 'तन्त्र' की एक विशिष्ट स्थिति है। सामान्यतया सभी तन्त्र-ग्रन्थ भगवान शिव के मुख मे आविर्भूत बतलाये गये हैं और उनको आप्त-वाक्य के समान पवित्र और प्रामाणिक माना गया है। पर इसी देश के विद्वानो में एक दल ऐसा भी है, जो उनको अनेक दूषित प्रवृत्तियो का स्रोत और इस कारण व्यक्ति एव समाज के लिए अकल्याणकारी बतलाता है।

जब इस समस्या का निर्णय करने के लिए हम इसके गहन-तत्त्व मे दृष्टिपात करते हैं, तो विदित होता है कि ये दोनो ही मत न्यूनाधिक परिमाण मे विचारशीलता मे परे हैं। तन्त्र ग्रन्थो को शिव-प्रणीत और आप्त-वाक्य मानना वैसा ही है, जैसा कि अधिकाश पुराणो को ब्रह्मा, विष्णु या किसी अन्य देवता के मुख से नि सृत बतलाना। भारतवर्ष के विद्वान् समस्त ज्ञान का मूल स्रोत भगवान की चित्शक्तिको ही मानते हैं, इसलिए धर्म और अध्यात्म के सम्बन्ध मे उनका जो स्फुरणा होती है और जिन तथ्यो तथा भावनाओं को वे ग्रन्थरूप मे प्रकट करते हैं, उनको अपनी कृति न मानकर विश्व की चैतन्य-सत्ता को ही उनका उद्गम कहते हैं। तन्त्र शास्त्र के प्रणेताओ ने भी आरम्भ मे इसी परिपाटी का अनुसरण किया है और सभी प्रमुख तन्त्र ग्रथ किसी व्यक्ति विशेष के नाम से प्रसिद्ध न होकर भगवान शिव के नाम से ही प्रसारित किए गये।

पर जिस प्रकार प्रत्येक सस्था अथवा विचार-प्रवाह मे क्रमश अनधिकारी और स्वार्थी व्यक्तियो का प्रवेश हो जाता है और वे मूल भावना को तोड-मरोडकर उसे अपनी रुचि अथवा दुरभिसन्धियो की पूर्ति का साधन बना लेने की चेष्टा करते हैं, वही बात तन्त्र के सम्बन्ध में भी हुई। महापुरुषो ने तो योग और ज्ञान-मार्ग की साधनाओ को सवसाधारण के लिए दुर्गम समझकर तन्त्र का अपेक्षाकृत सरल मार्ग प्रादुर्भूत किया, जिससे वे भी अध्यात्म-क्षेत्र में कुछ प्रगति कर सकें

और क्रमश उच्च स्तरो तक पहुँचने का अवसर पा सके। पर हीन मनोभूमि के व्यक्तियो ने उसमे मनमानी कल्पनायें और अनोखे विधि-विधान जोडकर उसे जादू टोना जैसा बना दिया। इतना ही नही, भ्रष्ट आचरण वाले व्यक्तियो ने उसे अपनी गर्हित पाशविक वृत्तियो का साधन बनाने मे भी कसर नही रखी।

पर जब हम इन पक्षपातपूर्ण मान्यताओ को छोडकर तान्त्रिक सिद्धान्तो पर निष्पक्ष रूप से विचार करते हैं, तो यही प्रतीत होता है कि उसकी प्रतिष्ठापना अन्धविश्वास के बजाय अध्यात्म-विज्ञान के सुनिश्चित तथ्यो के आधार पर हुई है। आरम्भ मे इस देश के बहु-सख्यक विचारको तथा मनीषियो ने आत्मोत्थान और मोक्ष के लिए ससार-त्याग और कठिन तपश्चर्याओ का प्रतिपादन किया। उस समय देश-कालानुसार अधिकाश लोगो को वन्य और अविकसित परिस्थितियो मे रहना भी पडता था। इसलिए उनको उस मार्ग मे विशेष कठिनाई नही जान पडती थी। आगे चलकर कुछ विशिष्ट सम्प्रदाय वालो ने उस विचार-धारा को और भी बढाया तथा ससार त्याग तथा अधिकाधिक कष्ट-सहनको मोक्ष-मार्ग बतलाया। यह उपदेश मानव-प्रकृतिके अनुकूल न था, इसलिए सामान्य लोगो का ध्यान अध्यात्म और उच्च धार्मिक साधनाओ की तरफ से हटने लगा। होते होते ऐसा समय आ पहुचा जब गृहत्यागी तपस्वियो और गृहस्थो के बीच में एक गहरी खाई खुद गई और सामान्य जनता अपने को अध्यात्म-माग के लिए सवथा अनुपयुक्त समझने लग गई।

पर भारतीय मनीषी जानते थे कि किसी भी देश के निवासियो का अध्यात्म भावनाओ से शून्य हो जाना दुर्भाग्य का ही लक्षण है। ऐसे लोग भौतिकवादी दृष्टिकोण को अपनाने लगते हैं और उनमे से परमार्थ की भावना क्षीण होने लग जाती हैं। परमार्थ ही त्याग, परोपकार, सेवा, जैसी समाज कल्याणकारी प्रवृत्तियो का जन्मदाता है और उसके बिना मनुष्य निरन्तर स्वार्थसाधन को प्रधानता देता हुआ निम्न स्तर की ओर बढता चला जाता है। इसी दृष्टिकोण से गीता मे 'निष्काम कर्मयोग' का उपदेश दिया गया था, जिसमे मनुष्य लौकिक

और पारलौकिक दोनों पक्षों को सँभाल सके। पर यह सिद्धांत ऐसा सूक्ष्म और विचार-प्रधान था कि साधारण विद्या-बुद्धि का मनुष्य न तो उसे हृदयङ्गम कर सकता था और न उसे विश्वास होता था कि वह उस मार्ग पर सफलतापूर्वक चलकर सर्वोच्च गति का अधिकारी बन सकता है।

बस इन्हीं परिस्थितियों में तन्त्र-शास्त्र का आविर्भाव हुआ। उसका मुख्य उद्देश्य यही था कि मनुष्य गृहस्थ में रहकर सांसारिक जीवन व्यतीत करता हुआ भी न्यूनाधिक परिमाण में अध्यात्म-तत्व को ग्रहण कर सके और इस मार्ग पर प्रगति कर सकने में समर्थ हो जाय। इसलिए उसमें उपासना के कठोर अथवा अस्वाभाविक विधानों को त्याग कर ऐसी विधियों को प्रचलित किया गया जो गृहस्थ-जीवन के अनुकूल हों और जिनके कारण सामाजिक कार्यों में किसी प्रकार की बाधा न पड़ती हो।

बाद में अन्य विद्वानों ने तन्त्र-साधना में कुछ चमत्कारी शक्तियों और सिद्धियों के विचारों और विधियों को सम्मिलित किया। सम्भवत उनका उद्देश्य था कि ऐसा करने से सामान्य स्तर के व्यक्ति भी इस ओर आकर्षित होंगे और उनका विश्वास दृढ़ हो सकेगा। इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य की मानसिक शक्ति और एकाग्रता के प्रभाव को देखते हुए वे विधान असम्भव अथवा अवैज्ञानिक न थे। आज भी हमारे देश में तथा अन्य देशों में कुछ लोग उनकी सचाई परीक्षकों के सामने सिद्ध कर देते हैं। पर जैसा हम जानते हैं कि 'सिद्धियों और चमत्कारों' का मार्ग आगे चलकर प्रायः पतनोन्मुख बन जाता है। उसी के अनुसार मध्य-कालीन तन्त्र ग्रन्थों में सामान्य मन्त्र-विधानों अथवा युक्तियों द्वारा इतनी विशाल और असम्भव सफलताओं की बातें लिख दीं कि सभी समझदार व्यक्तियों का उन पर से विश्वास हट गया।

इस ग्रंथ में हमने उपर्युक्त तथ्यों का स्पष्टीकरण करते हुए यही बतलाने की चेष्टा की है कि तन्त्र का वास्तविक स्वरूप अन्धविश्वास या गपोड़ों पर आधारित नहीं है, वरन् वह अध्यात्म-विज्ञान की एक ऐसी शाखा है, जिसका अवलम्बन करके सर्वथा सामान्य व्यक्ति भी सांसारिक स्तर से ऊपर उठकर क्रमशः उच्च-जीवन में प्रविष्ट हो सकता है।

तन्त्र-विज्ञान [प्रथम खण्ड] की

विषय-सूची

तंत्र की तथाकथित घृणित साधनाएँ व उनकी वास्तविकता का स्पष्टीकरण

तन्त्र-शास्त्र भारत की एक प्राचीन और गूढ विद्या है। विद्वानो का मत है कि यह शारीरिक कर्तव्यो का पालन करते हुए आध्यात्मिक क्षेत्र मे प्रगति कर सकने का एक उत्तम साधन माना गया था। परन्तु थोडे ही समय पश्चात् लोग इस शक्ति का दुरुपयोग करने लग गये, जिसके परिणाम स्वरूप यह विधि बदनाम हो गई। आजकल तान्त्रिक-योग के दो नाम 'कौल' तथा 'वाम-मार्ग' सुनने मे आते हैं और सर्व साधारण मे इनके सम्बन्ध मे यही विश्वास फैला हुआ है कि इनका मन्तव्य मास मदिरा, मैथुन आदि के उपभोग मे लिप्त रहकर पतित जीवन बिताना है। इन लोगो की कामुकतापूर्ण क्रियाओ मे कितने ही सच्चे-झूठे किस्से भी सुनने मे आते हैं।

भारतीय और विदेशी दोनो प्रकार के विद्वानो ने तन्त्र और विशेष प्रकार से शाक्त धर्म की आलोचना की है कि वह अनाचार और व्यभिचार के साधन बन गए हैं और काम-शास्त्र की शिक्षा के अतिरिक्त इनमे कुछ नही है। उन्होंने यह भी इच्छा व्यक्त की, कि जनसाधारण को कुमार्ग की ओर प्रवृत्त करने वाले इस साहित्य का लोप होना ही जन-हित मे है। विद्वान् इसके अध्ययन से दूर रहे, जनता का भी इधर ध्यान कम गया। परिणाम स्वरूप इनका धीरे-धीरे लोप होता गया।

जनसाधारण मे इसके व्यापक प्रचार के न होने का एक कारण यह भी था कि तन्त्रो के कुछ अ श समझने मे इतने कठिन और गहन थे कि योग्य गुरु के बिना समझे नही जा सकते थे । अत जनता का उनके प्रति अन्धकार मे रहना स्वाभाविक ही था। तन्त्र-ज्ञान का अभाव ही भ्रम और शकाओ का कारण बना । यदि तन्त्रो का श्रद्धापूर्ण और सम्पूर्ण अध्ययन किया जाता तो ऐसी धारणाएँ शायद न बन पाती । इस प्रकार इस शास्त्र की कैसी दुर्गति हुई इस सम्बन्ध मे एक अँगरेज विद्वान हर्बर्ट वी गैन्थर ने अपनी पुस्तक 'युग नाधा' में लिखा है—

"There is hardly any other kind of literature that has met with so much abuse, particularly by those who never read or seriously studied a single line of it, or that has so much fascinated those who on the testimony of misinformed and uninformed people thought the Tantras to be most powerful and hence strictly guarded means for the gratification of purly biological urges Only very few people tried to form an opinion of the Tantras by their own"

"ससार मे शायद ही ऐसा कोई अन्य साहित्य होगा जिसकी इतनी अधिक निन्दा की गई हो, और वह भी ऐसे लोगो द्वारा जिन्होने न तो उसकी एक भी पक्ति पढी हो या उस पर गम्भीरतापूर्वक मनन किया हो । एक दूसरी श्रेणी उन लोगो की भी है, जो कुछ अनजान अथवा भ्रामक ज्ञान के आधार पर बातें करने वाले लोगो की सम्मतियो पर विश्वास करके, तन्त्र-शास्त्र के अनुरागी बन जाते हैं और उसको काम-वासना की पूर्ति का एक बडा शक्तिशाली उपाय मानने लगते हैं । वे समझते हैं कि इसी कारण इस शास्त्र की बातो को इतना अधिक

गोपनीय रखा जाता है । बहुत ही थोड़े लोग ऐसे हैं जिन्होंने तन्त्रों के सम्बन्ध मे स्वय विचार करके इस विषय मे निर्णय किया हो ।"

आगे चलकर लेखक ने कहा है कि "तन्त्र उन निर्बल विचार के व्यक्तियों के लिये भी निरर्थक है जो अपनी 'शुद्धता' के लिये ही सदैव चिन्तित रहते हैं, पर जिनमे यह समझ सकने की शक्ति नहीं होती कि वास्तविक जीवन कुछ और चीज है और काल्पनिक तथा परस्पर विरोधी सिद्धान्तों से उसमे काम नहीं चल सकता और न तन्त्र उन लोगों के लिये किसी प्रकार उपयोगी हो सकता है जो जिन्दगी को एक लज्जा और कुत्सा का विषय मानते हैं वास्तव मे तन्त्र का आशय समझने के लिये न तो उसे निन्दनीय मान लेना ठीक है और न उसकी प्रशसा मे अतिशयोक्ति पूर्ण और काल्पनिक बातें करना । इन्ही के कारण सर्व साधारण मे इस विषय मे गलत फहमी और अश्रद्धा की भावना उत्पन्न होती है"

अत मे लेखक ने तन्त्र के सच्चे स्वरूप पर प्रकाश डालने के उद्देश्य से लिखा है—

"The fact is that the Tantras contain a very sound and healthy view of life But just as it is impossible to understand the function of the kidney, for instance, without regarding its place in the whole of the living organism, so also the Tantras can not be understood without taking into account the rich display of human life. Thus, the Tantras are not at all speculative, but pre-eminently practical and up te the actual problems of life"

"वास्तविक तथ्य यह है कि तन्त्रों मे जीवन सम्बन्धी बड़े गम्भीर और स्वस्थ विचारों का समावेश है। पर जिस प्रकार हम अपने शरीर मे स्थित गुर्दे की उपयोगिता को तब तक नहीं समझ सकते जब

तक कि जीवित शरीर की सचालन क्रिया मे अन्य भागो के साथ उसके सम्बन्ध को न जान लें, उसी प्रकार समस्त मानव-जीवन की महत्वपूर्ण क्रियाओ पर विचार किये बिना हम तन्त्र की वास्तविकता को नही समझ सकते। इस प्रकार तन्त्र काल्पनिक बाते नही हैं वरन् पूर्ण व्यवहारिक और जीवन की समस्याओ पर यथार्थता का दिग्दर्शन कराने वाले हैं।"

स्वार्थपरता और मिलावट

तन्त्र साहित्य तो नि सन्देह रूप मे उत्कृष्ट है ही परन्तु ऐसा लगता है कि कुछ स्वार्थी साधको ने अपने स्वार्थ के लिए इसमे कुछ वीभत्स साधनाओ का समावेश किया जिससे जन साधारण मे उनके प्रति घृणा के बीज अकुरित होने लगे। अपने विचारो के समर्थन मे ऐसे साहित्य का भी विकास किया गया, प्राचीन साहित्य मे मिलावट की गई है ऐसे श्लोक रच डाले गए जो उनकी भ्रष्ट साधनाओ का समर्थन करते थे। 'कुलार्णव तन्त्र' मे इन तथ्यो को स्वीकार किया गया है—

बहव कौलिक धम मिथ्याज्ञान विडम्बका।
स्वबुद्धय कल्पयन्तीत्थ पारम्पर्यविवर्जिता॥

"पारम्परिक ज्ञान से शून्य और मिथ्या ज्ञान का ढोग रचने वालो ने कौल धर्म मे अपनी बुद्धि की कल्पनाए भी प्रविष्ट कर दी हैं।"

अद्यत्वेऽपि हि दृश्यन्ते केचिदागमिकच्छलात्।
अनागमिकमेवार्थं व्याचक्षाणा विचक्षणा॥

'यमुनाचार्य का आगम प्रमाण्य काशी सस्करण' (पृष्ठ-४)

"आजकल भी कुछ लोग शास्त्रज्ञ होने का ढोग कर कुशलता पूर्वक शास्त्रविपरीत अर्थ करते दिखाई देते हैं।"

प० कन्हैयालाल मिश्र ने 'योगिनी तन्त्र' की भूमिका मे लिखा है—

"बहुत से धूर्तों ने इधर उधर का कूडा कर्कट एकत्र करके जाली तन्त्र भी प्रकाशित किए। यही कारण है कि आज अनेक जाली तन्त्र प्रचलित दिखाई देते हैं।"

ऐसे साहित्य के तन्त्र में प्रवेश होने पर कुछ ऐसे प्रयोग और विधि-विधान उपलब्ध होते हैं जो नैतिक दृष्टि से त्याज्य और निन्दनीय हैं। पञ्च-मकारों से उनका संबन्ध तो है ही। इनमें भी अधिक निषिद्ध वस्तुओं का उनमें उल्लेख है। छः प्रकार के सबको हानिकारक और नृशंस अभिचार प्रयोग का कौन समर्थन कर सकता है? शव के प्रयोग को कौन उचित ठहरा सकता है? स्त्री-पुरुष के रज-वीर्य के प्रयोगों को कौन नैतिकता की सीमा में बांध सकता है?

सौन्दर्यलहरी के प्रसिद्ध टीकाकार लक्ष्मीधरने श्लोक ४१ के 'तवाधारे मूले सत समयया लास्यपरया" की टीका में लिखा है कि कौलों के दो मत होते हैं— पूर्व कौल और उत्तर कौल। पूर्व कौल में 'श्री चक्र' में स्थित योनि की पूजा का विधान है परन्तु उत्तर कौल सुन्दर युवती की प्रत्यक्ष योनि की पूजा करते हैं तथा पञ्च मकारों का प्रतीक रूप में न करके प्रत्यक्ष रूप में उपयोग करते हैं। उत्तर कौलों के इसी वामाचार से जनता में तान्त्रिक विधानों के प्रति विक्षोभ की भावनाएं उद्दीप्त हुईं। उच्छिष्ट गणपति के उपासक वाममार्ग पर चलने वाले हैं। इनके आचार-विचार भी उत्तर कौलों की तरह में जान पड़ते हैं। वे गणपति की अश्लील रूप से ही उपासना करते हैं। मदिरा और मदिराक्षी उनके पूजा विधान में विशेष रूप से सम्मिलित हैं। बौद्ध धर्म की वज्रयान शाखा में भी व्यभिचार ने प्रवेश किया। इस सम्प्रदाय में मन्दिर में होने वाली दीक्षा में अन्य वस्तुओं के साथ मदिरा की सुगन्ध का भी विधान था। तन्त्र की दीक्षा प्राप्त के करने के लिए शिष्य को मुद्रा का प्रयोग करना पड़ता था।

यहाँ पर मुद्रा का अभिप्राय नवयुवती से लिया जाता था। इनके यहाँ तप की उपेक्षा है, विषय भोगों के प्रति रुचि रखने की ओर संकेत है।

तनुतरुचिताङ्कुरको विषयरसैर्यदि न सिच्यते शुद्धैः।
गगनव्यापी फलद कल्पतरुत्वं कथं लभते॥

"यदि शुद्ध विषय रसो से शरीर रूपी वृक्ष को न सींचा जाए तो आकाश मे विस्तीर्ण, फल देने वाले कल्पतरु के गुण का कैसे पाया जा सकता है।"

इस सम्बन्ध मे श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार, सम्पादक 'कल्याण' गोरखपुर ने लिखा है—

"यद्यपि तन्त्रशास्त्र समस्त श्रेष्ठ साधन-शास्त्रो मे एक बहुत उत्तम शास्त्र है, उसमे अधिकाश बातें सर्वथा अभिनन्दनीय और साधक को परमसिद्धि-मोक्ष प्रदान कराने वाली हैं, तथापि सुन्दर बगीचे मे भी जिस प्रकार असावधानी से कुछ जहरीले पौधे उत्पन्न हो जाया करते और फूलने-फलने भी लगते हैं, उसी प्रकार तन्त्र मे भी बहुतसी अवाछनीय गन्दगी आ गयी है। यह विपर्या, कामान्ध मनुष्यो और मासाहारी मद्यलोलुप अनाचारियो को ही काली करतूत मालूम होती है, नही तो श्री शिव और ऋषि प्रणीत मोक्षप्रदायक पावत्र तन्त्रशास्त्र मे ऐसी बाते कहाँ से और क्यो आतीं ? जिस शास्त्र में अमुक-अमुक जाति की स्त्रियो का नाम ले लेकर व्यभिचार की आज्ञा दी गयी हो और उसे धर्म तथा साधन बताया गया हो, जिस शास्त्र मे पूजा की पद्धति मे बहुत ही गन्दी वस्तुएँ पूजा सामिग्री के रूप मे आवश्यक बतायी गई हो, जिस शास्त्र के मानने वाले साधक, हजार स्त्रियो के साथ व्यभिचार को, अष्टोत्तरशत नर बालको की बलि को, अनुष्ठान की सिद्धि मे कारण मानते हो, वह शास्त्र तो सर्वत्र अशास्त्र और शास्त्र के नाम को कलंकित करने वाला ही है। व्यभिचार की आज्ञा देने वाले तन्त्रो के अवतरण 'शिव' ने पढे हैं और तन्त्र के नाम पर व्यभिचार और नरबलि करने वाले मनुष्यो की घृणित गाथाऐ विश्वस्त सूत्र से सुनी हैं। ऐसे महान तामसिक कार्यों को शास्त्र सम्मत मानकर भलाई की इच्छा से इन्हे करना सर्वथा भ्रम है, भारी भूल है और ऐसी भूल मे कोई पडे हुए हो तो उन्हें तुरन्त ही इससे निकल जाना चाहिये।"

धर्म और अर्थ की आड मे कुछ भ्रष्ट तान्त्रिको ने मारण, मोहन

उच्चाटन, स्वस्थ व्यक्ति को रोगी बनाना, शत्रु पक्ष की खडी लहलहाती फसल को नष्ट कर देना ही धार्मिक कृत्य, भौतिक उन्नति व साधन की सफलता मान रखा है। यह सर्वथा तान्त्रिक दर्शन और विचारधारा के विपरीत हैं। कुछ तन्त्रो मे जादू के चमत्कारो का वर्णन किया गया है। इन्हे ही वह तन्त्रो का प्रतिपाद्य विषय मानते हैं। यह तो तन्त्र विद्या का उपहास है। यदि यही तत्र का मुख्य विषय होता तो प्राचीन ऋषि इस ओर कभी प्रवृत्त न होते और विद्वान इतने विशाल साहित्य के निर्माण की ओर ध्यान न देते। तत्र का उद्देश्य जादू के चमत्कार दिखाकर जन साधारण को आकर्षित करना ही नही है। एक विद्वान के अनुसार तत्रो के दार्शनिक विचार उतने ही उद्दात्त तथा प्राञ्जल हैं जितने षट् दर्शनो के। उनकी साधन पद्धति उतनी ही पवित्र तथा उपादेय है जितनी वेदो की।"

पशुबलि का कलक

अन्य दोषो के साथ हिंसा ने भी तान्त्रिक उपासना मे प्रवेश किया। देवी के नाम पर हजारो पशुओ की हत्या की जाने लगी। मध्य युग में यह प्रवृत्ति इतनी बढी कि पशुओ के अतिरिक्त मनुष्यो तक की बलि दी जाने लगी। अब नरबलि की प्रथा तो नहीं है परन्तु पशुबलि अब भी यत्र-तत्र होती है। यह वैदिक यौगिक और तान्त्रिक सभी शास्त्रो की नीति के विरुद्ध है। इस पर विस्तृत रूप से विचार करना होगा।

हिन्दू धर्म का मूलभूत तत्वज्ञान इतना महान है कि उसके प्रत्येक सिद्धान्त एव विधान मे विश्व-कल्याण की, मानवता के चरम उत्थान की सभावनाऐं ही सन्निहित हैं। देवताओ और ऋषियों ने इस महान धर्म का ढाँचा इतने उच्च कोटि के आदर्शो द्वारा विनिर्मित किया है कि उसके व्यवहार का परिणाम स्वर्गीय वातावरण का निर्माण ही हो सकता है। परन्तु दु ख की बात है कि पिछले अज्ञानान्धकार युग से उसमें जहाँ तहाँ अनैतिक और अहितकर मान्यताओ और रूढियों का भी समावेश होने लगा है और आज जो रूप हिन्दु धर्म का हमारे सामने

उसमे कई चीजे बहुत खटकने वाली ही नही, उन भावनाओ के सर्वथा प्रतिकूल भी हैं जिनको लेकर ऋषियोने इस महान धर्मकी रचना की थी।

ऐसी विकृतियो मे पशुबलि को सर्वोपरि कलक माना कहा जा सकता है। मूक पशु-पक्षियो का देवी-देवताओ के नाम पर कत्ल किया जाना उन देवताओ की महिमा को समाप्त करके सारे सभ्य समाज के सामने उन्हें घृणित, निंदित, नीच, क्रूर एव हत्यारा सिद्ध करता है। जिस देवता को प्रसन्न करने के लिए बलि चढाई जाती है, वस्तुत उन्हे असीम कष्ट और लज्जा इस कुकृत्य से होती है क्योकि देवता शब्द ही दिव्य तत्व, दया, करुणा, दान, उदारता, सेवा, सहायता आदि सत्प्रवृत्तियो का द्योतक है, जिसमे यह गुण न हो—उलटे नन्हे मुन्ने बेबस और बेकसी प्राणियो का खून पीने की इच्छा हो, उन्हे देवता कौन कहेगा ? वे तो असुर एव पिशाच ही गिने जायेंगे। देवताओ के महान गौरव को नष्ट कर उन्हे दुनियाँ के सभ्य समाज के सम्मुख इस बुरे रूप मे उपस्थित करना वस्तुत उनके साथ दुश्मनी करना है। उन्हे कलकित करने का प्रयत्न करने वाले के प्रति वे प्रसन्न होगे, इसकी आशा कदापि नही की जा सकती। परिणाम स्वरूप जो लोग पशुबलि करते हैं, उनके उल्टे रोग, शोक, अज्ञान आदि क्लेश, कलह, दुष्टता, दुर्बुद्धि आदि अनेक दुखो की ही वृद्धि होती है। पशुबलि करने वाले लोगो मे से फलते-फूलते कोई विरला ही देखा जाता है अन्यथा उन्हे निर्दोष जीवो की हत्या तथा देवता को कलकित करके उनके क्रोध एव शाप के फलस्वरूप नाना प्रकार के कष्ट ही मिलते हैं।

पशुबलि प्रथा से देवताओ का भारी अपयश होता है, हत्या का नृशस पाप लगता है और बलि कराने वालो को पाप का निश्चित परिणाम भुगतने के लिए इस लोक मे नाना प्रकार के दुखो एव परलोक मे नारकीय यन्त्रणाओ का भागी बनना पडता है। यह कुप्रथा निश्चित रूप से हिन्दू धर्म पर भारी कलक है। जिस धर्म का मूल ही दया और अहिंसा

हो उसमे इस प्रकार के कुकृत्यो को किसी भी प्रकार धर्मानुकूल नही कहा जा सकता ।

धर्म के नाम पर अधार्मिक कृत्यो का प्रचलन प्रत्येक धर्म प्रेमी को एक मार्मिक पीड़ा पहुँचाने वाली बात है । कोई खाने की दृष्टि से मास खावे तो उसकी व्यक्तिगत स्वार्थपरता ही मानी जायगी, इससे सारा समाज या सारा घर कलकित नही होता पर पशुबलि सरीखे कृत्यो से तो हमारे अहिसा, सत्य, प्रेम और दयामूलक धर्म की मूल मान्यताओ पर ही कुठाराघात होता है, इसे देखकर सच्चे धर्म प्रेमी यदि चिन्तित, खिन्न और विह्वल हो तो यह सर्वथा उचित ही है ।

अनेक देव मदिरो मे पशुबलि होते देखकर ऐसे किसी भी विचार-शील व्यक्ति के मन पर भारी आघात लगता है, जिसने हिन्दू धर्म के महान् स्वरूप को समझने का प्रयत्न किया हो । हिन्दू धर्म दया, प्रेम, भ्रातृत्व, मानवता और प्राणिमात्र के प्रति स्नेह सद्व्यवहार सिखाने वाला धर्म है । इसके सभी देवता दयालु सहृदय, उदार, करुणा और सहायता करने वाले हैं । फिर वे पशु पक्षियो का खून पीकर प्रसन्न हो, यह कैसे सभव है ? धर्म शास्त्रो को जितना ही गम्भीर दृष्टि से देखा जाय, उतना ही यह निश्चय होता जाता है कि हमारा धार्मिक तत्व ज्ञान और आदर्श कभी भी इस बात से सहमत नही हो सकता है कि कोई देवता पशु-पक्षियो का मांस खाने या खून, पीने की आकाक्षा करता हो या इस कार्य मे उसे कुछ प्रसन्नता हो सकती है ।

बहुधा देवी काली के मदिरो मे भैरव आदि के मठो मे एवम् ग्राम देवता के चबूतरो पर बकरे भैसो की, मुर्गे कबूतरो की बलि चढाई जाती है । काली के तो अनेक मदिर अभी भी ऐसे हैं जहाँ हर साल सहस्रो पशु-पक्षियो का गला काट डाला जाता है । बगाल, राजस्थान और हिमालय की पहाडी प्रदेश इस कार्य में अग्रणी हैं । यो तो आये दिन यह हत्या-कर्म होते ही रहते हैं पर नव रात्रि के दिनो मे तो नृशसता अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है । कई बडे-बडे मन्दिरो मे उन

दिनो जो बूचड खाने जैसा घृणित दृश्य उपस्थित होता है, उसे देखकर किसी भी सहृदय और धार्मिक भावना वाले व्यक्ति की अन्तरात्मा कांप उठती है। उस दृश्य को देखकर कोई विचारवान व्यक्ति यह स्वीकार नही कर सकता है कि यहाँ कोई देव मन्दिर है अथवा यहाँ कोई धर्म कार्य किया जा रहा है।

हमारे धम ग्रन्थो मे इस कुकर्म का कही समर्थन नही है, कही-कही अलकारिक रूप मे ऐसा वर्णन अवश्य मिलता है कि अपने आंतरिक दोष दुर्गुणो को पशु मानकर उनका परित्याग, बलिदान देव-सान्निध्य मे किया जाय। लगता है कि स्वार्थी लोगो ने उस साहित्यिक पहेली की अलङ्कारिक भाषा को तोड मरोड कर अपनी जिह्वा-लोलुपता की पूर्ति का साधन बनाया है। माँसाहार मद्यपान और व्यभिचार यह तीन पाप हमारे यहाँ बहुत बडे माने गये हैं। लोग अपनी आसुरी वृत्तियो से प्रेरित होकर इन्हें करते हैं और अन्तरात्मा भी धिक्कारती है। इन दोनो ही विरोधो से बचने के लिए माँसाहार को पशुबलि के बहाने उचित ठहराने का किन्ही ने निन्दनीय प्रयास किया होगा। खेद है कि उन्हे सफलता भी मिली और पिछले दिनो वह पाप प्रचड रूप से पल्लवित हुआ। इस विचारशीलता के युग मे वह घटाया तो जा रहा है पर मिटता अब भी नहीं है।

साधारणत भोले-भाले अज्ञानग्रस्त लोग ऐसा सोचते हैं कि काली माई हमारे द्वारा पशु-पक्षियो का माँस खिलावे से प्रसन्न होगी और हमारी मनोकामनाएँ पूरी करेंगी। बाल बच्चे-पैदा नही होते होगे तो बच्चे पैदा कर देगी, मुकदमा जिता देगी धन देगी, शत्रुओ पर विजय प्राप्त करावेगी, हमारे हर कार्यों मे सफलता देगी। वे एक रिश्वत के रूप में देवी को मद्य, माँस खिला-पिला कर प्रसन्न करना चाहते हैं, उससे मनमाने वरदान प्राप्त करना चाहते है, यह मान्यता सर्वथा असम्भव एव भ्रमपूर्ण है। वास्तव मे बात बिलकुल उल्टी है। जो कुकर्म से हत्या जैसे महान पाप से प्रसन्न हो वह देवता ही नही माने जा सकते देवता

लोग कुकर्म करने वाले से रुष्ट रहते हैं और उसे कोई वरदान देना, लाभ पहुँचाना तो दूर उलटे हानि एव दड की व्यवस्था करते हैं।

देवी भगवान की दिव्य शक्ति का नाम है। यो दीनदयालु, दयानिधान, करुणासिन्धु भगवान अपने पुत्रो को, ससार के सभी प्राणियो को अपार प्रेम करते हैं पर माता भगवती की करुणा एव वात्सल्यता का तो कहना ही क्या है? माता का हृदय पिता की अपेक्षा अनेक गुना अधिक करुणापूर्ण होता है। जब मनुष्य योनि की साधारण स्त्रियाँ अपने बच्चो को प्राण के समान प्यार करती हैं, उन्हें तनिक-सा कष्ट होने पर व्याकुल हो जाती हैं, तो फिर उस दिव्य माता का तो ठिकाना ही, क्या है जिसके अत करण में निरतर स्नेह और वात्सल्य की धारा बहती रहती है। वे मनुष्यो की ही नही पशु पक्षियो की भी माता है।

उसी जगदम्बा माता भवानी के पवित्र नाम पर जब पशुबलि होती है तो देवत्व की आत्मा काँपने लगती है। बेचारे निरीह बकरे भैंसे माता के आगे निर्दयतापूर्वक कत्ल किये जाते हैं और उनका रक्त-मांस माता को खाने के लिये उपस्थित किया जाता है, यह कितना नृशस-कार्य है। इससे स्वर्ग लोकनिवासिनी की तो क्या इस लोक मृत्युलोक की साधारण नारी की भी अतरात्मा चीत्कार करने लगेगी। यदि कोई दुष्ट मनुष्य किसी माता की गोदी से उसका बच्चा छीन कर उसकी आँखो के ही सामने कत्ल करे और फिर उसके कलेजे के टुकडे खून मास उस माता के मुँह मे ठूँसे तो उसे कितनी मार्मिक व्यथा होगी इसकी कल्पना कोई बाल बच्चेदार सहृदय व्यक्ति ही कर सकते हैं। जिस दुष्ट व्यक्ति ने नृशस काय किया है, क्या उससे वह माता कभी प्रसन्न होगी? क्या उसे कोई उपहार का वरदान देगी? निश्चय ही ऐसा नहीं हो सकता। वह कुकर्मी को शाप और दड देने की बात ही सोच सकती है।

तंत्र के भेद

तन्त्रो के दो भेद माने जाते हैं—वैदिक और अवैदिक, वेदानुकूल और वेद बाह्य, प्रमाणिक अथवा अप्रमाणिक। कुल्लूक भट्ट ने कहा है—

" श्रुतिश्च द्विविधा -वैदिकी तान्त्रिकी च "

अर्थात् श्रुति के भी दो भेद होते है— एक वैदिकी श्रुति है दूसरी तान्त्रिकी श्रुति होती है।

इसमे उन्होने वेदो के अनुकूल सिद्धातो का प्रतिपादन करने वाले तन्त्रों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है और उन्हे वेद के अनुकूल स्वीकार किया है। पाञ्चरात्र और वैखानस जैसे तन्त्र और पशुपति, शैव सिद्धात आदि जैसे शैवतन्त्र वेद के अनुकूल माने जाते है, फिर भी इनमे कुछ अवैदिक विचार होने के कारण अवैदिक कहा जाता है। शाक्त तन्त्रो पर तो विशेष प्रकार से अवैदिक होने के आक्षेप लगाए जाते है। क्योकि सात प्रकार के आचारो मे से एक वामाचार ही ऐसा है जो उन्हे अवैदिक ठहराता है। वैसे शाक्त तन्त्रो के गम्भीर अध्ययन के पश्चात प्रतीत होता है कि उसमे बहुत से वेदानुकूल तन्त्र उपलब्ध हैं, परतु भ्रष्ट-आचार का निर्देशन करने वाले तन्त्रो की भी कमी नही है।

शाक्त मत मे दो प्रकार के आचार होते हैं—

१-कौलिक और सामयी। कौलिक पच-मकारो का प्रत्यक्ष प्रयोग करते है, परतु समयी उनके प्रतीको की उपासना करते है और प्रत्यक्ष आराधना को शास्त्र विरुद्ध मानते हैं।

बाहरी प्रभाव

जब वेदानुकूल तन्त्रो का बाहुल्य है तो इस अवैदिक और घृणित उपासना पद्धति का प्रचलन कैसे हो गया, इसके कारणो का अध्ययन करने पर पता चलता है कि तन्त्र शास्त्र पर विदेशी अनार्य साहित्य का कुप्रभाव ही पड़ा है। कौल सम्प्रदायिक प्रतिष्ठित शक्ति पीठ कामाख्या(आसाम) मे स्थित है और वही से इसका प्रचार प्रसार हुआ है। भारत का यह पूर्वी प्रात तिब्बत की सीमाओ से लगा हुआ है। इतिहास से इसकी पुष्टि होती है कि तिब्बत मे 'बोने' नाम का एक सम्प्रदाय था जो कोलो की तरह पचमकारो के प्रत्यक्ष प्रयोग में विश्वास करता था। दशम शताब्दी के लगभग उनकी इस उपासना पद्धति का प्रचार बगाल और

आसाम के सीमात प्रान्तो मे हुआ । रुद्रयामल तत्र मे यहाँ तक लिखा हुआ मिलता है कि यद्यपि वशिष्ठ महाचीन (भोट देश–तिब्बत) गये थे और वहाँ से इस उपासना पद्धति की शिक्षा प्राप्त करके उन्होंने भारत मे इसका प्रचार किया । विष्णुयामल (१-२ पटल) गान्धर्व तत्र, रुद्रयामल (१७ पटल) तारा तत्र (१–२), से इस तथ्य की पुष्टि होती है परतु ऐसा लगता है कि एक उच्चकोटि के प्रसिद्ध ऋषि का सहारा लेकर अपने मत का समर्थन करने का दुष्प्रयत्न किया गया है ।

सभी दोषी नहीं

कौल सम्प्रदाय के वामाचार के द्वारा सारे तत्रो और व अन्य तात्रिक सम्प्रदायो को दोषी नही ठहराया जा सकता । दोष हर जाति और सम्प्रदाय मे पनप सकते हैं और पनपे हैं । किन्ही गिने-चुने व्यक्तियो के दोषी होने के कारण सारे सम्प्रदायो और विशेषकर के उनके साहित्य पर आक्षेप करना उचित नही है । दोषी व्यक्तियो का सुधार किया जा सकता है । यदि किसी कारण इन सिद्धातो मे स्वार्थी व्यक्तियो ने मिलावट कर दी है, तो उनका परिष्कार भी किया जा सकता है ।

शाक्त-मत मे ही कौलो की इस पचमकारो की प्रत्यक्ष प्रयोग विधि मे दूर रहने के कडे आदेश दिए गए हैं । अनेको तत्रो मे कौल उपासना और कौल सिद्धातो की आलोचना की गई है । उन तत्रों मे जीवन निर्माण के उत्तम सिद्धातो का प्रतिपादन किया गया है जो समार्ग की ओर अग्रसर करते हैं । परानद सम्प्रदाय मे पशुवलि को त्याज्य माना गया है—

परानन्दस्याष्ट विधिर्हिस नाभावान्मध्यम पारानन्दो वर्जयेत ।

—परानद सूत्र (गायकवाड ओरियटल सिरीज) पृष्ठ १३

अर्थात "परानद का अष्ट विधि हिंसनाभावानपरानन्द मध्यम को वर्जित कर देता है ।"

इसके अतिरिक्त समय सप्रदाय के सिद्धान्त भी आदर्शवादिता की ओर ले जाते हैं । उनके साहित्य में मानवता का प्रतिपादन किया गया है ।

अधिकार

अधिकार भी सात्विक, राजनैतिक और तामसिक तीन प्रकार के होते हैं। तामसिक साधक ही वामाचार का अधिकारी है। कतिपय विद्वानो ने इसे तत्र की विशेषता ही बताया है। श्री स्वामी दयानद ने अपनी पुस्तक 'सत्यार्थप्रकाश' मे लिखा है "कलिगन के प्रभाव से जिन साधको की वासना निम्न श्रेणी की ओर मद है व जो मात्र योगलोलुप हैं, उनके अथ उच्च प्रकार का आचार और उच्च प्रकार की क्षुद्र सिद्धियाँ उनको लोभ दिखाकर उपासना योग में अग्रसर करने के लिए सवदा हितकारी हैं, फलत निरपेक्ष विचारधारा द्वारा यह निणय हुआ कि तत्र-शास्त्र मे सर्वलोक हितकर अनेक उपयोगी और आध्यात्मिक उन्नतिकारी विषयो के साथ यदि ऐसे निम्न कोटि के विषय भी हैं तो उससे कुछ दूषण नही है, प्रत्युत उनके द्वारा तत्र शास्त्रो की सर्वजीव हितकारिता और पूणत सिद्ध होती है।"

फिर भी इसके अधिकार को सीमित रखा गया है। कौल सम्प्रदाय में भी हर किसी को इसकी आज्ञा नही दी गई है। पूर्वकौल भी प्रत्यक्ष उपासना न करके प्रतीक उपासना ही करते हैं –

श्री चक्रस्थितनवयोनिमध्यगता योनि भूर्जहेम वस्त्रपीठादो लिखता पूर्वकौला पूजयन्ति। तरुण्या प्रत्यक्षयोनिमुत्तरकौला पूजयन्ति ।

(आनन्द लहरी की लक्ष्मीधर टीका पृष्ट १३)

अर्थात् "श्री चक्र मे स्थित नवीन योनि के मध्य मे रहने वाली योनि को भूर्ज-हेम-वस्त्र और पीठ आदि मे लिखित को पूर्व कौल पूजते हैं। तरुणी स्त्री की प्रत्यक्ष योनि की उत्तर कौल पूजा करते हैं।

उच्चकोटि के साधको और कौलो के अतिरिक्त अन्य उपासकों के लिए तो प्रतीक पूजा के स्पष्ट सकेत हैं।

क्षत्रियो के मद पान के अधिकार को सीमित रखा गया है। वह

इसका स्वय प्रयोग नही कर सकते । देवता को समर्पित करने का उन्हे अधिकार है।

तने क्षत्रियादीना मुख्यस्य दानेऽधिकार, नपाने।

अर्थात्—इससे क्षत्रिय आदि को मुख्य के दान करने का अधिकार है, पान मे नही है।

कतिपय विद्वानो का यह मत है कि पञ्च-मकारो की प्रत्यक्ष प्रयोग विधि उन्ही साधको के लिये विदित है जो आत्म-विकास की उच्च स्थिति तक पहुंच चुके हैं जिनका सयम कही परीक्षा मे भी असयत नही हो सकता, जिनका मन इतना पवित्र और सुदृढ हो गया हो कि क्षुद्र प्रवृत्तियो का उन पर कुछ भी प्रभाव न पडता हो। कौल-शास्त्रो मे भी ऐसे अधिकारी का वर्णन है। एक दृष्टि से साधको की यह परीक्षा होती है। जो साधक पथ की उच्च सीढियो को पार करते हुए आगे बढ रहे हैं, उनकी व्यावहारिक परीक्षा भी आवश्यक होती है। कौलो के अनुसार जब वह इस परीक्षा मे उत्तीर्ण हो जाते हैं तो उन्हे वीर की पदवी दी जाती है। सच्चे कौल के लक्षणो में भी इसी तथ्य का प्रतिपादन किया गया है कि इन घृणित वस्तुओ के प्रयोग करने पर भी विकार रहित रहे।

अहो पीत महद्द्रव्य मोहयेन्त्रिदशानपि।
तन्मद्य कौलिक पीत्वा विकार नानुयात्तु य।
मद्ध्यानैकपरो भूयात् स भक्त स च कौलिक॥

—परानन्दमत (गायकवाड ओरियन्टल सिरीज, पृष्ठ १६)

अर्थात् इसीलिये पीया हुआ महान् द्रव्य देवो को भी मोहित कर देता है अर्थात् उन्हे भी मोह पैदा हो जाता है। उस मद्य को कौलिक पीकर जो विकारो को प्राप्त नही होता है और मेरे ध्यान में ही परम परायण रहता है, वही भक्त है और कौलिक है।

प्रतीक

तन्त्रो मे प्रतीक रूप मे भी त्याज्य वस्तुओं के प्रयोग का आदेश है। यौगिक क्रियाओ के रूप में उनका स्पष्टीकरण किया गया है।

कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

गगायमुनयोमध्ये मत्स्यौ द्वौ चरत सदा।
द्वौ मत्स्यौ भक्षयेद्यस्तु स भवेन्मत्स्यसाधक ॥
(आगम सार)

'गगा और यमुना के मध्य मे दो मत्स्य सदा विचरण करते हैं। जो उन दोनो मत्स्यो को भक्षण कर जाता है वही मत्स्य साधक होता है।

माराब्दाद् रसना तेथा तदशान् रसना प्रियान्।
सदा यो भक्षयेदेवि स एव मास साधक ॥
(आगम सार)

"माराब्द से रसना को जानना चाहिए उसके अशो को जो रसना के प्रिय होते हैं जो, सदा भक्षण किया करता है, हे देवि वह ही माँस साधक होता है।"

कुलकुण्डलिनीशक्तिर्देहिता देह धारिणी।
तया शिवस्य सयोगा मैथुन परिकात्तितम् ॥

अर्थात् "कुल कुण्डलिनी शक्ति जो देहधारियो के देह का धारण करने वाली है उसके साथ शिव का सयोग मैथुन म बतलाया गया है।"

यदुक्त परम ब्रह्म निर्विकार निरञ्जनम्।
तस्मिन प्रमदन ज्ञान तन्मद्य परिकोर्तितम् ॥
(विजयतन्त्र)

अर्थात "जो परम ब्रह्म निर्विकार और निरञ्जन बताया गया है, उसमे प्रकृष्ट रूप से मदन स्वरूप ज्ञान ही मद्य कहा गया है।'

निन्दा—

कौलो मे माँस, मद आदि के प्रयोग का विधान है परन्तु नियन्त्रित रूप मे। कुलार्णव तन्त्र कौलो का प्रमुख तन्त्र है। उसी मे ऐसे साधक की निन्दा की गई है कि यदि ऐसा भ्रष्ट आहार व्यवहार ही धर्म का अग माना जाता हो तो इन त्याज्य वस्तुओ को ग्रहण करने वाले ही सबसे बडे धार्मिक कहलाएँगे।

मद्यपानेन मनुजो यदि सिद्धिं लभेत वै ।
मद्यपानरता सर्वे सिद्धिं गच्छन्तु पामरा ॥
मांस भक्षण मात्रेण यदि पुण्या गतिर्भवेत् ।
लोके मांसाशिन सर्वे पुण्यभाजो भवन्ति हि ॥
(कुलार्णव २/ ११७–८)

अर्थात् "मद्य के पान से ही यदि मनुष्य सिद्धि की प्राप्ति कर लेवे तो सभी पामर मद्य के पान मे रति रखने वाले सिद्धि को प्राप्त हो जावें । मांस के भक्षण मात्र से ही यदि पुण्य-गति हो जाया करे तो लोक मे सभी लोग मांस खाने वाले पुण्य-भागी हो जावें ।"

भय प्रदर्शन—

कौल पंचमकारों को आवश्यक समझते हैं, परन्तु वह इसे गिने-चुने व्यक्तियों के लिये ग्राह्य समझते हैं । जन साधारण को अत्यन्त भय दिखाया गया है कि यह मार्ग अत्यन्त कठिन है, इस पर चलने से पहले गम्भीरतापूर्वक विचार कर लेना चाहिए । कुलार्णव तन्त्र २ । १२२ मे कहा है—

कृपाणधारागमनाद् व्याघ्रकण्ठावलम्बनात् ।
भुजङ्गधारणान्नूनमशक्यं कुलवर्तनम् ॥

'कृपाण की धार के ऊपर गमन करने से तथा व्याघ्र के कण्ठ के आलम्बन करने से एवं भुजङ्गों के धारण करने से भी निश्चय ही कुल वर्तन अशक्य है ।"

नरक मे जाने का भय भी दिखाया गया है—

अर्थाद् वा कामतो वापि सौख्यादपि च यो नर ।
लिङ्गयोनिरतो मन्त्री रौरवे नरकं व्रजेत् ॥

अर्थात् 'अर्थ मे, काम मे, अथवा सौख्य मे भी जो मनुष्य लिङ्ग-योनि मे रत रहता है वह मन्त्री रौरव नरक मे जाता है ।"

दण्ड विधान—

जो व्यक्ति साधना के लिए नहीं वरन् इन्द्रिय-तृप्ति के लिए ही

इन वस्तुओ का प्रयोग करते है, तन्त्रो मे इनके लिए दण्ड का भी विधान है --

सुरापाने कामकृते ज्वलन्ती ता विनिक्षिपेत् ।
मुखे तया विनिर्दग्धे तत शुद्धिमवाप्नुयात् ।।
(कुलार्णव २।१२)

अर्थात् "इच्छापूर्वक सुरा के पान करने पर जलती हुई अर्थात् अत्यन्त गर्म उस सुराको मुख मे डाल देवे । उससे वह विशेष रूपसे निर्दग्ध हो जावे तो फिर ऐसा होने पर सुरापान करने वाला शुद्धि को प्राप्त होता है ।"

उच्च उद्देश्य—

तन्त्र-शास्त्रो के अवलोकन से पतीत होता है कि उनके उद्देश्य विकृत नही हैं । कालक्रम से जिस तरह अन्य शास्त्रो और जाति सम्प्रदायो मे दोष उत्पन्न हो गए थे उसी तरह तन्त्रो मे स्वार्थी व्यक्तियो ने मिलावट करके अपने मतो का समर्थन करने के लिए ऐसे सिद्धान्तो का प्रचलन किया, जिन्हें घृणित समझा जाता है । तन्त्र का उद्देश्य साधक को निम्नगामी प्रवृत्तियो मे उलझाना नही है वरन् उसे एक ऐसा सुव्यवस्थित मार्ग सुझाना है जिससे वह जीवन में कुछ आदर्श कार्य कर सके ।

उदाहरणार्थ 'मेरु तन्त्र' मे वाम-मार्ग का परिचय देते हुये कहा है—

पर द्रव्येषु योऽन्धश्च परस्त्रीषु नपुंसक ।
परापवादे यो मूक सर्वदा विजितेन्द्रिय ।।
तस्यैव ब्राह्मणस्यात्र वामे स्यादधिकारिता ।

अर्थात्—जो पर द्रव्य के लिये अन्धा है, पर-स्त्री के लिये नपुंसक है जो पराई निन्दा के लिये गूंगा है और जो इन्द्रियो को सदा वश मे रखता है ऐसा ब्राह्मण वाम-मार्ग का अधिकारी होता है ।"

इसी प्रकार "कौल" शब्द की व्याख्या करते हुये तन्त्र-शास्त्र मे बताया है—

कुल शक्तिरिति प्रोक्तमकुल शिव उच्यते ।
कुलकुलस्य सम्बन्ध कौलमित्यभिधीयते ।।

अर्थात्—"कुल शब्द शक्ति का वाचक है और 'अकुल' शब्द शिव का बोधक है। कुल और अकुल के सम्बन्ध को कौल कहते हैं।"

कौल शब्द का अर्थ ध्यान देने योग्य है। कौल उसे कहते हैं जो शक्ति को शिव के साथ मिलाने की योग्यता रखता है। 'कुल' का अर्थ शक्ति अथवा कुण्डलिनी है और 'अकुल' का अभिप्राय शिव से है। जो साधक यौगिक साधनाओं में सहस्रार में निवास करने वाले शिव के साथ कुण्डलिनी शक्ति को मिलाने की सामर्थ्य रखता है, उसी को कौल कहते हैं। इससे कौल उच्चकोटि के योग साधक सिद्ध होते हैं। इनके सम्बन्ध में जो भ्रांत धारणाएँ लोक में व्याप्त है, उसका कारण कौलाचरण के सम्बन्ध में पूरी जानकारी का अभाव ही है।

शैववैष्णवदौर्मिकगाणपत्यादिकै क्रमात्
मन्त्रविशुद्धाचित्तस्य कौलज्ञान प्रकाशते ॥

अर्थात्—शैव, वैष्णव, शाक्त सौर, गाणपत्य आदि सिद्धान्तो के मन्त्रो द्वारा चित्त की शुद्धि हो लेने के पश्चात् कौल ज्ञान (ब्रह्म ज्ञान) की प्राप्ति होती है।"

यह सत्य है कि जिस प्रकार प्रत्येक उच्च और उपयोगी सिद्धान्त और सप्रदाय में कालान्तर में अनेक विकार और दोष उत्पन्न हो जाते हैं उसी प्रकार तन्त्र-मार्ग का भी अधिकांश में रूपान्तर हो गया है और साधारण लोगो ने उसे मारण-मोहन-वशीकरण जैसे निकृष्ट, दूषित कार्यो का ही साधन समझ लिया है। पर अपने मूल रूपमे यही उसका उद्देश्य जान पडता है कि जो लोग घर गृहस्थी को त्याग करके तप और वैराग्य द्वारा आत्म साक्षात्कार करने में असमर्थ हैं, वे अपने सासारिक जीवन का निर्वाह करते हुए भी आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नति कर सकें।

इस बात को तन्त्र ग्रन्थो में स्पष्ट रूप से कहा भी गया है—

यत्रास्ति भोगो न च तत्र मोक्षो
यत्रास्ति मोक्षो न च तत्र भोग।

श्रीसुन्दरी सेवन तत्पराणा।
भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव ।।

अर्थात्—"जहाँ भोग है वहाँ मोक्ष नही है और जहाँ मोक्ष है वहाँ भोग नही है। किन्तु जो मनुष्य भगवती त्रिपुरसुन्दरी की सेवा मे सलग्न है, उनको भोग और मोक्ष दोनो ही सहज साध्य हैं।"

तन्त्र-योग मे भी यद्यपि अन्य योग-मार्गों की तरह आठो अङ्गो का समावेश पाया जाता है, पर उसका मूल उद्देश्य कुण्डलिनी शक्ति को जागृत और क्रियाशील करके आत्मशक्ति को प्राप्त करना है। इसका अभ्यास करने मे आसन और प्राणायाम की आवश्यकता पडती है और और ध्यान की शक्ति का भी प्रयोग आवश्यक होता है। फिर बाह्य और आन्तर शुद्धि, इन्द्रिय सयम, प्रणिधान, ब्रह्मचर्य, ईश्वर आदि यम-नियम के साधन तो प्रत्येक आत्म विकास के मार्ग मे करने ही पडते हैं।

'सम्यक्त' वाले बाह्य उपासना की उपेक्षा ही करते हैं और ध्यान व आत्मसाक्षात्कार पर ही विशेष बल देते हैं—

समियना मन्त्रस्य पुरश्चरण नास्ति। जपो नास्ति। बाह्य-होमोऽपि नास्ति। बाह्य पूजाविधयो न सन्त्येव। हृत्कमलमेव सर्वयावदनुष्टेयम्।

(आनन्द लहरी पर लक्ष्मीधर टीका मैसूर सस्करण पृष्ट ११)

"मत्र युक्त धर्म वालो का पुरश्चरण नही है। जप नही होता है बाह्य होम भी नही है। बाह्य पूजा की विधिया नहीं हैं हृत्कमल ही सबका अनुष्ठान करे। अर्थात् हृदय मे ही सब करना चाहिए।"

एक तत्र लेखक का भी यही कहना है कि "श्रद्धा और विवेक के साथ तन्त्र शास्त्र का अध्ययन किया जाए तो यह पता चलेगा कि तन्त्र और शाक्त धर्म का ध्येय जीवात्मा की परमात्मा के साथ—व्यष्टि को समष्टि के साथ अभेद सिद्ध ही है और तान्त्रिक उपासना का भी यदि आलोचनात्मक अध्ययन किया जाय तो यह अवगत होगा कि इसके भिन्न-

भिन्न विधानों की सृष्टि भी इसी उद्देश्य को क्रमश सिद्ध करने के लिए हुई है ।"

अत कुछ विद्वानों की यह धारणा कि तन्त्रों ने व्यभिचार को बढ़ावा दिया है, पूर्णत सत्य नहीं है। इनके उद्देश्य उच्च हैं, जो गन्दगी इसमें आ गई है, यदि उसे दूर कर दिया जाय तो वह उच्चकोटि के साधनात्मक शास्त्र के रूप में प्रतीत होंगे, इसमें कचित मात्र भी संदेह नहीं है ।

• • •

तंत्र की असाधारण महत्ता और उद्देश्य

शास्त्रो मे तत्र की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है—

कृते श्रुत्युक्त आचारस्त्रेतायां स्मृतिसम्भव ।
द्वापरे तु पुराणोक्त कलावागमसम्मत ।।

(कुलार्णव तत्र)

अर्थात् "सतयुग मे श्रुति मे कथित आचार था, त्रेता युग मे स्मृति प्रतिपादित आचार माना तथा किया जाता था, द्वापर युग मे पुराणो मे वर्णित आचार की ही मान्यता थी और कलियुग मे आगम सम्मत तन्त्रो का आचार प्रधान है।"

महा निर्वाण तत्र मे शिव कहते है —

कलिकल्मषदीनाना द्विजातीना सुरेश्वरि ।
मेध्यामेध्यविचाराणा न शुद्धि श्रौतकर्मणा ।।
न सहितादयै स्मृतिभिरिष्टसिद्धिर्नृणा भवेत् ।
सत्य सत्य पुन सत्य सत्य सत्य मयोच्यते ।।
विना ह्यागममार्गेण कलौ नास्ति गति प्रिये ।
श्रुति स्मृतिपुराणादौ मयैवोक्त पुरा शिवे ।
आगमोक्तविधानेन कलौ देवान्यजेत्सुधी ।।

अर्थात् 'हे सुरेश्वरि ! कलि के दोष मे दीन हुए द्विजो को पवित्र अपवित्रता का विचार नही रहेगा फिर श्रौत कार्यो के सम्पादन से वह कैसे सफलता प्राप्त कर सकेंगे ? तब सहिताओ और स्मृतियो के मयोग से भी अभीष्ट सिद्ध न हो सकेगी। हे प्रिय ! मैं सत्य और पुन पुन सत्य कहता हू कि कलिकाल मे तन्त्र-मार्ग को छोडकर दूसरी गति नही है। हे शिवे !

श्रुति स्मृति और पुराणो के द्वारा मैंने घोषणा की है कि कलियुग मे उपासक आगम विधान द्वारा निर्देशित देव-पूजन करेगे ।"

'योगिनी तन्त्र' के अनुसार—

निर्वीया श्रौतजातीया विपयहीनोरगा इव ।
सत्यादौ सफला आसन्कलौ ते मृतका इव ॥
पाचालिका यथा भित्तौ सर्वेन्द्रियसमन्विता ।
अमूरशक्ता कार्येपु तथान्ये मन्त्रराशय ॥
अन्यमन्त्रै कृत कर्म वन्ध्यास्त्रीसगमो यथा ।
न तत्र फलसिद्धि स्याच्छ्रम एव हि केवलम् ॥
कलावन्योदितैर्मार्गै सिद्धिमिच्छति यो नर ।
तृषितो जाह्नवीतीरे कूप खनति दुर्मति ॥
कलौ तन्त्रोदिता मत्रा सिद्धास्तूर्णं फलप्रदा ।
शस्ता कर्मसु सर्वेपु जपयज्ञक्रियादिषु ॥

अर्थात "विष रहित साप की तरह अब वेद-मन्त्र निर्वीय हो गए है । सत्यादि युगो मे यही मत्र सफलीभूत होते थे । अब वह मृतप्राय हो गए हैं । कलियुग मे अन्य मत्रो की वैसी ही स्थिति है जैसे कि भीत पर लिखी हुई पुतलिया इन्द्रियो से सयुक्त होने पर भी अपने कार्य मे अयोग्य रहती हैं । जैसे वन्ध्या स्त्री के सहयोग से कोई सतान नही होती वैसे ही अन्य मत्रो पर केवल श्रम ही होता है, उनसे कोई फल सिद्धि नही होती । अन्य शास्त्रो के विधान अनुसार जो साधक सिद्धि प्राप्त करना चाहता है । वह ऐसा ही है जैसे प्यासा व्यक्ति गगा तट पर कुआ खोदे । कलियुग मे तो तत्रोक्त मत्र ही शीघ्र फलदाता है । जप इत्यादि कर्मों मे यही मत्र उत्तम माने गए हैं ।"

कलावागममुल्लङ्घ्य योऽन्यमार्गे प्रवर्त्तते ।
न तस्य गतिरस्तीति सत्य सत्य न सशय ॥

अर्थात् "मैं सत्य-सत्य नि'सन्देह रूप से घोषित करता हूँ कि कलियुग में तत्रो का उल्लघन करके जो अन्य मार्गों को अपनाता है, उसकी सद्गति सम्भव नही ।"

मत्स्य सूक्त मे तन्त्र-महिमा का इस प्रकार वर्णन है—

विष्णुर्वरिष्ठो देवाना ह्रदानामुदधिस्तथा ।
नदीनाच यथा गङ्गा पर्वताना हिमालय ॥
तथा समस्तशास्त्राणा तन्त्रशास्त्रमनुत्तमम् ।
सर्वकामप्रद पुण्य तन्त्र वै वेदसम्मतम् ॥

अर्थात् "जिस तरह देवताओ मे विष्णु, ह्रद-समूह म समुद्र नदियो मे गङ्गा, पर्वतो मे हिमालय को श्रेष्ठ माना गया है, उसी तरह समस्त शास्त्रो मे तन्त्र सर्वोत्तम माना गया है।"

महानिर्वाण तन्त्र मे एक और स्थान पर कहा है--

तप स्वाध्यायहीनाना नृणामल्पायुषामपि ।
क्लेशप्रयासाशक्ताना कुता देहपारश्रम ॥
गृहस्थस्य क्रिया सर्वा आगमोक्ता कलौ शिवे ।
नान्यमार्गै क्रियासिद्धि कदापिगृहमेधिनाम् ॥

अर्थात् "कलियुग मे लोग तप, स्वाध्याय से हीन और अल्पायु के होगे। अत अशक्तता के कारण वे क्लेशदायक और परिश्रम वाले कार्यों के सम्पादन मे अयोग्य रहे। हे शिवे ! कलि मे गृहस्थ केवल आगम योग का ही अनुसरण करेगे। अन्य मार्गों का सहारा लेने पर क्रियानुष्ठान करने से वह कभी भी सिद्धि लाभ न कर सकेंगे।"

भारतीय सस्कृति के गौरवशाली साहित्य को दो शाखाओ मे विभक्त किया गया— आगम और निगम। साधारणत आगम तन्त्र के लिये और निगम वेदो के लिये प्रयुक्त होता है। वेदो की महत्ता तो सर्व विदित है ही, तन्त्र भी अत्यन्त महत्वपूर्ण उच्चकोटि के साहित्य मे गिने जाते हैं। इसका प्रमाण इसी तथ्य से मिलता है कि आगम शब्द पहिले वेदो के लिये प्रयुक्त किया जाता था, परन्तु जब तन्त्रो का आविर्भाव हुआ तो वेद निगम और तन्त्र आगम के अन्तर्गत आ गए। पतञ्जलि के योग सूत्रो मे वह शब्द वैदिक ज्ञान के अर्थ मे आया है। उन्होने ज्ञान के तीन प्रमाणो—(प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम) मे भी इसे सम्मिलित किया है।

तन्त्रों के आविर्भाव के कारणों का स्पष्टीकरण करते हुये श्री माधव पुण्डरीक ने लिखा है — 'धर्म-ग्रन्थों के सूक्ष्म अध्ययन से यह सत्य निर्भ्रान्त रूप से सामने आता है कि जिस तरह से उपनिषद् वेदों के ज्ञान-काण्ड के पुनरुज्जीवन और अभिन्न परायण के प्रतीक हैं, और ब्राह्मणों ने वैदिक धर्म की कर्म-काण्डीय पद्धति की सुरक्षा तथा उसे आगे बढ़ाने की इच्छा की थी, उसी तरह से आगमों ने वैदिकवादियों की गूढ शिक्षाओं तथा भावना को अपने हाथ में लिया और वे परवर्ती युग की बदलती हुई अवस्थाओं और आवश्यकताओं के अनुरूप रूपों और साधनाओं के द्वारा उसका विकास तथा उसी के आधार पर नवीन निर्माण करते गये ।"

कुल्लूक भट्ट के अनुसार आगम भी ईश्वर-प्रसूत शब्द स्वीकार किये जाते हैं। जिस तरह वेद ईश्वर की वाणी माने जाते हैं, उसी तरह तन्त्र भी भगवान शिव विष्णु, हरि, देवी की वाणी हैं। उन्हीं देवताओं के नाम से वे जाने भी जाते हैं, जैसे वैष्णावागम, शाक्तागम, शैवागम।

वेदों के कर्म, उपासना और ज्ञान के तीन विषय प्रसिद्ध हैं, वेद में यह विषय संक्षिप्त और गुथे हुए रूप में वर्णित हैं। इनका सरल रूप में युगानुसार विस्तार तन्त्रों में किया गया है ताकि यह सर्व साधारण की समझ में आएँ। यही कारण है कि वेदों की अपेक्षा तन्त्रों का प्रचलन अधिक हो गया। तन्त्रों ने वेदों के रहस्य को खोलने का ही कार्य किया है। वेदों के समस्त विषय तन्त्रों में पाए जाते हैं। तन्त्रों की महत्ता प्रकट करते हुये मत्स्य-सूक्त में लिखा है कि जिस तरह वर्णों में ब्राह्मण, देवियों में दुर्गा, देवताओं में इन्द्र, वृक्षों में पीपल, पर्वतों में हिमालय, नदियों में गंगा, और अवतारों में विष्णु हैं, उसी तरह शास्त्रों में तन्त्र श्रेष्ठ हैं।"

जब तन्त्र-साधना का प्रचार उच्च शिखर पर था, साधक इससे अनेकों प्रकार की असाधारण सिद्धियाँ प्राप्त करते थे, जो आज सर्वथा असम्भव दृष्टिगोचर होती हैं। प्राचीनकाल के साधक इससे बड़े-बड़े लाभ उठाते थे। रावण और अहिरावण हजारों मील की दूरी से बिना वैज्ञानिक यन्त्रों के आपस में वार्तालाप करते थे। नलनील ने पानी पर तैरने वाले

पत्थरो से पुल बनाया था। हनुमान मच्छर की तरह अपने शरीर को छोटा बना सकते थे और वृहदाकार पर्वत खण्डो को उठाने की सामर्थ्य भी रखते थे। सुरसा अपने शरीर को विशालतम बना सकती थी। मारीच मनुष्य शरीर को पशु शरीर मे परिवर्तित कर लेता था। बिना पेट्रोल के आकाश मे उड़ने वाले वायुयान उपलब्ध थे। वरुण अस्त्र से जल की वर्षा कराई जाती थी, आग्नेयास्त्र से चारो ओर अग्नि की लपटे उठने लगती थी नागपाश की जकड लोहे की मोटी रस्सियो मे भी अधिक सुदृढ थी, सम्मोहनास्त्र से व्यक्ति को मूर्च्छित कर दिया जा सकता था। परन्तु खेद है कि आज यह विद्या लुप्त हो गई और हम केवल इनका विवरण पढ-सुनकर ही सन्तुष्ट हो जाते हैं।

तन्त्र साधना द्वारा दूसरो के मन को प्रभावित किया जा सकता है और उसकी गतिविधियो को अपनी इच्छानुसार मोडा जा सकता है। निर्बल मन व शरीर वाले व्यक्तियो को स्वस्थ बनाया जा सकता है। बिच्छू सर्प के काटे व विषैले फोडो का समाधान भी तन्त्र द्वारा मिलता है। अनिष्ट ग्रह, भूतोन्माद, नजर लगने आदि के उपचार तन्त्र द्वारा होने हैं। मानसिक उद्वेग, असहनीय वेदना व अन्य शारीरिक अव्यवस्थाओ मे तन्त्र सहायक सिद्ध होता है। मैस्मरेजम और हिप्नैटिज्म द्वारा भी कुछ ऐसे ही कार्य कर लिये जाते हैं। इन पद्धतियो मे दूसरे व्यक्तियो के मन को सम्मोहित करके उन्हे अपनी इच्छानुसार आदेश दिये जाते हैं और वह वैसा ही करते हैं। तन्त्रो द्वारा इनकी अपेक्षा कही अधिक शक्ति उपार्जित की जा सकती है।

तन्त्र साधनाओ का लक्ष्य बडा विस्तृत है। वशीकरण, मारण, उच्चाटन, सम्मोहन दृष्टिबन्ध, परकाया प्रवेश, सर्प विद्या, प्रेतविद्या, अदृश्य वस्तुओं को देखना, भविष्य ज्ञान, सन्तान सुयोग, आकर्षण, मोहन मन्त्र घात-प्रतिघात आदि की क्रियाएँ इससे सचालित की जा सकती हैं।

किसी समय तन्त्रो के इतने विशाल साहित्य का निर्माण किया गया था, जिसकी आज कल्पना भी नही की जा सकती। तन्त्रो मे ही वर्णन है कि

प्राचीनकाल मे चौदह हजार तन्त्र ग्रन्थ प्रचलित थे। इनमे सभी विद्याओ का समावेश था। आत्म-कल्याण के सिद्धान्त, मानव शास्त्र, व्यावहारिक ज्ञान, जप, तप, उपासना ध्यान, मन्त्र योग, राज योग, हठ योग, लय योग, दर्शन रहस्य अध्यात्म का स्पष्टीकरण, सृष्टि रचना, प्रलय, ग्रह नक्षत्र, प्रेत विद्या, पितृ तत्व, आयुर्वेद, रसायन शास्त्र, परलोक विद्या, नरक, स्वर्ग, १४ लोक, राज धर्म, दान धर्म, युग धर्म, शल्य चिकित्सा, भैषज्य चिकित्सा, रस चिकित्सा, वनौषधि चिकित्सा, धातु और उपधातु मे औषधि निर्माण, गणित ज्योतिष, मशीन विद्या आदि विषय तन्त्रो के क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं। इन विषयो का विस्तार से विवेचन मिलता है। यह गुण और किसी शास्त्र मे नही हैं।

तन्त्रो के लक्ष्य की ओर संकेत करते हुये एक विद्वान ने लिखा है "ईश्वर की सर्जनात्मक शक्ति का जागरण, इन शक्तियो को खोजकर कार्यो को करना, अपने देवत्व को पहचानना और अपने चारो ओर की सृष्टि मे विशालतर देवत्व का आलिंगन करना वह आदेश है जिसे समस्त आगम उद्घोषित करते हैं। यही एक लक्ष्य है जिसकी ओर उनके आत्म-निर्माण और अनुशासन अर्थात् उपासना के समस्त मार्ग खुल जाते हैं। इनके बताए मार्ग कर्म से भागने के नही, कर्म के मार्ग हैं। भगवान के द्वारा नियोजित नियमो और ढग मे भगवान की महिमा और अभिव्यक्ति के लिये चेष्टा करना यही उनकी साधना का प्रधान सत्य है।"

तन्त्र अभ्यास और व्यवहारिक ज्ञान के शास्त्र हैं। यह जीव की परतन्त्रता को समाप्त करके स्वतन्त्रता का द्वार खोलते हैं, वहजिन सुदृढ बन्धनो मे जकडा हुआ है, उनको ढीला करते हैं और ईश्वरीय सत्ता के सर्वोच्च स्थान पर लाकर खडा कर देते हैं। वह साधक को आत्मसाक्षात्कार की भूमिका में अवस्थित करते हैं। वह इस शरीर के रहते हुये भी अपने को जीवनमुक्त समझने लगता है। सब ओर अपनेपन के विस्तार का अनुभव करता है। आत्मिक विज्ञान के सिद्धान्तो को क्रिया रूप देना ही तन्त्र शास्त्र का कार्य है। विभिन्न प्रकार की साधनाओ के विधि-विधान

का मार्गदर्शन ही इनका प्रमुख कार्य है।

तन्त्र-साधना पचकोषो को पार करने की उच्चतम प्रक्रिया का मार्ग प्रशस्त करती है। अन्नमय कोष से आनन्दमय कोष की ओर बढाते चलना इनका उद्देश्य है। तन्त्र साधनाएँ शक्ति के स्रोत है। हमारे सूक्ष्म शरीर मे स्थित चक्रो और यौगिक ग्रन्थियो को जगा कर साधक को एक शक्तिशाली चुम्बक बना देती हैं। साधक के अग-अग से शक्ति का प्रादुर्भाव होता है और वह हर क्षेत्र मे सफलता के पग बढाता चलता है, क्योकि सफलता की मूल शक्ति के रहस्य को वह पहिचान गया है।

तत्र शास्त्रियो ने खोजकर पता लगाया है कि ईश्वर की विभिन्न शक्तियो को, जिन्हे देवता कहते है, अपने अनुकूल बनाकर उनकी शक्तियो को आकर्षित किया जा सकता है और मनोवाछित सिद्धियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। सूक्ष्म देवताओ के लिए सूक्ष्म साधनो की आवश्यकता रहती है, इस कार्य के लिए मत्र सर्वोपरि साधन स्वीकार किए गए हैं। तन्त्रो ने मत्रो के साथ बीजाक्षरो का प्रयोग भी बताया है। इन मत्रो की सूक्ष्म तरगें सूक्ष्म प्रकृति मे हलचल उत्पन्न करती हैं और ईथर तत्व मे व्याप्त अपने अनुकूल तरगो के साथ मिलकर एक शक्ति-पुञ्ज के रूप मे परिणित हो जाती हैं। साधक एक चुम्बक की तरह इन शक्तियो को आकर्षित करता रहता है और अपने मे शक्ति के भडार को भरता रहता है। इस तरह से मन्त्र उसका दिव्य शक्तियो से सम्बन्ध स्थापित कराते हैं।

तन्त्रो मे पचमकार की साधना को देखकर कुछ लोग इन्हे उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगे हैं। तन्त्र साधनाओ मे मद्य, मांस मत्स्य, मुद्रा और मैथुन के प्रयोग का निर्देश किया गया है। अलङ्कारिक भाषा मे प्रयुक्त इन शब्दो को साधारण कोटि के साधक न समझ सके और इनका प्रत्यक्ष प्रयोग करके इस क्षेत्र को भ्रष्ट कर दिया, जिससे बौद्धिक क्षेत्र मे इनके प्रति घृणा के बीज उत्पन्न हो गये। परन्तु वास्तविकता कुछ और ही है। जहाँ मद्य के प्रयोग का आदेश है वहाँ नशा उत्पन्न करने वाले पेय से अभिप्राय नही है वरन् वह दिव्य ज्ञान है जिससे साधक बाहरी जगत से

नाता तोड़कर आन्तरिक क्षेत्र मे प्रवेश करता है। परमात्मा को सर्वस्व समर्पित करना ही तो मांस का सेवन कहलाता है। मत्स्य का अभिप्राय उस स्थिति से है जब सभी तरह के सुख-दुख एक समान हो जाते हैं। दुर्गुणो के त्याग को मुद्रा कहते हैं। सहस्रार मे शिव शक्ति का कुण्डलिनी के साथ मिलन मैथुन कहलाता है। उच्चकोटि के साधक इन्ही भावनाओ से ओत-प्रोत होकर साधना करते हैं। विषयी प्रकृति के व्यक्ति अपनी वासनाओ को तृप्त करने के लिये एक प्रकार का षड्यन्त्र करते हैं और तन्त्र-शास्त्र को बदनाम करते हैं जिससे यह व्यवहारिक रूप मे जनसाधारण मे दूर चला गया है। इसकी वास्तविकता को समझना और तदनुसार आचरण करना ही अभीष्ट है, जिससे जीवन के विकाश मे इस प्राचीन भारतीय विज्ञान का लाभ उठाया जा सके।

वेदो मे प्राणी मात्र को समान दृष्टि से देखने और व्यवहार करने के आदेश तो दिए गए हैं परन्तु कर्मकाण्ड, साधना और शिक्षा से समानाधिकार प्रदान किए गए हैं। तन्त्र-शास्त्रियो की प्रशसा ही करनी चाहिए कि सिद्धान्त की समानता को उन्होंने व्यवहार मे भी ला दिया और मनुष्य मात्र के लिये तन्त्र-साधना के द्वार खोल दिए। स्त्री और पुरुष, किसी भी हीन वर्ण का व्यक्ति इसे अपना सकता है। तन्त्र मे किसी तरह के प्रतिबन्ध नही लगाए गए हैं। तन्त्र सभी वर्गों के विकास का आकांक्षी है और सभी को समान अधिकार प्रदान करता है। इस नीति ने ही इनके प्रचार और प्रसार को व्यापक बनाने में सहायता दी।

तन्त्र एक स्वतन्त्र विज्ञान है। परमाणुमयी प्रकृति के आकर्षण-विकर्षण से जगत के पदार्थों मे परिवर्तन होता रहता है, उत्पत्ति, स्थिति और लय के परिणाम उपस्थित होते हैं। विज्ञान द्वारा परमाणुओ की इस स्वाभाविक प्रक्रियाओ को बदलकर अपने अनुकूल बना लिया जाता है। बिजली, रेडियो, तार रेल आदि इसके उदाहरण हैं। यह विज्ञान की यन्त्रीय शाखा है। दूसरी तन्त्रीय शाखा है, जिससे अपने अतर की विद्युत शक्ति को इतना विकसित कर लिया जाता है कि प्रकृति के सूक्ष्म

परमाणुओ को अपनी इच्छानुसार ढाल सकते हैं। इसी को सिद्धि कहते हैं। तन्त्र-विज्ञान के अनुसार सूक्ष्म जगत म चेतना ग्रन्थियाँ विचरण करती रहती हैं। जिस उद्देश्य से साधना की जा रही है, उसके अनुसार उन्ही प्रकार की चेतना ग्रन्थियो को जाग्रत किया जाता है ताकि वह क्रियाशील होकर अनुकूल परिणाम प्रस्तुत करने मे समर्थ हो। जैसे कोई नोकर प्रत्यक्ष शरीर मे स्वामी की सभी आज्ञाओ का पालन करता है वैसे ही अप्रत्यक्ष शरीर से वह चेतना ग्रन्थियाँ सर्दव उसक साथ रहती हैं और अपनी शक्ति के अनुसार साधक की आज्ञाओ का पूर्ण करती है। जैसे कहा जाता है कि उस तान्त्रिक को भैरव, छाया-पुरुष, ब्रह्म-राक्षस, मसान पिशाच आदि सिद्ध हैं।

अदृश्य लोक की चेतना ग्रन्थियो की प्रक्रिया इस प्रकार से होती है कि तन्त्र साधनाओ द्वारा उन्हे पकडा जाता है, उनको प्राणवान बनाया जाता है, जाग्रत, क्रियाशील और चैतन्य बनाया जाता है। चैतन्य होने पर वह साधक पर आक्रमण करती हैं। यदि साधक इस आक्रमण से भयभीत न हुआ तो वह ग्रन्थियाँ उस साधक क वश मे हो जाती हैं और अप्रत्यक्ष शरीर से उसके सभी कार्य सिद्ध करती है। यदि वह भयभीत हो जाय तो उसे हानि की भी सम्भावना होती है।

प्राचीन काल मे अदृश्य लोक की चेतना ग्रन्थियो को जाग्रत करके वह सभी कार्य कर लिये जाते थे जो आजकल भौतिक विज्ञान की शोधो से यन्त्रो द्वारा किये जा रहे हैं। आज उस विज्ञान का लोप हो गया है फिर भी कही-कही ऐसे तान्त्रिक मिल जाते है जो प्रत्यक्ष रूप से इसकी सिद्धियो का प्रदर्शन करते हैं। यदि भारत के इस प्राचीन विज्ञान पर शोध की जाए तो अनेको अद्भुत रहस्य प्रकट हो सकते हैं और इस विद्या का उत्थान हो सकता है।

एक विद्वान ने सशक्त शब्दो मे घोषणा की है—

"अधिकाश मे आगमो का ही यह योगदान है कि जिसने देश की आध्यात्मिक वृत्ति को मायावाद के मरुस्थल मे जाने मे रोका और सतुलन

बनाये रखने मे वास्तविक भाग लिया था। तान्त्रिक विचारो और उपासना के मुख्य सत्यो मे ही आज के हिन्दू धर्म का मेरुदण्ड बना है।

हिन्दू विश्व देवतागण तन्त्र से ही ग्रहीत हैं और अभी तक अपने मूल स्वरूप को सुरक्षित रखे हुए हैं। उपासनायें, विशेषरूप मे सामूहिक पद्धति की उपासनाए खुले रूप मे अपनी प्रकृति मे तान्त्रिक है। व्यक्तिगत साधना मार्ग मे भी तान्त्रिक रहस्यवादियो के ज्ञान का एक बडा भाग आ गया है। चेतन शक्ति का सिद्धान्त क्षुद्र-मानव प्रयत्न को साक्षात्कार के स्तर मे उठाती हुई परमशक्ति के रूप मे सर्वसिद्धिप्रद शक्ति का एक प्रधान सिद्धान्त है जिसके चारो ओर वर्तमान युग की साधना किसी न किसी रूप मे केन्द्रित है।

तन्त्र पद्धति मे छिपे हुए अर्थों को बताते हुए श्री अरविन्द सकेत करते हैं कि "भारत भूमि की आत्मा के क्रमश विस्तारशील राज्य में यह एक महत्त्वपूर्ण विकास-शिखर था। वैदिक ऋषियो ने एक आन्तरिक अनुशासन और धर्म विकसित किया और इसे पूर्ण बनाया, जो मूलगत रूप मे सहज बोध पर आश्रित और प्रतीकात्मक था और उस युग की अकृत्रिम विशुद्ध मानवता के अनुरूप था। उपनिषद् मे इस प्रारम्भ के प्रयास का उल्लेख है, जिसमे मानव अपने विभिन्न स्तरो को—आलोकित बुद्धि के उच्च स्तर मे लेकर नीचे तक के स्तरो को— ऊँचा उठा ले जाता है, उन पर आत्मा की ज्योति का प्रकाश डालता है। यह एक प्रणाली है जो कि स्मृतियो के युग से होते हुए आगे बढी और दर्शन मे अपनी पूर्णता को पहुँची। तान्त्रिक साधना भगवान के विषय मे और भी गम्भीर दावा करती है। यह मानव के सवेदनशील और सक्रिय भागो, हृदय, सकल्प और जीवन सत्ता को भी लेती है और उन्हे आत्मा के ढाँचे के अनुरूप विकसित करने यत्न का करती है। इसलिए तन्त्र देश के प्रगतिशील तथा आत्म विस्तारशील आध्यात्मिक आन्दोलन मे एक महत्त्वपूर्ण और यहाँ तक कि अनिवार्य सोपान रहा है।"

प्रकृति की शक्तियो पर काबू पाकर उन्हे अपनी इच्छानुकूल

वशवर्ती बनाना तन्त्र विद्या का प्रधान कार्य है। इस विद्या द्वारा आनन्द-दायक स्थितियाँ उत्पन्न और उपलब्ध की जा सकती हैं और उनका उप-भोग किया जा सकता है। साथ ही अपने तथा अन्यों के ऊपर आई हुई आपत्ति का निवारण किया जा सकता है। इतना ही नहीं दुष्ट और दुराचारियों के ऊपर आपत्ति का प्रहार भी किया जा सकता है। तन्त्र तुरन्त फल-दाता हैं और वह फल आश्चर्यजनक होते हैं।

एक तान्त्रिक व्याख्याता के शब्दों में विशेष रूप से गुह्य-ज्ञान के सधानों का दुरुपयोग, अतिभौतिक स्तरों की शक्ति को खींचना और मानव के भौतिक तथा आध्यात्मिक विकास के बजाय बुरे कार्यों के लिए उन्हें प्रेरित करना, रहस्य पूजा के अनिगम्भीर तात्त्विक आचार का अश्लीली-करण, आवेगमयी प्रकृति की चूड़ा पर स्थित रहते हुए आत्मा के शिखरों पर आरोहण करने के हेतु मानव द्वारा किया गया एक अत्यन्त निर्भय प्रयोग—ये शोचनीय पतन हैं। पर किसी प्रकार से भी ये इसकी विशालता इसकी सहजबुद्धि, व्यावहारिकता, और इस पद्धति की सहजात प्रमाणि-कता को कम नहीं कर सके हैं।

तन्त्र एक महान् और शक्तिशाली प्रणाली थी। यह कुछ ऐसे विचारों पर आधारित थी जिसमें कम से कम सत्य का कुछ अंश अवश्य वर्तमान था। दक्षिण और वाम-मार्ग में इसका दुहरा विभाजन भी एक गहन अनुभव से ही शुरू हुआ था। दक्षिण और वाम शब्दों के प्राचीन प्रतीकात्मक अर्थ के अनुसार यह विभाजन 'ज्ञान' और 'आनन्द' के मार्गों में था। एक में प्रकृति मनुष्य के अन्दर अपनी शक्तियों तत्त्वों शक्यताओं के यथार्थ सैद्धान्तिक और व्यावहारिक विवेक द्वारा अपने आपको मुक्त करती है, जब कि दूसरे में वह यह कार्य उसके अन्दर अपनी शक्तियों, तत्त्वों और शक्यताओं की हर्षपूर्ण सैद्धान्तिक और व्यावहारिक स्वीकृति के द्वारा करती है। किन्तु अन्त में इन दोनों मार्गों में सिद्धान्त-सम्बन्धी एक अस्पष्टता, प्रतीकों की विकृति तथा ह्रास की अवस्था पैदा हो गयी थी।"

म० म० प० गोपीनाथ कविराज ने कहा है—

वेद की भाँति तन्त्र-क्रम भी बोधात्मक और वागात्मक है। शिव मे समवेत शक्ति के दो रूप हैं—ज्ञान एव क्रिया। ज्ञानरूपिणी शक्ति, पर और अपर भेद से द्विविध है। पर-ज्ञान बोधात्मक और अपर ज्ञान वागात्मक है। वागात्मक ज्ञान शास्त्र-रूप मे प्रतिष्ठित है, बोधात्मक पर-ज्ञान, वागात्मक अपर-ज्ञान किंवा शब्द पर आरूढ होकर अर्थ प्रकाशन मे प्रवृत्त होता है। सात्वत सहिता मे परज्ञान को शिव की साक्षात् शक्ति और अपर ज्ञान को तन्त्र कहा है। विश्वसृष्टि के उन्मेषकाल मे भगवान परापर मुक्ति और मुक्ति-सम्पादन के लिए ज्ञान का प्रकाशित करते हैं। सबसे पहले परम-कारण निष्कल शिव मे अवबोध रूप ज्ञान का नादात्मक प्रसार होता है। तत नादात्मक ज्ञान सदाशिव रूप से तन्त्र किंवा शास्त्र का रूप ग्रहण करता है। इसीलिये पौष्कर आगम ने शास्त्र को नादरूप कहा है। नादरूप प्रसृत इस अवबोधात्मक विमल ज्ञान की पाँच धाराएँ हैं, अर्थात पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर एव ऊर्ध्व। निष्कल परमशिव मे वागादि इन्द्रियो की सम्भावना न होने पर भी नाद सम्भूत होता है। अयस्कान्त के लोहाकर्षण-सामर्थ्य सदृश इसे समझना चाहिये। शास्त्र शुद्ध आत्मवय का भव समुद्र से उद्धार करता है।

तन्त्र के एक प्रसिद्ध व्याख्याता विमलानन्द स्वामी ने अपनी एक पुस्तक की भूमिका मे वेदो और तन्त्रो का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए अतिशयोक्ति शैली से लिखा है कि "वेद अज्ञान के क्षेत्र मे ही चक्कर लगाते रहते है परन्तु तन्त्र कही आगे निकल जाता है। तन्त्रही मोक्ष तक पहुचने के लिए एक व्यावहारिक आचार-पद्धित प्रदान करता है परन्तु प्राचीन परम्परा मे ऐसा नही है।"

तन्त्र के बारे मे लेखक की धारणा सत्य है, परन्तु वेदो की निन्दा करके तन्त्र को श्रेष्ठ सिद्ध करने की पद्धति विद्वानो के अनुकूल नही है। तन्त्रो मे जो ज्ञान और योग का वर्णन है, वह वैदिक सिद्धान्तो से भिन्न नही है, उनका विकास मात्र है। वेदो को अज्ञान मूलक बता कर तन्त्रो को श्रेष्ठ सिद्ध करने का तर्क तो स्वीकार नही किया जा सकता परन्तु

वास्तविकता ऐसी नहीं है। तंत्र में शाक्त के अतिरिक्त वैष्णव गाणपत्य, और शैव सम्प्रदाय भी है। इसकी उपासना का मूल भी शक्ति है। अतः सिद्ध हुआ कि सभी सम्प्रदाय वाले तंत्र साधना करते हैं और सभी का मत श्रेष्ठ आलम्बन माना जाता है।

तंत्र-ज्ञान विज्ञान का भंडार है। मंत्रों का यह आकर ही समझना चाहिए। मन्त्र शास्त्र के विकास का बहुत श्रेय तन्त्रों को प्राप्त है। मन्त्र विज्ञान का जितना प्रचार प्रसार तन्त्र ने किया था, शायद ही किसी शास्त्र ने किया है। घर-घर के मंत्र साधना को क्रिया रूप देने का क्रम भी तन्त्र के माध्यम से हुआ है। मंत्रों के गुप्त रहस्यों को खोलने का कार्य भी तंत्रों ने ही किया है, उनके चमत्कारी लाभों और सिद्धियों का वर्णन भी इन्हीं में है। यदि यूं कहें कि मंत्र विज्ञान को व्यवस्थित रूप देने वाले तंत्र हैं तो इसमें कुछ भी अतिशयोक्ति न होगा।

तंत्रों में दार्शनिक तत्व भी है परन्तु अन्य दर्शन शास्त्रों की भाँति जटिल नहीं उन्हें सुबोध और सरल शैली में व्यक्त किया गया है।

सरल से सरल और कठिन से कठिन साधन प्रणाली का विधान तंत्रों में है। हर स्तर के साधक के लिए तंत्र उचित निर्देशन देता है। साधना का इच्छुक कोई भी व्यक्ति इससे निराश नहीं हो सकता। यह हर आयु के हर प्रकार की मानसिक स्थिति वाले साधक के लिए उपयुक्त है।

इतना होते हुए भी जनसाधारण में अनेकों प्रकार के भ्रम फैले हुए हैं जिनके कारण से तंत्र घृणा के पात्र हो गए हैं। कुछ ऐसी साधन प्रणालियों का वर्णन बताया जाता है जो निन्दनीय है। इसका समाधान यह है कि तंत्र सांकेतिक भाषा में लिखे गए हैं अतः उनके वास्तविक अर्थों को समझना होगा। इस ज्ञान के अभाव में ही वह निम्न कोटि के हो सकते हैं। परन्तु जब तंत्र ज्ञान का प्रकाश हो जाएगा तो इन्हें साधन पथ के सर्वोत्तम शास्त्र स्वीकार करने में भी संकोच न होगा। अतः निरपेक्ष बुद्धि से इनका अध्ययन और विश्लेषण आवश्यक है तभी कुछ निश्चित मत स्थिर किया जा सकता है। वास्तव में तंत्रों का जितना भी अध्ययन करते हैं उतना ही यह लोक-मंगल के मूलाधार सिद्ध होते हैं।

तंत्र की प्रामाणिकता

हिन्दुओ के शास्त्रो मे तन्त्र का उच्च स्थान है। कुछ विद्वान तो इसे वेग की तरह ही प्रामाण्य कहते हैं। यदि वेद तन्त्रोके कुछ विरुद्ध भी होते हो, तो भी उन्हे अप्रमाण नही समझा जा सकता। उसी तरह वैदिक सिद्धातो के कुछ विरुद्ध होने पर भी तंत्रो को अप्रमाण नही माना जाता। दोनो अपने-अपने स्थान पर प्रतिष्ठित माने जाते है। श्रीकण्ठ के शैव भाष्य मे वेद और तन्त्र के प्रमाण्य म कोई अतर पाया गया। उन्होने दोनो के निर्माणकर्ता शिव को घोषित किया है और वेद को भी शिवागम कहा है। उन्होने दोनो मे केवल इतना भेद माना है कि वेद मार्ग केवल तीन वर्णो के लिए विहित है परतु तन्त्र मे किसी के लिए कोई प्रतिबघ नहीं है उनके अनुसार—

वयं ते वेदशिवागमयोर्भेद न पश्याम वेदोऽपि शिवागम इति व्यवहारो युक्त तस्य तत्कर्तृकत्वात्। अत शिवगामो त्रैवर्णिकविषय सर्वविषयश्यचेति उभयोरेक एव शिव कर्ता। ... उभावपि प्रमाण भूतौ वेदागमो।

(श्रीकण्ठ भाष्य ८।१।३८)

अर्थात्—हम वेद और शिवागम के भेद को नही देखते हैं। वेद भी शिवागम ही है। ऐसा ही व्यवहार उचित है क्योकि वह उसी कर्त्ता का है। इसलिए शिवागम दो प्रकार का है—त्रैवर्णिक विषय वाला और सर्व विषय वाला। दोनो का एक ही शिव कर्ता है। दोनो ही प्रमाणभूत हैं— वेद और आगम।

कुल्लूकभट्ट—मनुस्मृति के एक प्रसिद्ध टीकाकार हुए है। उन्होने अपनी टीका (३।१) मे हरित ऋषि का एक वाक्य प्रस्तुत किया है जो

नवीन पुस्तकों में तो उपलब्ध नहीं होता, परन्तु विद्वानों का मत है कि कुल्लूक भट्ट प्रामाणिक टीकाकार है। प्राचीन प्रतियों में यह अवश्य होगा। वाक्य यह है—

श्रुतिश्च द्विविधा, वैदिकी तान्त्रिकी।

इस वचन के अनुसार हरित मुनि ने श्रुति को दो प्रकार का माना है—वैदिक और तान्त्रिक। इन के अनुसार तन्त्रों को भी श्रुति ही मानना चाहिए। जिस तरह वेदों को अपौरुषेय माना जाता है, उनके प्रमाण के लिए किसी सहारे की अपेक्षा नहीं रहती, उसी तरह तन्त्र भी स्वयं में प्रमाण हैं। उनकी प्रामाणिकता सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। यदि तन्त्र और वेद में कुछ मतभेद भी है तो वह अलग-अलग प्रमाण हैं। दोनों में कोई बड़ा-छोटा नहीं है।

कुछ प्राचीन आचार्य तन्त्रों को स्मृति शास्त्र के अन्तर्गत मानते हैं। शारदा तिलक तन्त्र के प्रख्यात टीकाकार राघव भट्ट की भी यही सम्मति है। वह तन्त्रों को वेद का उपासना-काण्ड मानते हैं। वह तन्त्र का प्रमाण स्वीकार नहीं करते। उनका मत है कि स्मृतियों का आधार वेद है। अतः तन्त्र का कोई स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माना जा सकता। प्रसिद्ध तन्त्र दार्शनिक भास्करराय का भी यही मत है। उन्होंने अपने मत का समर्थन करते हुए कहा है कि चूंकि ऋषि जैमिनी के 'पूर्व मीमांसा' (१।३।५) के सूत्रांश पर कुमारिलभट्ट की तन्त्र वार्तिक के अनुसार प्रेरण, न्याय, मीमांसा, धर्म शास्त्र, वेद के छः अंग और चारों वेद" ही धर्म के विषय में प्रमाण माने जाते हैं जिसमें तन्त्र को स्वतन्त्र रूप से शास्त्र की संज्ञा नहीं दी गई है। इसीलिए इसे स्मृति शास्त्र मानना चाहिए। महर्षि याज्ञवल्क्य की भी यही सम्मति है—

पुराण न्याय मीमांसा धर्म शास्त्राङ्ग मिश्रित।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥
(याज्ञवल्क्य स्मृति १।३)

अर्थात् प्रमाण—न्याय—मीमांसा—धर्मशास्त्र के अङ्ग मिश्रित-वेद ये धर्म की चौदह विद्याओं के स्थान होते हैं।

धर्म-शास्त्र के साथ सम्बन्ध होने पर भी कुछ आचाय अन्य स्मृतियो की अपेक्षा तत्र को विशिष्ट बताते हैं। उनका यह कहना है कि मनु और याज्ञवल्क्य जैसी स्मृतियाँ वेद के कर्मकाण्ड की व्याख्या है तो तत्र वेद के ब्रह्म-काण्ड की व्याख्या हैं—

"तत्राणा धर्म शास्त्रेऽन्तर्भाव"

(वरिवस्या रहस्य प्रकाश)

"तत्रो का धर्म-शासन मे अन्तर्भाव है।"

"परमार्थ तस्तु तन्त्राणा स्मृतित्वादिशेपेऽपि मन्वदिस्मृतिनामा कर्मकाण्डशेषत्व तन्त्राणा ब्रह्मकाण्ड शेपतामिति सिद्धान्तात्"

(भास्करराय प्रणीत सौभाग्यभास्कर)

"परमार्थ रूप से तन्त्रो का स्मृति के अविशेष होने पर भी मन्वादिस्मृतियो का कर्मकाण्ड शेपत्व और तन्त्रो का ब्रह्मकाण्ड शेपत्व होता है यही सिद्धात है।"

पाश्चात्य विचारो से प्रभावित कुछ विद्वान तन्त्रो को प्रमाण नहीं मानते। उनकी दलली यह है कि तत्रो की भाषा अपेक्षाकृत सरल है, अत वह प्राचीन आर्ष ग्रन्थ नही है। वास्तव मे यह कोई विशेष प्रमाण नही है। व्यास का ही उदाहरण ले ले। उन्होन वेदो को चार भागो मे विभक्त किया है। इससे उनकी उत्कृष्ट विद्वता प्रकट होती है। उन्होने वेदान्त सूत्रो का निर्माण किया। महाभारत और भागवत भी उनकी ही रचनायें मानी जाती हैं। इनकी भाषा मे अन्तर प्रतीत होता है। इसी अन्तर से यह शका उभरने लगती है कि इन ग्रथो के प्रणेता अलग-अलग व्यास हुए हैं। परन्तु वास्तविकता यह नही है। उद्देश्या के अनुकूल भाषा का परिवर्तन किया जा सकता है। विषयो के अनुसार भी भाषा सरल व गम्भीर हो सकती है। अत, भाषा की सरलता को देखकर तत्रो को अप्रमाण कहना निराधार कल्पना है। यह तो तन्त्र मे ही अनेको स्थानो पर कहा गया है कि कलियुग मे जब वेदो को समझना कठिन हो

गया है। तो के रहस्य समझाने के लिए ही तन्त्रों का आविर्भाव हुआ है।

तन्त्र साहित्य को आर्ष मानने मे स्वामी दयानन्द का "सत्यार्थ-विवेक" मे लिखा है "जिस प्रकार परमात्मा द्वारा वेद कथन सम्भव हो सकता है, उसी प्रकार उनके अंश रूप शिवभाव द्वारा तन्त्रो का होना भी सम्भव है। अपौरुषेय, अनादि अभ्रान्त और ज्ञान ज्योति पूर्ण वेद समूह जिस प्रकार जगदीश्वर परमात्मा की इच्छा से ऋचाओ के रूप मे ऋषिगण द्वारा प्रकाशित हुए थे, उसी प्रकार श्री शिव की इच्छा से उनके भक्त सिद्ध मुनिगण द्वारा तन्त्र ग्रन्थो का भी प्रकाश होना पूर्णरूपेण युक्ति युक्त है।

इस तरह से तन्त्र की प्रमाणिकता मे कोई सदेह नही रह जाता।

• • •

तंत्र की प्राचीनता

तन्त्र का आविर्भाव और पचार प्राचीन काल से होता आया है। कई विद्वान तो इन्हे वेदो जितना प्राचीन स्वीकार करते है। जिस तरह वेदो को ईश्वर कृत माना जाता है। उसी तरह तन्त्रो को भगवान शिव की रचना बताई जाती है। इससे इनकी प्राचीनता स्वत सिद्ध हो जाती है।

डा० भुवनेश्वर नाथ मिश्र माधव के अनुसार "प्राचीनता और व्यापकता की दृष्टि से वेदो के बाद तन्त्रो का ही स्थान है। यह कहना अनुचित अथवा अप्रासगिक नही होगा कि बौद्ध धम के बहुत पहले से इस देश मे तन्त्रो का प्रभाव जम चुका था। भगवान शङ्कराचार्य ने जहाँ-जहाँ मठ स्थापित किए, वहाँ-वहाँ साधना के मूलाधार के रूप मे तन्त्रो की प्रमुखता अक्षुण्ण है और कहना चाहे तो कह सकते है कि भारतीय सस्कृति की आध्यात्मिक साधनाओ का मूल प्राण-रूप मे तन्त्र अनादि काल से किसी न किसी रूप मे चले आ रहे है।"

तन्त्र के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायो के सम्बध मे अलग अलग विचार करना होगा।

वैष्णव-सम्प्रदाय

वैष्णव तन्त्रो मे पाञ्चरात्र प्रसिद्ध है। इसका दूसरा नाम 'भागवत धर्म' और 'सात्त्वत धर्म' भी है। महाभारत-मोक्ष पर्व मे 'सात्वत' विधि का वर्णन आता है—

सात्वत विधि मास्थाय गीता सङ्कर्षेण य ।
द्वापरस्य युगस्यान्ते आदौ कलियुगस्य च ॥

अर्थात् "सात्वत विधि मे समाश्रित होकर जो गति सङ्कर्षण मे

होती है वह द्वापर युग के अन्त मे और कलियुग के आदि मे होती है।"

महाभारत के शान्ति पर्व अध्याय ३३५-३४६ मे नारायणीयोपाख्यान का उल्लेख आता है जिसमे पाञ्चरात्र सिद्धात का स्पष्टीकरण दिया गया है। इसके अनुसार नारद श्वेत द्वीप में जाकर नारायण ऋषि से इसकी शिक्षा प्राप्त करते है।

ऐतरेय ब्राह्मण (८।३।१४) मे ,सात्वत' शब्द आता है—

"एतस्या दक्षिणस्या दिशिये के च सत्त्वता राजा नो भोज्यायैव ते अभिषिच्यन्ते, भोजेति एनान् अभिषिच्यन आचक्षते।"

अर्थात् "इस दक्षिण दिशा मे जो कोई सत्वत राजा थे वे केवल भोज्य के ही लिये अभिषिक्त किये जाते हैं। इन अभिषिक्तो को भोज हो ऐसा कहा जाता है।"

इस से स्पष्ट है कि पाञ्चरात्र महाभारत और ऐतरेय ब्राह्मण से पहले के ही हैं।

उत्पल ने अपनी पुस्तक 'स्पन्दकारिका मे 'पाञ्चरात्र उपनिषद्' और 'पाञ्चरात्र श्रुति' का उल्लेख किया है। वह दशम शताब्दी के हैं। अत यह उससे पहले के तो हैं ही। यमुनाचार्य ने अपनी कृति 'आगम-प्रामाण्य' मे पाञ्चरात्र सहिताओ के उदाहरण दिए हैं। वह ११ वी शताब्दी के हैं। अत इससे पहले के होने मे कोई सदेह ही नही है।

इण्डियन एन्टीक्वेरी १९११ पृष्ठ १३ के अनुसार यूनानी 'हेलिओडोरस' ने भागवत उपाधि ग्रहण की थी। इसका पता विक्रम पूर्व दूसरी शती में बेस नगर के शिलालेख से चलता है।

विदेशो मे भी प्राचीन काल से वैष्णव धर्म का प्रचार रहा है। कोई समय था जब सारे दक्षिण पूर्व एशिया मे यह धर्म छा गया था। बाली मे इस धर्म का व्यापक प्रचार था। 'विष्णु, पञ्जर' और 'विष्णु स्तव' नाम के स्तोत्र वहां के पडितो मे काफी प्रसिद्ध थे। रामायण और महाभारत का घर घर मे प्रचार है और तत्सम्बन्धी नाटको का अभिनय होता है।

कम्बोदिया मे वैष्णव धर्म व्यापक रूप से फैला हुआ था। इसका प्रमाण वहाँ के मदिरो मे आज भी देखा जा सकता है। मन्दिरो मे समुद्र-मथन का दृश्य और विष्णु लोक की स्थापना वहाँ वैष्णव धर्म के प्रसार का प्रतीक है। हाची मे विष्णु का मन्दिर था। पीकुक मे विष्णु की मूर्तियाँ मिली हैं। वहा के राजा उदयादित्य द्वितीय ने विष्णु के मदिर बनवाए थे। एगकोरवार विश्व का सबसे बड़ा मन्दिर माना जाता है। वह विशुद्ध रूप से वैष्णव मन्दिर ही था। वैष्णव काव्यो की रचना से वहा वैष्णव धर्म का विशेष प्रचार हुआ।

थाईलैंड मे बौद्ध मत की स्थापना होने पर भी वैष्णव धर्म का प्रचार रहा है। चौथी शती के सस्कृत शिलालेख तथा विष्णु की मूर्तियाँ मिली हैं। लवपुरी के मन्दिर मे विष्णु की मूर्तिया स्थापित हैं। स्याम राजा 'राम' बौद्ध था परन्तु फिर भी उसने विष्णु की मूर्तियो की स्थापना कराई थी। वहाँ के राज सिंहासन पर भगवान विष्णु की गरुडारूढ मूर्ति है। बकाक के मन्दिर के बाहर विष्णु की मूर्तिया हैं।

जावा मे विष्णु के अवतार 'राम' के प्रति इतनी श्रद्धा थी कि उन्हे वह विदेशी नही मानते थे, वरन् राम की जन्म भूमि जावा ही मानते थे। राम कथा का प्रचार वहाँ घर-घर मे था। पाचवी शती के राजा 'पूर्ण वर्मन' के वैष्णव होने का पता चलता है। एक अन्य अभिलेख मे विष्णु के चक्र, शख, गदा पद्म का वर्णन है। श्री विजय साम्राज्य के शैलेन्द्र राजाओ ने एक विशाल मन्दिर का निर्माण कराया था जिसमे विष्णु की मूर्ति स्थापित थी।

इण्डोशिया मे रामायण और महाभारत का अच्छा प्रचार था। वहाँ की नृत्य नाटिकाओ मे इनकी कथाओ को ही आधार बनाया जाता था।

चम्पा मे भी वैष्णव धर्म का प्रचार था। विष्णु पत्नी लक्ष्मी वहाँ की मान्य देवी है। विष्णु वाहन गरुड की भी वहाँ अच्छी मान्यता है। विष्णु को वहाँ गोविन्द, नारायण, हरि और पुरुषोत्तम नामो से स्मरण किया जाता है।

मलाया मे विष्णु मन्दिरो की स्थापना हुई थी। वहाँ के साहित्य में विष्णु कथाएँ प्रचुरता से उपलब्ध होती हैं। वहा विष्णु की मूर्तियो के चार हाथ पैरो में शख, चक्र, गदा, और पद्म हैं ।

वर्मा मे भी विष्णु की मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं। वैशाली के चन्द्र वश के राजा आनन्द चन्द्र की मुद्राओ पर भगवान विष्णु के चित्र खडे हुए हैं । पजाब मे विष्णु की मूर्तिया उत्कीर्ण हैं ।

विष्णु ने कच्छप मे अवतार धारण किया था । जापान मे ब्रह्मा का रूप, कच्छप जैसा माना जाता है । चीन मे कच्छप को ईश्वर का चित्त माना जाता था । (Myths of China& Japan)के अनुसार वहाँ कच्छप-अस्थि राजकीय चिन्हो के प्रयोग मे आती थी ।

विष्णु का मत्स्य अवतार भी है । मिस्र मे इसे पवित्रता व पुरुष की जननेन्द्रिय का प्रतीक माना जाता था । वहा की माता 'आइसिस' की मूर्तियो के सिर पर विश्व की जनन-शक्ति के प्रतीक मे मत्स्य की स्थापना की जाती थी । सुमेर की यूफ्रेट्स नदी के किनारे पर वसे 'ऐ रिद्' नगर क 'या' देवता की आकृति 'मत्स्य' जैसी थी ।

विष्णु के वाहन गरुड हैं । सुमेर मे गरुड की तरह ही 'जू' पक्षी की उपासना की जाती थी । भारतीय पुराणो मे कथा आती है कि गरुड पेडो}को लेकर उड जाता था वैसे ही 'जू' पक्षी भी सृष्टि के प्रस्तर लेख (टबलट्स आफ क्रिस्शन) लेकर उड गया था । महाभारत मे इन्द्र और गरुड के युद्ध की कथा आती है । इन्द्र विद्युत के देवता माने जाते हैं । सुमेर मे विद्युत के देवता 'रम्मन' और 'जू' पक्षी के युद्ध का वर्णन आता है ।

उपरोक्त उदाहरणो से वैष्णव धर्म की प्राचीनता सिद्ध होती है ।

शैव सम्प्रदाय

शिव या रुद्र की आराधना यहाँ वैदिक काल मे ही चली आ रही है वामन पुराण (६।८६।६१) मे चार शैव सम्प्रदायो—शैव, पाशुपत काल दमन, तथा कापालिक का वर्णन है । पाशुपत के एतिहासिक सस्थापक

का नाम नकुलीश अथवा लकुलीश बताया जाता है। एतिहासिकों ने लकुलीश का समय १०५ ई० के लगभग सिद्ध किया है। इसी समय कुषाण नरेश हुविष्क राज्य करते थे। उनके सिक्कों पर लकुटधारी शिव के चित्र उत्कीर्ण उपलब्ध होते हैं। शैव सिद्धांत मत का दक्षिण मे बहुत प्रचार है। इसके व्यापक प्रचार का श्रेय चार सन्तो—सन्त अप्पार, सत ज्ञान सम्बन्ध, सन्त सुन्दर मूर्ति और सन्त माणिक्क वाचक को है। प्रचारक सन्तो मे ८४ का नाम आता है। इनमे से प्रथम सन्त नक्कड पहली शती के, दूसरे सन्त कण्णप्प दूसरी शती के बतलाए जाते हैं। कश्मीर मे प्रचलित शैव दर्शन को "प्रत्यभिज्ञातन्त्र" कहा जाता है। इसके मूल प्रवर्तक वसुगुप्त का समय ८०० ई० के लगभग बताया जाता है। वसुगुप्त के एक शिष्य कल्लट नवम शती के उत्तरार्द्ध के हैं। इस मत के प्रसिद्ध दार्शनिक अभिनवगुप्त ९५०—१००० ई के बताए जाते हैं।

भारतीय सस्कृति के मूल ग्रन्थो—वेद, आरण्यक और उपनिषद् आदि मे तो प्राचीन काल से ही शिव का वर्णन आता है। यजुर्वेद के १६ वें अध्याय के ६६ मन्त्रो मे शिव के विभिन्न प्रचलित रूपो का विशद वर्णन मिलता है। तैत्तिरीय आरण्यक (१०।१६) मे रुद्र दर्शन का स्पष्टीकरण है।

"सर्वो वै रुद्र तस्मै रुद्राय नमो अस्तु"

अर्थात् "सभी रुद्र हैं अत॰ उस रुद्र के लिये नमस्कार है।"

रुद्राक्षजाबालोपनिषद् मे रुद्र के प्रिय आभूषण रुद्राक्ष की उत्पत्ति आदि का वर्णन है। दक्षिणामूर्त्युपनिषद् मे महर्षि मार्कण्डये ने शौनकादि ऋषियो को चिरन्जीवी होने के लिए शिव तत्व का उपदेश दिया है। शरयोपनिषद् मे शिव को सब का प्रभु, श्रेष्ठ, पिता, परमेश्वर, ब्रह्मा का भी धारण कर्ता, वेदो का निर्णायक, और देवताओ का पिता कहा है—

प्रभु वरेण्य पितर महेश यो ब्रह्माण विदधाति तस्मै।वेदाश्च सर्वान्प्रहिणोति चाग्र्य त वै प्रभु पितर देवतानाम् ॥ २ ॥

रुद्रोपनिषद् मे ब्राह्मण की कसौटी यह बताई है कि जो शिव की पूजा में लगा रहे।

'ब्राह्मण शिव पूजरता"

कालाग्नि रुद्रोपनिषद्मे त्रिपुण्डका विधि विधान लिखा गया है। नील रुद्रोपनिषद मे नीलकंठ भगवान का वर्णन है। रुद्र हृदयोपनिषद् मे शुकदेव के पूछने पर व्यासजी ने कहा कि भगवान रुद्र मे भव-देवता निवास करते हैं—

सर्वदेवात्मको रुद्र सर्वे देवा शिवात्मका. ।

अथर्व उपनिषद् मे शिव-दर्शन का उल्लेख करते हुए स्वय शिव ने कहा कि 'मैं एक हूं। मैं भूत वर्तमान और भविष्य काल मे हूँ। मेरे अतिरिक्त कही कुछ भी नही है"—

सोऽब्रवीदहमेक प्रथम मास वर्तामि च भाविष्यामि च मान्य कश्चित्मत्तो व्यतिरिक्त इति ।

श्वेताश्वतरोपनिषद् (३।२) मे कहा है कि जो अपनी शक्तियो से सब लोको पर प्रभुत्व रखता है, वह रुद्र एक ही है—

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्तु
ये इमाँल्लोकानीशत ईशनोभि ।

अर्थात् "रुद्र एक ही है उसका कोई दूसरा रूप नही है जो इन लोको का ईश होता है और ईश जी शक्तियो से शाशन किया करता है।"

पांच मुख वाले सद्योजात—शिव की भावना की जाती है। बौद्धो ने वज्र सत्व, रत्नसम्भव, अमिताभ, अमोघसिद्ध तथा वैरोचन पांच ध्यानी बुद्धो और मञ्जुश्री, अवलोकतेश्वर, वज्रपाणि आकाशगर्भ, क्षिति-गर्भ, मैत्रेय, सामन्तभद्र आदि बोधि सत्वो की कल्पना की गई। देवताओ की कल्पना के साथ उनकी पूजा के विधि विधान और यन्त्र भी बनाए। तन्त्र की तरह मत्र जप, मडल रचना, उपचार, अभिषेक, वीजभरस, मुद्रा प्रदर्शन, ध्यान आदि का विस्तृत विधि विधान उपलब्ध होता है। बौद्धो के मत्र भी सस्कृत के होते हैं।

विदेशो में भी शिवोपासना प्राचीनकाल मे फली हुई थी। रुद्र को यजुर्वेद ३५।८ मे त्र्यम्ब कहा गया है—

अब रुद्रमदीमह्यव देव त्र्यम्बकम् । यथा नो वस्यसस्कर-द्यथा न श्रयसस्करद्यथा नोव्यवसायय।त् ।।

पापियो को सतप्त करने वाले, तीन नेत्र वाल अथवा जिनके नेत्र से तीन लोक प्रकाशित होते है, शत्रु-जेता प्र शियो म ग्रात्मा क रूप मे विद्यमान एव स्तुत रुद्र को अन्य देवताओ स प्रथक अथवा उत्कृष्ट जान-कर उन्हे यज्ञ भाग देते हैं। वे हमे श्रेष्ठ निवास से युक्त करें और हमे समान मनुष्यो मे अच्छे बनावें और हमे श्रेष्ठ कर्मो म लगावें। इसलिए हम इनको जपते हैं।"

मिश्र के दवता 'असरग्रा' अथवा 'ग्रामाथरिम' को भी 'त्र्यम्बक' की सज्ञा दी गई थी।

पुराणो मे रुद्र की पहली पत्नी दक्ष पुत्री सती का नाम आता है। मिस्र के प्राचीन देवता 'एनुमु' की पत्नी का नाम भी 'सती था' जो आकाश देवी मानी जाती थी। सर्प शिव का प्रसिद्ध आभूषण हैं। अथव वेद मे पृथ्वी को दिव्य सर्पों से घिरा हुआ बताया गया है। चीनी धार्मिक कथाओ मे भी ऐसा ही वर्णन आता है।

काठमाडू का पशुपतिनाथ का मन्दिर नेपालियो के लिये वाराणसी है। यहाँ साढ़े तीन फीट ऊँचा शिवलिंग स्थापित है। इससे अनको कथाएँ सम्बद्ध हैं। एक कथा के अनुसार कहा जाता है कि ब्रह्मा ने महादेव को कैलाश पर काफी सख्या मे गाये दी थी, तभी से उनका नाम पशुपतिनाथ पडा। यही पर ही वागमती का प्रवाह दिखाई देता है जो दो पहाडियो के बीच बहती है—एक का नाम मृगस्थली है और दूसरी का कैलाश है। पशुपतिनाथ के प्रति नेपाल मे अपार श्रद्धा है। लाखो की सख्या मे यात्री हर वर्ष उनके दर्शन के लिये आते हैं, जिनमे भारत के यात्री भी सम्मिलित होते हैं। यहाँ जगह-जगह पर शिव-मन्दिर हैं। पर्वतो का नामकरण भी शिव के आधार पर है जैसे कैलाश पर्वत, शिवपुरी पर्वतमाला आदि। शिव की जटाओ से निकलने वाली गगा के प्रति यहाँ गहरी आस्था है। यह भूमि सती पार्वती की क्रीडा-

स्थली और शिव का तपोम्यन रही है । इसलिए इसके वातावरण मे शिव-ही-शिव गूंजत हैं ।

प्राचीन काल मे कम्बुज हिन्दू राष्ट्र था । भारतीयो ने वहाँ अपना उपनिवेश स्थापित किया था । वहाँ के आकाश मे हिन्दुत्व की ध्वनि गूँजती थी । वहाँ क शरीग तो हिन्दुत्व की सजीव मूर्ति थे ही, उनकी भावनाएँ मन व बुद्धि भी हिन्दुत्व के रग मे रँगे हुए थे । उनके रीति, रिवाज, विश्वास व परम्पराएँ भी हिन्दुत्व से ओत-प्रोत थी। वहाँ के प्राचीन इतिहास से हमारा सिर ऊँचा उठता है, एक अद्भुत गौरव की अनुभूति होती है ।

कम्बुज की राजधानी श्रेष्ठपुर में श्रुत वर्मा ने भदेश्वर शिव का मन्दिर बनवाया था । श्याम की सीमा पर त्र्यम्बकेश्वर महादेव की स्थापना को श्रेय भववर्मा को है । यह नासिक के त्र्यम्बकेश्वर महादेव मे मिलता है । हर्ष वर्मा द्वितीय ने मेवन मे शकर और पार्वती के मन्दिर बनवाये थे । सूय वर्मा प्रथम ने शिवकपिलेश्वर का विशाल मन्दिर निर्मित कराया था उदयादित्य द्वितीय ने भी शिव मन्दिरो के निर्माण का कार्य कराया था । वेथोन में भगवान शिव के विषपानादि की मूर्तियाँ उपलब्ध होती हैं । वहाँ के नगर भी शिव के नाम पर हैं—जैसे शम्भुपुरी । हरिहरालय तो वहाँ की राजधानियो मे ही रही है ।

कम्बुज की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में एक गाथा है कि प्राचीन काल मे एक आर्य राजा कम्बु स्वम्भू यहाँ आए । वह शिव का अनन्य उपासक था । शिव की कृपा से उसे मीरा नाम की स्त्री प्राप्त हुई । उसकी मृत्यु पर उसे बहुत दु ख हुआ । एक भयकर स्थान मे उसने चारो ओर नागो से घिरा हुआ देखा । उन्हें मारने के लिये उसने तलवार उठाई तो नागराज ने कहा कि हम और तुम तो एक देव के उपासक हैं । हम तुम्हे नही काट सकते । तुम प्रसन्नता पूर्वक यहाँ निवास करो । कम्बुज का विवाह नागराज की कन्या से हुआ था । उसने अनेको शिव-मन्दिर बनवाये थे ।

सोम शर्मा ने विधि-विधान सहित त्रिभुवनेश्वर की प्रतिष्ठापना कराई थी। राजा महेन्द्र वर्मा शैव था। एक शिलालेख मे शिव-पद के दान का वर्णन है।

बाली मे शिव और बुद्ध दोनो की पूजा होती है। इसलिए वहाँ के ब्राह्मण-वर्ग दो भागो मे विभक्त है। शिव पूजन कर पाँच भागो मे बैठे हुए हैं। शैव धर्म वहाँ व्यापक रूप मे फैला हुआ है। वहाँ बुद्ध को शिव का छोटा भाई मानते हैं। जब कोई धार्मिक आयोजन होता है तो वहाँ ४ शैव पुरोहित और एक बुद्ध पुरोहित बुलाया जाता है। उमा की भी वहाँ अच्छी मान्यता है। सूर्य सेवन वहाँ की प्रधान पूजा मानी जाती है। वह शिव की ही पूजा है न कि सूर्य की। यहाँ शैव व तान्त्रिक क्रियाओ का प्रचलन है। उनका इष्ट मन्त्र है—"ॐ महादेवाय नम" तथा "ॐ शिवाय नम"। शरीर शुद्धि का मन्त्र है—"ॐ प्रसाद स्थित शरीर-शिव-शुचि-निमालय नम"। वह प्रत्येक अंग पर भस्म धारण करते हैं। जिस प्रकार यहाँ पर गणेश आदि की मूर्तियाँ व चित्र द्वारो पर देखे जाते हैं, उसी प्रकार से यहाँ के द्वारो पर शिव आदि देवताओ के दर्शन होते हैं। वहाँ के ग्राम ग्राम मे ब्रह्मा और विष्णु के साथ शिव की मूर्तियो की प्रतिष्ठापना है। प्रत्येक घर मे वह चित्र रूप मे विद्यमान है। शिव की जटाओ से निकलने वाली पवित्रतम नदी गगा के प्रतीक रूप मे वहाँ तीर्थ गगा नाम से एक तालाब है जिसके जल को वह पवित्र मानते हैं। गगा के प्रति गहरी आस्था का प्रतीक वहाँ का भूतपिशाच नृत्य है। इसमे दैवी नृत्य करने वाला अपने शरीर मे भाला मार देता है जिसे शक्तिशाली व्यक्ति भी निकालने मे असमर्थ रहता है। परन्तु मन्दिर का पुजारी 'हे गगा-हे गगा' कहता हुआ आता है और कुछ मन्त्रो के उच्चारण से, गगा-जल से उसे छीटा देता है। भाला निकल जाता है और गगा-जल का ही लेप कर देने से वह घाव अच्छा हो जाता है। यह भावुकता नहीं है। एक भारतीय यात्री श्री के० के०

आलमेल की आँखों देखी घटना है। इस सम्बन्ध मे एक लेख 'धर्मयुग' मे छपा था।

लाओस की वन्य जातियाँ और आदिवासी शिव को अपना आराध्य देव मानते हैं। वहाँ के किसान भी इन्हें अपना इष्टदेव मानते हैं। हर वर्ष जब वर्षा का आरम्भ होता है और खेतो मे हल चलाने की आवश्यकता अनुभव होती है तो वह लोग लिंग-पूजा के रूप मे एक महान् उत्सव मनाते हैं। जिस तरह से भारत मे प्रत्येक शुभ कार्य को ईश्वर की आराधना से आरम्भ किया जाता है ताकि उसमे सफलता प्राप्त हो, लाओस के किसान लिंग-पूजा करके अपने कार्य का शुभारम्भ करते हैं ताकि कल्याण के देवता शिव उनको अच्छी खेती करने मे सहायक सिद्ध हों। उनकी धारणा शक्ति फल लाती है तभी हजारो वर्षो से वह इस प्रथा को चलाते आ रहे हैं। आज भी यह प्रथा वहाँ जीवित-जाग्रत है। वह लोग इसे अपना जीवन साथी बनाए हुए हैं।

थाईलैण्ड और भारत मे प्राचीन सांस्कृतिक सम्बन्ध हैं। शिवोपासना का वहाँ व्यापक प्रचार था। चौथी शती के एक संस्कृत शिलालेख मे शिव की मूर्ति उपलब्ध हुई है। लवपुरी के मन्दिर मे शिव की मूर्ति स्थापित है। थाई का राजा राम बौद्ध धर्मावलम्बी था परन्तु फिर भी उसने शिव की मूर्तियो की स्थापना कराई थी। बकाक के वाट (मन्दिर) के बाहर शिव लिंग और नन्दी की मूर्तियाँ हैं। आज भी भगवान शिव की मूर्ति उच्च न्यायालय के सामने स्थापित है जिनकी जटाओ मे गगा की विमल धारा प्रवाहित हो रही है। स्याम की सीमा पर एक शिव लिंग मिला है जिसकी पीठिका पर लेख के देखने से पता लगता है कि भव वर्मा ने त्र्यम्बकेश्वर शिवलिंग को प्रतिष्ठापित किया था। 'अयुध्या' मे खड़ी एक शिव की मूर्ति मिली है।

संजय वंश का भी राज्य रहा है, जो शैव मतावलम्बी थे। वहाँ के मन्दिरो मे विष्णु और ब्रह्मा की मूर्तियो के साथ शिव की मूर्तियाँ

भी उपलब्ध होती हैं। वहाँ के साहित्य मे अन्य देवताओ के साथ शिव व नन्दी की कथाएँ प्रचुरता से मिलती हैं। गगा पर वहाँ के निवासियो की अपार श्रद्धा है। वहाँ के शिव त्रिशूलधारी हैं। गणेश हाथी की सूँड से सुसज्जित हैं। ७३२ ई० के एक सस्कृत के शिलालेख से स्पष्ट है कि मतरम के राजा सजय ने कुँजर कुञ्ज मे एक शिवलिंग की स्थापना की थी।

शिव की उपासना का अन्त मलाया मे कैसे हुआ, इसका उल्लेख करते हुए श्री रघुनाथसिंह ने लिखा है कि "शिव को कुरान वर्णित हजरत सुलेमान के समकक्ष लाया गया। अल्लाह और कुरान का अस्तित्व पृथ्वी की रचना के पहले माना गया। कालान्तर मे शिव को एक मूर्ति-पूजक जिन का रूप दिया गया, अर्थात् शिव से अल्लाह नाराज हैं क्योकि वह प्रतिमा-पूजक हैं। मूढ जनता ने इसे ही सत्य समझा। सुलेमान तथा शिव दोनो को समकक्ष समझने के स्थान पर सुलेमान को अल्लाहका प्रेमी और शिव को द्रोही बना दिया। द्रोही की कौन पूजा करेगा? शिव को जनता भूल गई।"

बर्मा मे शिव के कैलाश को भी ग्रहण किया गया है। वैशाली के चन्द्र वश के राजा आनन्दचन्द्र की मुद्राओ पर शिव की प्रतिमायें उत्कीर्ण हैं। बर्मा निवासी बौद्ध और हिन्दू मत दोनो को मानते थे। शैव मत भी वहाँ प्रचलित था।

हिन्द चीन पर १५०० वर्ष तक हिन्दुओ का राज्य रहा है। यहाँ के कुछ उपलब्ध शिलालेखो से पता चलता है कि उपनिषद् की हेमवती उमा और महेश्वर की पूजा का प्रचार यहाँ काफी था। शिव यहाँ महादेव, शिव, देव लिंगेश्वर, धर्म लिंगेश्वर, पशुपति आदि नामो से पूजे जाते थे। इन दिनो भी वहाँ के साहित्य मे शिव-पुराण और लिंग-पुराण की कथाएँ पाई जाती हैं।

जापानी विद्वान् 'तकाकसू' ने अपनी एक पुस्तक मे लिखा है, कि जापान के आईस नगर मे लिंग-पूजन होता है।

प्राचीन काल में लका भारत का एक अग रहा है। वहाँ भी शिव-लिंग की उपासना प्रचलित है।

जावा के कुञ्जर कुञ्ज भाग मे शैव-मन्दिर स्थापित है। एक अभिलेख में त्रिनेत्रधारी शिव के समान देवता खडे प्रार्थना कर रहे हैं, जिनके मस्तक पर चन्द्रमा शोभायमान है। उन्हे चमत्कारो के केन्द्र, श्रेष्ठता के प्रतीक, सृष्टि के रचयिता, स्वर्ण शरीर वाले, पापो के नाश करने वाले, ससार के नियम बनाने वाले, धर्म के उद्गम केन्द्र, भौतिक सुख, शान्ति व इच्छाओ की पूर्ति करने वाले बताया गया है। इससे स्पष्ट है कि जावा मे शैव मत का प्रचार था और भगवान् शिव के प्रति उनकी दृढ आस्था थी।

मगोलिया के मन्दिरो की छतो पर नागो के चित्र अकित हैं। मन्दिरो पर भारतीयता की स्पष्ट छाप है। शिव की जटाओ मे निकलने वाली गगा के प्रति वह लोग अटूट आस्था रखते हैं। इसे दिव्य नदी मानते हैं और उसके जल को साक्षात् अमृत। उनके कोई पूर्वज भारत आकर गगा-जल ले गए थे और उसकी एक-एक बूँद को उन्होने अपनी चाय मे मिला लिया। उस गगा-जल मिश्रित चाय का कुछ अश वह नित्य बचाकर रख देते हैं और चाय बनाकर उसमे मिलाकर पीते हैं। इस तरह से सैकडो वर्षो से वह गगा-जल मिश्रित चाय पीते हैं। डा० रघुवीर जब मगोलिया गए तो यह जानने पर कि यह भारत से आए हैं, लोग झुककर उनके चरण छूते थे और कहते थे "आप गगा के देश के पूज्य ब्राह्मण हैं। हमारे बडे भाग्य हैं जो हमारी भूमि मे आपके चरण पडे हैं।"

तिब्बत भारत का पडोसी देश है। इसकी भाषा, सस्कृति भारत से प्रभावित थी। जब बौद्ध धर्म भारत मे तीव्र गति से फैला और बौद्ध प्रचारक एशिया के अन्य देशो मे भी प्रचारार्थ गये तो सारे

देश ने इनका स्वागत किया। इससे पहले 'बोन' धर्म था जो वैदिक-शैव सम्प्रदाय का बिगडा हुआ रूप था, जिसमे जादू-टोने आदिका बाहुल्य था। तिब्बत-सम्राट ने नालन्दा विश्व-विद्यालय के आचार्य शांतरक्षित को बौद्ध धम के प्रचार के लिए बुलवाया, परन्तु प्रकृति ने उनका साथ न दिया। प्राकृतिक उपद्रवो के कारण उनका आगमन सदेहास्पद प्रतीत होने लगा। अत आचार्य पद्मसम्भव को निमन्त्रित किया गया, जो एक योग्य भारतीय तान्त्रिक थे। तिब्बत मे इनका इतना ऊँचा स्थान है कि वहाँ के लोग उन्हे सदेह अमर मानते हैं। लामा धर्म के चलाने वाले यही थे।

ऐसा भी कहा जाता है कि विक्रम विश्व-विद्यालय मे अवलोकितेश्वर का मन्दिर था जहाँ और तान्त्रिक देवी-देवताओ के भी मन्दिर थे, जिनकी सख्या ५३ बताई जाती है। तिब्बत मे वज्रयान का प्रवेश यही से हुआ।

तन्त्र का प्रवेश तिब्बत मे कब हुआ? इसके बारे मे अनेको मत है। ऐतिहासिको का कहना है कि श्री चक्रसम्भार नाम गुरुओ की परम्परा का अवलोकन करने से प्रतीत होता है कि अनुमानत ई० ६६३ के समय वहा शाक्य सम्प्रदाय की स्थापना हुई होगी।

विक्रम शिला के तान्त्रिक आचार्य दीपकर श्रीज्ञान ने तिब्बत में आकर अनेको भारतीय पुस्तको का तिब्बत की भाषा मे अनुवाद किया था। तिब्बत मे तन्त्र को ऋग् युद् कहा जाता है। इसके ८७ भाग बताए जाते हैं, जिनमे उपासना, पद्धति, मन्त्र, कवच, स्तोत्र आदि का विस्तृत विवेचन है।

यहाँ शिव-शक्ति का प्रतिनिधित्व करने वाली अर्धनारीश्वर जैसी मूर्तियाँ तिब्बत मे उपलब्ध होती है, जिन्हे यव्-युम् कहते है।

तान्त्रिक बौद्धो के प्रमुख यन्त्र "ॐ मणि पद्मे हुम्" की वहाँ विशेष प्रकारसे उपासना होती है। मन्त्र-जपका माध्यम वहाँ एक चरखी होती है जिस पर हजारो की सख्या मे मन्त्र लिखे रहते हैं। उसको लामा घुमाते

रहते हैं। लामाओं द्वारा वर्णों के इस प्रकार घुमाने को ही मन्त्र-जप माना जाता है।

स्वयं तिब्बत में भी योग्य तांत्रिक सिद्ध हो गए हैं। वे प्रकाशहीन गुफाओं में एकान्तवास करके घोर तपश्चर्यायें करते थे। इनके एकान्त-वास की अवधि २०–४० वर्ष की होती थी। तिब्बत के एक सिद्ध तांत्रिक जे-चुन्-रे-पा के एकान्तवास का वर्णन डा० स्वेन हेडिन ने अपनी पुस्तक 'ट्रान्स हिमालय' में किया है। उन्होंने यह भी लिखा था कि १८०६-७ ई० में वहाँ तीन-चार सौ एकान्तवासी तपस्वी थे, जिनके गुफाओं में प्रविष्ट होने पर सदैव के लिए द्वार बन्द कर दिये गये। केवल एक छिद्र से उन्हें भोजन दिया जाता था।

जब से चीन का साम्राज्य तिब्बत में हुआ, ऐसे केन्द्रों का विध्वंस होना स्वाभाविक ही है।

काबुल के तीर्थों के नाम से ही पता चलता है कि वहाँ कभी शिव के उपासक काफी संख्या में अवश्य रहते होंगे। दर्रा शक्कर या शक्कर में स्थित मानसरोवर है। लोगार के पास वाण-गंगा है। ताशकुर्गान और एवक के बीच 'चक्र आव' नाम से शिवजी का चश्मा है। सराय ख्वाजा के पास कलाम नगर में जटाचक्र है।

अरब में काफी संख्या में शिवलिंग मिले हैं। यह शिवलिंग इतने बृहत्काय होते थे कि इन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना भी एक समस्या होती थी। यही कारण है कि शिवोपासना के प्रति आस्था न रहने पर भी वे शिवलिंग आज भी उपस्थित हैं और इन्हें दूसरे नाम से पूजा जाता है और ऐसा कहा जाता है कि मक्का शरीफ में "संग-ए-असवद" नामक शिवलिंग को हज पर जाने वाले यात्री बड़ी श्रद्धा से चूमते हैं।

दक्षिण अमेरिका के पेरू राज्य में शिवलिंग मिले हैं। ब्राजील में खण्डहरों से शिव की प्रतिमाएँ मिली हैं। मेक्सिको नगर में गोल, दो मुखे शिवलिंग उपलब्ध हुए हैं।

देश ने इनका स्वागत किया। इससे पहले 'बोन' धर्म था जो वैदिक-शैव सम्प्रदाय का बिगड़ा हुआ रूप था, जिसमे जादू-टोने आदिका बाहुल्य था। तिब्बत-सम्राट ने नालन्दा विश्व-विद्यालय के आचार्य शांतरक्षित को बौद्ध धम के प्रचार के लिए बुलवाया, परन्तु प्रकृति ने उनका साथ न दिया। प्राकृतिक उपद्रवो के कारण उनका आगमन संदेहास्पद प्रतीत होने लगा। अत आचार्य पद्मसम्भव को निमन्त्रित किया गया, जो एक योग्य भारतीय तान्त्रिक थे। तिब्बत मे इनका इतना ऊँचा स्थान है कि वहाँ के लोग उन्हे सदेह अमर मानते हैं। लामा धर्म के चलाने वाले यही थे।

ऐसा भी कहा जाता है कि विक्रम विश्व-विद्यालय मे अवलोकितेश्वर का मन्दिर था जहाँ और तान्त्रिक देवी-देवताओ के भी मन्दिर थे, जिनकी सख्या ५३ बताई जाती है। तिब्बत मे वज्रयान का प्रवेश यही से हुआ।

तन्त्र का प्रवेश तिब्बत मे कब हुआ ? इसके बारे में अनेको मत हैं। ऐतिहासिको का कहना है कि श्री चक्रसम्भार नाम गुरुओ की परम्परा का अवलोकन करने से प्रतीत होता है कि अनुमानत ई० ६६३ के समय वहा शाक्य सम्प्रदाय की स्थापना हुई होगी।

विक्रम शिला के तान्त्रिक आचार्य दीपकर श्रीज्ञान ने तिब्बत मे आकर अनेको भारतीय पुस्तको का तिब्बत की भाषा में अनुवाद किया था। तिब्बत मे तन्त्र को ऋग् युद कहा जाता है। इसके ८७ भाग बताए जाते हैं, जिनमे उपासना, पद्धति, मन्त्र, कवच, स्तोत्र आदि का विस्तृत विवेचन है।

यहाँ शिव-शक्ति का प्रतिनिधित्व करने वाली अर्धनारीश्वर जैसी मूर्तियाँ तिब्बत मे उपलब्ध होती है, जिन्हे यब्-युम् कहते है।

तान्त्रिक बौद्धो के प्रमुख यन्त्र "ॐ मणि पद्मे हुम्" की वहाँ विशेष प्रकारसे उपासना होती है। मत्र-जपका माध्यम वहाँ एक चरखी होती हैं जिस पर हजारो की सख्या मे मन्त्र लिखे रहते हैं। उसको लामा घुमाते

रहते हैं। लामाओ द्वारा चरखी को इस प्रकार घुमाने को ही मन्त्र-जप माना जाता है।

स्वय तिब्बत मे भी योग्य तान्त्रिक सिद्ध हो गए हैं। वे प्रकाशहीन गुफाओ मे एकान्तवास करके घोर तपश्चर्यायें करते थे। इनके एकान्तवास की अवधि २०–४० वर्ष की होती थी। तिब्बत के एक सिद्ध तान्त्रिक जे-चुन्-रे-पा के एकान्तवास का वर्णन डा० स्वेन हेडिन ने अपनी पुस्तक 'ट्रास हिमालय' मे किया है। उन्होने यह भी लिखा था कि १७०६-७ ई० मे वहाँ तीन-चार सौ एकान्तवासी तपस्वी थे, जिनके गुफाओ मे प्रविष्ट होने पर सदैव के लिए द्वार बन्द कर दिये गये। केवल एक छिद्र से उन्हे भोजन दिया जाता था।

जब से चीन का साम्राज्य तिब्बत मे हुआ, ऐसे केन्द्रो का विध्वस होना स्वाभाविक ही है।

काबुल के तीर्थों के नाम से ही पता चलता है कि वहाँ कभी शिव के उपासक काफी सख्या मे अवश्य रहते होगे। दर्रा शक्कर या शकर मे स्थित मानसरोवर है। लोगार के पास वाण-गगा है। ताशकुर्गान और एवक के बीच 'चक्र आव' नाम से शिवजी का चश्मा है। सराय खाजा के पास कलाम नगर मे जटाशकर है।

अरब मे काफी सख्या मे शिवलिंग मिले हैं। यह शिवलिंग इतने वृहत्काय होते थे कि उन्हे एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना भी एक समस्या होती थी। यही कारण है कि शिवोपासना के प्रति आस्था न रहने पर भी वे शिवलिंग आज भी उपस्थित हैं और उन्हे दूसरे नाम से पूजा जाता है और ऐसा कहा जाता है कि मक्का शरीफ मे "सग-ए-असबद" नामक शिवलिंग को हज पर जाने वाले यात्री बडी श्रद्धा से चूमते हैं।

दक्षिण अमेरिका के पेरू राज्य मे शिवलिंग मिले हैं। ब्राजील में खण्डहरो से शिव की प्रतिमाएँ मिली हैं। प्रेम्ब्रूको नगर मे गोल, दो मुखे शिवलिंग उपलब्ध हुए हैं।

मिश्र मे 'असिरिस' और 'आईसिस' नामक शिवलिंग की पूजा की प्रथा है। शिव की तरह 'असिरिस' व्याघ्र-चर्म ओढ़े हुए हैं, गले व मस्तक पर सर्प लिपटे हुए हैं। उनका वाहन एपिस नाम का बैल है। उसके पूजन मे विल्व पत्र को तरह के ही एक पेड के पत्ते काम मे आते हैं।

यूनान मे 'वेसक' और 'प्रियेसस' नामक लिंग की उपासना होती है।

प० माधवाचार्य शास्त्री के अनुसार उत्तरी अफ्रीका की अरब जातियो मे, इटली की राजधानी रोम, स्काटलैंड के ग्लासगो नगर मे, नार्वे, स्वीडन, आस्ट्रिया, हगरी, रूम, असिरिया के विलन मे भी शिव-लिंग की पूजा होती है।

इस तरह से कल्याण के प्रतीक शिव की सारे विश्व मे व्यापक रूप से उपासना होती है, जा उनकी प्राचीनता का प्रतीक है।

शाक्त सम्प्रदाय—

शाक्त तन्त्रो का विशाल साहित्य है। इनकी सख्या हजार से ऊपर बताई जाती है, परन्तु बहुत कम ही अभी प्रकाश मे आ पाए हैं। शक्ति-उपासना वैदिक काल से ही चली आ रही है। वेद मे शक्ति-उपासना का निर्देश है। 'अदिति' को मातृभाव का प्रतीक माना गया है (ऋग्वेद १।१२।१२३)। उसे गन्धर्व, मनुष्य, पितर, असुर और सम्पूर्ण भूतो की माता घोषित किया गया है। ब्राह्मण और आरण्यक काल मे भी यह विद्यमान थी। उपनिषद्-काल मे इसकी उपासना स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। काली, तारा, सविता, देवी, त्रिपुरा, त्रिपुरा-तापिनी, बह्वृच, सौभाग्यलक्ष्मी, कौल, अरुणा, अद्वैतभाव, सरस्वती हृदय, भावना आदि उपनिषदो मे शक्ति-उपासना का उद्घोष मिलता है। पौराणिक साहित्य मे तो प्रखर रूप मे इसका प्रदर्शन किया गया है। देवी-भागवत, मार्कण्डेय पुराण, कालिका पुराण व कूर्म पुराण

तत्सम्बन्धी विपुल सामग्री उपलब्ध होती है। देवी पुराण नामक उप-पुराण मे शक्ति तत्व का स्वतन्त्र निरूपण किया गया है। महाभारत मे भी अनेको ऐसे प्रसग आते हैं।

शक्ति-उपासना का प्रभाव प्राचीन काल से ही हमे विदेशों मे भी दिखाई देता है। Myths of China ard Japan मे लिखा है कि चीन मे देवताओ की माता 'नुत्री' थी, जो आदिम जल-राशि 'अपम' की देवी मानी जाती है। इस 'अपस' से सृष्टि की रचना बताई जाती है। Egyption Myth and Legend मे लिखा है कि मिश्र मे आकाश देवी का नाम 'नुट' था, जो अपने शरीर से ही समस्त प्राणियो की उत्पत्ति करती थी। यह देवताओ की माता थी। योरोप की आदिम जातियो मे 'दानु' को दानवो की माता कहा गया है। 'Island of Bali' नामक पुस्तक के अनुसार बाली मे देवी दानु देवी गगा, गिरि पुत्री, दुर्गा और उमा को शिव की पत्नियाँ बताया गया है जिनकी वहाँ उपासना होती थी। Myths of Babylonia के अनुसार मिस्र की तारारूपिणी देवी का नाम 'सोरिवन' था, जिसने सूर्यदेवता 'रा' के विरोधियो का वध किया था। दुर्गा ने भी देव-विरोधी तत्वो का नाश किया था। दुर्गा का वाहन सिह का था परन्तु मिस्र की 'सोरिवत' देवी का सिर सिह का-सा था और उनके हाथ मे खग का आयुध था। मिस्र की ही एक और मातृदेवी—'तेफनुतने' का पूरा रूप ही सिहनी जैसा था।

चीनी 'कन्फ्यूसिअस' धर्म मे शिव शक्ति का प्रतिपादन इन शब्दो मे किया गया है—"खिअन आकाश है, पिता है, शीत, हिम, मणि, मार्ग वृताकार है और 'स्वान' पृथ्वी है, माता है, घन, जौ, वस्त्र, तडिका, कृष्ण वर्ण और धरती की काली उपजाऊ मिट्टी है। इसमे खअन' का अभिप्राय आकाश और 'स्वान' को पृथ्वी कहा गया है। यह विवरण 'Myths of China and Japan' नामक पुस्तक मे दिया गया है।

तिब्बत मे तन्त्र-साधना का पहला दीक्षा ग्रन्थ 'वर्दोयसगल' है, जिसके निर्देशन मे साधना और दीक्षा आदि क्रियाये होती है। इसमे ध्यानी बुद्धो की साधना, उनकी मूर्तियो, रूपो और ध्यानो का विस्तृत वर्णन किया गया है। इन ध्यानी बुद्धो का सम्बन्ध भगवती जननी के साथ है। केन्द्रीय बुद्ध वैरोचन का भगवती जननी से सम्बन्ध है। पूर्व की ओर स्थित 'वज्रसत्व अक्षोभ्य' भगवती जननी लोचना से आबद्ध हैं, जिनका तिब्बती नाम है—'ससगियासस्पियनमा' अर्थात् बुद्धलोचन सम्पन्ना। दक्षिण की ओर अवस्थित रत्नसम्भव बुद्ध भगवती जननी मावकि के साथ एकात्म है। पश्चिम की ओर स्थित अनन्त आलोक के ध्यानी बुद्ध अमिताभ (तिब्बती भाषा मे—रशन-बामथा-ईयास) भगवती जननी श्वेताम्बरा पाण्डुरवासिनी के आश्लेप मे आवद्ध हैं। अन्तिम बुद्ध अमोघ सिद्धि का सम्बन्ध भगवती जननी तारा से है, जिन्हे तिब्बती भाषा मे 'डलमा' कहते हैं। वे वहाँ प्रेम, श्रद्धा और भक्ति की प्रतीक है और तिब्बती भाषा मे उनकी उपासना 'दामदिशग-डलमा' के नाम से होती है। उनके प्रति जनता मे इतनी अगाध श्रद्धा है कि ऐसा लगता है जैसे वह वहाँ के धर्म-जीवन पर व्यापक रूप से छाई हुई है और भक्तो ने उन्हे अपने हृदय के सबसे ऊँचे आसन पर बैठा रखा है।

इस तरह से शक्ति-उपासना विभिन्न ध्यानी बुद्धो की शक्ति के रूप मे बौद्ध तन्त्रो मे प्रचलित है।

बौद्धो के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सेक्कोद्देशटीका' मे वाराही, परमेश्वरी, लक्ष्मी, नारायणी, ब्रह्मी, रौद्री, ईश्वरी का वर्णन आता है। वज्रलक्ष्मी का भी प्रयोग उपलब्ध होता है। 'साधन-माला' मे चतुर्भुजी, कृष्ण, शूकरमुखी आदि देवियो की उपासना का विधि-विधान मिलता है। महायान की 'तारादेवी' और हीनयान की 'मणिमेखला' देवी प्रसिद्ध हैं। बौद्धो मे 'वज्रवाराही' देवी की उपासना भी होती है, जो ब्राह्मणो की 'दण्डिनी और 'वाराही' की तरह ही हैं। इन सबमे 'तारा' का विशेष महत्व है। तन्त्रो के शिव-शक्ति की तरह बौद्धो म तार-तारा की जोडी

प्रसिद्ध है। प्रणव को ब्राह्मण और बौद्ध दोनो 'तार' कहते है। 'तार' देवता की पत्नी का नाम 'तारा' रखा गया।

हिन्दू धर्म तथा बौद्ध धर्म मे शक्ति-उपासना का जैसा विशाल साहित्य भण्डार उपलब्ध होता है, वैसा निर्माण जैन धर्म मे तो नही हो पाया परन्तु उपासना-पद्धत्ति मे अवश्य अनुकरण किया गया है। देवी-उपासना, मूर्तियो की उपासना और तदनुसार मन्दिरो की प्रतिष्ठा प्रचलित है। जैन शास्त्रो का ऐसा विश्वास है कि पृथ्वी के नीचे और ऊपर देवी-देवताओ का निवास है और उनकी उपासना करने से हर प्रकार की भौतिक इच्छाओ की पूर्ति होना सम्भव है। श्वेताम्बर और दिगम्बर—दोनो सम्प्रदायो मे इस उपासना को मान्यता है।

श्वेताम्बर मत से २४ देवता निम्न प्रकार हैं, हर तीर्थकर के अलग शासन देवता हैं—

१—चक्रेश्वरी २—अजितवला ३—दुरितारी ४—कालिका ५—महाकाली ६—श्यामा ७—शान्ता ८—ज्वाला ९—सुताखा १०—अशोका ११—श्रीवत्सा १२—चण्डा १३—विजया १४—अकुशा १५—पन्नगा १६—निर्वाणी १७—बला १८—धारिणी १९—धरण प्रिया २०—नरदत्ता २१—गान्धारी २२—अम्बिका २३—पद्मावती २४—सिद्धायका।

जैनो मे शाक्त सम्प्रदाय के सरस्वती कल्प की मान्यता है। सरस्वती मे १६ विद्याव्यूह का वर्णन आता है—

१—रोहिणी २—प्रज्ञप्ति ३—वज्रशृङ्खला ४—कुलिशाकुशा ५—चक्रेश्वरी ६—नरदत्ता ७—काली ८—महाकाली ९—गौरी १०—गान्धारी ११—सर्वास्त्रमहाज्वाला १२—मानवी १३—वैरोध्या १४—अच्छुप्ता (अच्युता) १५—मानसी और १६—महायानमिका।

सिद्ध सारस्वताचार्य श्री बालचन्द्र सूरि का प्रसिद्ध 'वसन्त-विलास' महाकाव्य है। इसके प्रारम्भ मे कवि ने तन्त्र पद्धति का

अनुकरण किया है और सरस्वती-उपासना से कवित्व के विकास को माना है।

जैन धर्म मे भी शाक्तो की तरह यन्त्रो का बाहुल्य है। हेमचन्द्र सूरि के योगशास्त्र से यह मत स्पष्ट प्रतीत होता है। मन्त्रो मे ॐ, ह्री आदि बीजाक्षरो को ज्यो-का-त्यो लिया गया है। जैन-शास्त्रो ने स्वय माना है कि उनके यह मन्त्र प्राचीन परम्परा से अपनाए हुए है, अपने नही हैं। तन्त्रोक्त मन्त्र शास्त्र की सम्पूर्ण पद्धति को मान्यता दी गई है।

जैन धर्म मे दो प्रकार के ध्यान है—धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान। धर्मध्यानके चार भाग है--१ पिडस्थ, २ पदस्थ, ३ रूपस्थ, ४ रूप वर्जित। पहले दो ध्यान मे तन्त्र-पद्धति को अपनाया गया है। ध्यान का केन्द्र, जहाँ केवल पिण्ड हो, उसे पिडस्थ ध्यान कहते है। पदस्थ ध्यान मे शब्द शक्तिके खण्ड,पद,वाक्य पर भावना को प्रविष्ट करना होता है। तन्त्रो ने देवी-देवताओ के आकार और बाह्य लक्षणो पर विशेष बल दिया है। शब्द ब्रह्म के वर्ण, पद, वाक्य पर तो तन्त्र का अधिकार है। जैन धर्म मे मातृका-ध्यान प्रसिद्ध है, जिसके मूल पङ्कज मे 'अ क च ट त प य श' वर्णाष्टक बनाना पडता है। हृदय-स्थान मे चौबीस दल मे, मध्य कर्णिका के साथ मे २५ अक्षर और नाभि-स्थान मे षोडश दल मे सोलह स्वर-मात्राओ का ध्यान करना होता है। इस ध्यान की सफलता से अनेको प्रकार की सिद्धियो का वर्णन किया गया है।

जैन धर्म ईश्वरवादी न होने पर भी शक्ति उपासना को मान्यता देता है, इसमे तन्त्र का ही गौरव निहित है।

जैसे काली माँ की उपासना भारत मे होती है, वैसे ही कुमारी मैरी की ईसाई धर्म मे, मिश्र मे माँ आइसिस (Isis) की और ग्रीक धर्म मे पैल्लस अथीनी की पूजा की जाती है।

इतिहासकारो और पुरातत्ववेत्ताओ ने तन्त्र और शक्ति-उपासना की प्राचीनता पर खोजे की है। कुछ ने शक्ति-उपासना को काव्यो के

आधार पर, ईसा से २०० वर्ष पूर्व माना है। उस समय के सिक्कों पर दुर्गा के चित्र उपलब्ध होते हैं। ईसा पूर्व पहली शती में विदेशी शक शासक 'अयस' के सिक्कों पर 'गजलक्ष्मी' का चित्र अङ्कित है। छठी शती की लिपि में वज्रान्तप की एक मुहर पर भी यही मूर्ति देखी गई है।

गुप्तकाल में भी शक्ति-साधना के चित्र मिलते हैं। चन्द्रगुप्त प्रथम का काल ३०५ से ३२५ ई० स्वीकार किया जाता है। उनके सिक्कों पर सिंहवाहिनी दुर्गा के चित्र हैं। चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य) की उदयगिरि-गुफाओं में महिषासुर मर्दिनी की प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं। कुशान राजाओं का काल १०० से २०० ई० के लगभग है। उनकी मुद्राओं पर भी सिंह के साथ देवी का चित्र मिला है। दक्षिण में चोल राजाओं के समय की प्रतिमाएँ प्राप्त होती हैं। एलोरा की गुफाओं में सप्तमातृका, पार्वती और महिषसुर मर्दिनी की प्रतिमाएँ देखी जा सकती हैं। उदयगिरि की गुफा में भी सप्तमातृका की प्रतिमा उपलब्ध हुई है।

यह खोजें यहीं तक सीमित नहीं हैं, पुरातत्ववेत्ताओं ने मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा की खुदाई का भी अध्ययन किया है। वहाँ सिन्ध के निकटवर्ती क्षेत्र में योनि के आकार की मूर्तियाँ मिली हैं, जिससे यह सहज परिणाम निकलता है कि ताम्र-युग में वहाँ शक्ति उपासना के प्रति आस्था थी। सर जान मार्शल ने भारत में शक्ति-उपासना को प्राचीन काल से चली आती हुई माना है। श्री बी० सी० मजूमदार ने यह सिद्ध किया है कि दुर्गा-पूजन ईसा के पूर्व ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है।

वास्तविकता यह है कि शक्ति-उपासना का प्रारम्भ ऋग्वेद-काल से ही होता है। ऋग्वेद के दशम मण्डल का १२५ वाँ सूक्त, जिसका नाम देव-देवी सूक्त है, इसकी साक्षी है—जिसके अध्ययन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ऋग्वेद-काल में मातृ-उपासना प्रचलित थी। अतः मातृ-उपासना वैदिक काल से चली आ रही है, यह निश्चित है।

सौर सम्प्रदाय—

तन्त्र के सौर सम्प्रदाय मे सूर्य की उपासना का विधान है। इसकी प्राचीनता भी वेद से सम्बद्ध है। वेद मे स्पष्ट रूप से सूर्य को चराचर विश्व का स्रष्टा कहा गया है—

"नून जना सूर्येण प्रसूत"

इसको 'प्राण प्रजानाम्" भी कहा गया है। ऋग्वेद (२।३३।१) मे प्रार्थना की गई है कि सूर्य के प्रकाश से हम कभी न बिछुडे —

"न सूर्यस्य सद्यशे मा युयोथा"

अथर्ववेद मे भी सूर्य की महिमा का वर्णन है—

अन्तकाय मृत्येव नम प्राणा अपाना इह ते रमन्ताय।
इहायमस्तु पुरुष सहामुन सूर्यस्य भागे अमृतस्य लोके ॥
(८।१।१)

"मृत्युरूप देवता (परमात्मा) को नमस्कार है। तेरे प्राण और अपान इनकी कृपा से शरीर मे विस्तार करें (अर्थात् वह सुख से जीवित रहे)। यह मनुष्य, प्राण और प्रजा अन्य लोगो सहित सूर्य के प्रकाश-युक्त पृथ्वी पर निवास करता रहे।"

सूर्य को इन्द्र नाम से भी विहित किया गया है। इस नाम से इस प्रकार स्तुति की गई है -

इन्द्राय गिरो अनिशितसर्गा अप प्रेरण सगरस्य बुध्नात्।

"इन्द्र के लिये वाणियाँ अनिशित सर्ग वाली होती हैं और सगर बुघन से अप (जल) का प्ररण होता है।"

सूर्य सम्बन्वी अन्य अनेको मन्त्र उपलब्ध होते हैं, जिनमे विभिन्न विपयो का प्रतिपादन किया है।

सूर्योपनिपद् मे अथर्ववेदादि मन्त्रो की व्याख्या की गई है। कहा है—

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुपश्च । सूर्याद्वै खल्विमानि भूतानि जायन्ते । सूर्याद्यत पर्जन्योऽन्नमात्मा ॥(३)

"सूर्य सम्पूर्ण स्थावर जङ्गम के आत्मा है। इन्ही से इन भूतो की उत्पत्ति होती है। इन्ही से यज्ञ, मेघ और आत्मा आविर्भूत होते हैं। और भी कहा है--

नमस्त आदित्य। त्वमेव प्रत्यक्ष कर्मकर्तासि। त्वमेव प्रत्यक्ष ब्रह्मासि। त्वमेव प्रत्यक्ष विष्णुरसि। त्वमेव प्रत्यक्ष रुद्रोऽसि। त्वमेव प्रत्यक्षमृगसि। त्वमेव प्रत्यक्ष यजुरसि यजुरसि। त्वमेव प्रत्यक्ष सामासि। त्वमेव प्रत्यक्षमथर्वासि। त्वमेव सर्व छन्दोऽसि। (४)

"हे आदित्य ! हम तुम्हें नमस्कार करते हैं। तुम्ही कर्म और कर्त्ता हो, तुम्ही ब्रह्मा और विष्णु हो। तुम्ही रुद्र एव ऋक्, यजु, साम और अथर्व हो। तुम सम्पूर्ण छन्दरूप हो।

इससे सिद्ध होता है कि उपनिषद् काल मे भी यह उपासना विद्यमान थी। अब भी हिन्दू धर्म की प्रत्येक उपासना-विधि मे सूर्य को अर्घ्य देना सम्मिलित है। द्विज सन्ध्या करके सूर्य-दर्शन करना नही भूलता।

ऐसा लगता है कि विदेशो मे भी प्राचीन काल मे सूर्योपासना विद्यमान थी। रोम, यूनान, मिश्र, जर्मनी आदि देशो के प्राचीन ग्रन्थो मे भी सूर्यदेव की स्तुति पाई जाती है। विदेशो मे अभी तक विद्यमान कुछ सूर्य-मन्दिर प्राचीन काल से सूर्य भगवान की महिमा को गा रहे हैं। श्री मैथिलीशरण गुप्त ने 'भारत भारती' मे लिखा है कि दक्षिण अमेरिका के पुरु नामक राज्य मे एक सूर्य मन्दिर है। इसकी मूर्ति का आकार उन्नाव के सूर्य-मन्दिर से मिलता है। काश्मीर मे ललितादित्य द्वारा निर्मित 'मार्त्तण्ड' मन्दिर और बालबक (मसोपोटामिया) का सूर्य-मन्दिर सूर्योपासना की प्राचीनता को सिद्ध कर रहे हैं।

कनाडा मे १९५४ के मई मास मे टोरन्टो विश्वविद्यालय के

हुई थी, उसमे से गरोश की मूर्ति निकली थी। विशेषज्ञो का कहना है कि यह मूर्ति चार-पाँच हजार वर्ष पुरानी ही प्रतीत होती है। अमेरिका मे गरोश की प्रतिमा उपलब्ध होने की पुष्टि 'हिन्दू अमेरिका' के लेखक ने भी की है। इसका यह अर्थ स्पष्ट होता है कि ईसा से पूर्व ही अमेरिका में गरोश-पूजा का प्रचार था और वहाँ आर्यों ने अपने उपनिवेश बनाये थे। पाश्चात्य इतिहासज्ञ कोलम्बस को अमेरिका का पता लगाने वाला, अविष्कारक मानते हैं। इस तरह से उनकी धारणा निराधार प्रतीत होती है।

जर्मनी मे तो गरोश का सम्मान असामान्य रूप से है। उन्होने तो इसे अपना राष्ट्रीय चिन्ह ही बना डाला। उनके राष्ट्रीय ध्वज पर इस चिन्ह को देखा जा सकता है। अन्वेषको का कहना है कि ईसाइयो का पवित्र चिन्ह गरोश के चिन्ह का अपभ्रंश है। मुसलमान लोग माथे पर चाँद-तारे के चिन्ह भिन्न-भिन्न रूपो मे ग्रहण करते हैं। यह उनकी सस्कृति का मुख्य चिन्ह माना जाता है। गरोश के अनेक नामो मे एक भालचन्द्र भी है, जिसका अभिप्राय है—मस्तक पर चन्द्रमा धारण करने वाला। अनुमान लगाया जाता है कि हजरत मुहम्मद के पहले मुसलमान लोग वहाँ के गारापत्य सम्प्रदाय के मानने वाले होगे, तभी भालचन्द्र का उन्होने अनुकरण किया।

चीन और जापान मे गरोश की त्रिमूर्ति को 'फो' नाम से सम्बोन्धित करते हैं। इतिहास साक्षी है कि 'कोबो दाइशी' नाम के विद्वान ने "विनायक-पूजन" आरम्भ करवाया था, क्योकि चीन मे 'विनायक' और 'काङ्गीनेन' नामो से गरोश की उपासना होती है। यूनान मे 'ओरेनस' नाम से गरोश-पूजन किया जाता है। उनके धम-गन्थो मे इसका काफी महत्व बताया गया है। जावा मे शिव के मन्दिरो मे ही गरोश की प्रतिमायें स्थापित हैं। तिब्बत मे प्रत्यक मठ मे गरोश-पूजा की प्रथा है। बोर्नियो और बाली द्वीप मे भी गरोश-पूजन प्रचलित है। नेपाल मे 'विनायक और 'हेरम्ब' नाम से गरोश-पूजन होता है। बौद्ध सम्प्रदाय

मे महायानो मे मूर्ति-पूजा प्रचलित होने पर 'विनायक' के रूप मे गणेश-पूजन होता है। वर्मा और स्याम मे कास्य-धातु की गणेश-मूर्तियो से पूजन श्रेष्ठ माना जाता है। मिश्र मे 'एक्टोन' नाम से गणेश-पूजन होता है, जो गणेश के एक नाम 'एकदन्त' का अपभ्रंश दिखाई देता है।

उपलब्ध जानकारी से विदित है कि तन्त्र के पाँचो सम्प्रदायो पर प्राचीनता की छाप दृष्टिगोचर होती है।

• • •

एक वैज्ञानिक को श्वेत पहाड़ी पर घूमते हुए एक चित्र मिला। यह मूर्ति श्वेत पत्थर से बनी हुई थी और उस 'चार्लीफिप्स' नाम के वनस्पति वैज्ञानिक के शरीर के बराबर थी। वह सूर्यदेव की मूर्ति थी। इसके सम्बन्ध मे अनुमान लगाया गया था कि इसका निर्माण मिश्री पिरामिडो, ग्रीक सभ्यता, जूलियस सीजर और ईसा के जन्म से पहले हुआ था। इससे स्पष्ट है कि वहाँ सूर्य-मन्दिर होगा और अवश्य सूर्योपासना होती होगी। निश्चय ही सारे विश्व में सूर्योपासना किसी-न-किसी रूप मे प्राचीनकाल मे प्रचलित थी।

गाणपत्य सम्प्रदाय—

गणपति उपासना भारत मे प्राचीन काल से चली आ रही है। ऋग्वेद (१०।११२।६) मे कहा है—

निषुसीद गणपते गणेषु त्वामाहुर्विप्रतम कवीनाम्।
न ऋते त्वत्क्रियते किञ्जनारे महामक मघवञ्चित्रमर्च ॥

अर्थात् हे गणपते! तुम सब प्राणियो के स्वामी हो। तुम स्तोताओ के मध्य सुशोभित होओ। कार्यकुशल व्यक्तियो मे तुम सबसे अधिक बुद्धिमान हो। पास या दूर कही भी कोई तुमसे अधिक अनुष्ठित नही होता। हमारी ऋचाओ को बढाकर विभिन्न फल वाली करो।

उपनिषद् काल मे भी गणपति-पूजा विद्यमान थी। गणपत्युपनिषद् इसका प्रमाण है। वहाँ कहा है—

ॐ ल नमस्ते गणपतये ॥१॥

त्वमेव प्रत्यक्ष तत्वमसि। त्वमेव केवल कर्ताऽसि। त्वमेव धर्ताऽसि। त्वमेव केवल हर्ताऽसि। त्वामेव सर्वं खल्विद ब्रह्मासि। त्व साक्षादत्याऽसि ॥२॥

नित्यमृत वच्मि। सत्य वच्मि ॥३॥

अर्थात् "भगवान गणपति को नमस्कार ॥१॥

तुम्ही कर्ता-धर्ता हो एव प्रत्यक्ष तत्त्व हो। तुम्ही इन रूपो मे

विराजमान साक्षात् ब्रह्म हो। तुम ही नित्य एव आत्मस्वरूप हो ॥२॥

मैं सत्यपूर्वक एव न्यायपूवक कहता हूँ ॥३॥

स्मृति युग भी गणपति-पूजा का उद्घोष करता है—

एव विनायक पूज्य ग्रहाश्चैव विधानत ।
कर्मणा फलमाप्नोति श्रिय चाप्नोत्यमाम् ॥
(याज्ञवल्क्य स्मृति, आचाराध्याय २९२)

इसमे कहा गया है कि गणेशजी की पूजा करके नवग्रहो का पूजन करना चाहिए जिससे सब कामो के फल की प्राप्ति होती है और लक्ष्मी की उपलब्धि होती है।

पुराण युग मे तो इस पूजा का उज्ज्वल रूप मे उदय हुआ। एक अलग गणेश पुराण की रचना की गई। यह तन्त्र के पाँचो सम्प्रदायो— वैष्णव, शैव, शाक्त, गाणपत्य और सौर के लौकिक और वैदिक, शुभ और अशुभ सभी तरह के कार्यों मे प्रथम पूज्य हैं—

शैवैस्त्वदीयैरुत वैष्णवैश्च, शाक्तैश्च सौरैरपि सर्वकार्ये।
शुभाशुभे लौकिक वैदिके च, त्वमर्चनीय प्रथम प्रयत्नात् ॥

उपासना का यह क्रम आज तक चला आ रहा है। प्राचीन काल में विदेशो भी गणेश-पूजन होता था। इसके निम्न प्रमाण उपलब्ध होते हैं।

आक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी द्वारा प्रकाशित श्रीमती ए० गेट्टी द्वारा लिखित पुस्तक मे इस सम्बन्ध में यथार्थ सामग्री उपस्थित की गई है। विद्वान लेखिका अपनी पुस्तक मे लिखती हैं कि जापानी मे गणेश का नाम 'काङ्गनेन', चीनी मे 'कुआन-शी-तियेन' मगोलियन भाषा मे 'त्वोत रवारुन खागान', कम्बोडियन भाषा मे' प्राहकेनीज',वर्मी मे 'महापियेन्ने', भोट भाषा मे 'सोडसदाग' पाया जाता है और इसी नाम से उसकी वहाँ पूजा होती है।

दक्षिण अमेरिका मे ब्राजील मे जो पुरातत्व विभाग द्वारा खुदाई

हुई थी, उसमे से गणेश की मूर्ति निकली थी। विशेषज्ञो का कहना है कि यह मूर्ति चार-पाँच हजार वर्ष पुरानी ही प्रतीत होती है। अमेरिका मे गणेश की प्रतिमा उपलब्ध होने की पुष्टि 'हिन्दू अमेरिका' के लेखक ने भी की है। इसका यह अर्थ स्पष्ट होता है कि ईसा से पूर्व ही अमेरिका मे गणेश-पूजा का प्रचार था और वहाँ आर्यों ने अपने उपनिवेश बनाये थे। पाश्चात्य इतिहासज्ञ कोलम्बस को अमेरिका का पता लगाने वाला, अविष्कारक मानते हैं। इस तरह से उनकी धारणा निराधार प्रतीत होती है।

जर्मनी में तो गणेश का सम्मान असामान्य रूप से है। उन्होने तो इसे अपना राष्ट्रीय चिन्ह ही बना डाला। उनके राष्ट्रीय ध्वज पर इस चिन्ह को देखा जा सकता है। अन्वेषकों का कहना है कि ईसाइयो का पवित्र चिन्ह गणेश के चिन्ह का अपभ्रंश है। मुसलमान लोग माथे पर चाँद-तारे के चिन्ह भिन्न-भिन्न रूपो मे ग्रहण करते हैं। यह उनकी संस्कृति का मुख्य चिन्ह माना जाता है। गणेश के अनेक नामो मे एक भालचन्द्र भी है, जिसका अभिप्राय है—मस्तक पर चन्द्रमा धारण करने वाला। अनुमान लगाया जाता है कि हजरत मुहम्मद के पहले मुसलमान लोग वहाँ के गाणपत्य सम्प्रदाय के मानने वाले होगे, तभी भालचन्द्र का उन्होने अनुकरण किया।

चीन और जापान मे गणेश की त्रिमूर्ति को 'फो' नाम से सम्बोधित करते हैं। इतिहास साक्षी है कि 'कोबो दाइशी' नाम के विद्वान ने "विनायक-पूजन" आरम्भ करवाया था, क्योकि चीन मे 'विनायक' और 'काङ्गीनेन' नामो से गणेश की उपासना होती है। यूनान मे 'ओरेनस' नाम से गणेश-पूजन किया जाता है। उनके धर्म-ग्रन्थो मे इसका काफी महत्व बताया गया है। जावा मे शिव के मन्दिरो मे ही गणेश की प्रतिमायें स्थापित हैं। तिब्बत मे प्रत्येक मठ मे गणेश-पूजा की प्रथा है। बोर्नियो और बाली द्वीप मे भी गणेश-पूजन प्रचलित है। नेपाल मे 'विनायक' और 'हेरम्ब' नाम से गणेश-पूजन होता है। बौद्ध सम्प्रदाय

मे महायानो मे मूर्ति-पूजा प्रचलित होने पर 'विनायक' के रूप मे गणेश-पूजन होता है। बर्मा और स्याम मे कास्य-धातु की गणेश-मूर्तियो से पूजन श्रेष्ठ माना जाता है। मिश्र मे 'एक्टोन' नाम से गणेश-पूजन होता है, जो गणेश के एक नाम 'एकदन्त' का अपभ्रंश दिखाई देता है।

उपलब्ध जानकारी से विदित है कि तन्त्र के पांचो सम्प्रदायो पर प्राचीनता की छाप दृष्टिगोचर होती है।

• • •

तंत्र की गोपनीयता

तन्त्र ने जहाँ सभी वर्णों की साधना का अधिकार प्राप्त किया है तथा जाति-भेद और स्त्री पुरुष का कोई प्रतिबन्ध नही लगाया है, वहाँ साधन-विधियो को भी गुप्त रखने का भी आदेश दिया है, जो अधिकारी गुरु से ही प्राप्त की जा सकती हैं। गुरु भी अधिकारी की परीक्षा करके रहस्यमयी विद्या की दीक्षा देता है। गोपनीयता का कारण साधना-विधियो को उनके दुरुपयोग से बचाना है, क्योकि तन्त्र, शक्ति-विकास का विज्ञान है। इससे अपना व समाज का हित भी किया जा सकता है और अहित भी। ऐसे भी विधान हैं, जिनसे आतक और भय का वातावरण उत्पन्न किया जा सकता है। ऐसी स्थिति न आने पाए, इसलिए साधना-विधान हर किसी को नही बताया जाता, उसे गुप्त रखा जाता है।

उपनिषदो की पराविद्या को 'गुह्य' घोषित किया गया है और उस रहस्यमयी को दूसरो को न बताने का आदेश दिया गया है। गीताकार 'राजयोग' को भी 'गुह्य' की सज्ञा देते हैं। तन्त्रो मे अपनी साधना को 'योनि' की तरह गुप्त रखने की बात कही गई है। जिस तरह स्त्री अपने गुह्य अङ्गो को पति के अतिरिक्त सबसे छिपाती है, उसी तरह अपने पति—भगवान के अतिरिक्त इसे सबसे छिपाना चाहिए। प्राचीन यूनान मे दीक्षा-विधि का एक अग यह शपथ लेना भी था कि वह अपनी साधना के सम्बन्ध मे किसी अनधिकारी को नही बताएगा। ईसाई धर्म के आरम्भ मे नियम बहुत कडे थे—यदि कोई विशिष्ट प्रकार

की दीक्षा को जनसाधारण पर प्रकट कर देता था, तो उसे मृत्युदण्ड दिया जाता था।

सर फासिस बर्नार्ड ने प्रेरणा दी है—

Hold fast in silence all that is your own, lest icy fingers he laid upon your lips to seal them for ever

"जो कुछ तुम्हे मिल चुका है, उसे अपने ही पास सुरक्षित रखो, ऐसा न हो कि बर्फ की तरह ठडी उँगलियाँ तुम्हारे ओठो को सदैव के लिए बन्द कर दें।"

ईसा ने कहा है—

"Let not thy left hand know what thy right hand gives"

"अपने वाम हस्त को यह ज्ञान न होने दो कि तुम्हारा दक्षिण हस्त क्या देता है।"

"To you it is given to know the mysteries of God, but to them it is not"

(सन्तपक्षी)

"तुम्हे भगवान के रहस्यो को जानने की आज्ञा दी जाती है, किन्तु उनको नही जो इसके अधिकारी नही हैं।

'It is the fatal law of the arcane Sanctuaries that the revelation of their secrets entails death to those who are unable to preserve them"

"ईसाई धर्म की कई आदिम सस्थाओ का एक घातक नियम यह था कि जो उनके रहस्यो की रक्षा नही कर सकता था ऐसे, सदस्य को वे मृत्युदण्ड देते थे।"

इससे स्पष्ट है कि रहस्यमयी विद्या की प्रथा केवल भारत में ही नही है, ईसाई धर्म और पाश्चात्य सस्कृति मे भी इसके अ कुर मिलते हैं। वे भी अधिकारी व्यक्ति को ही ज्ञान देने के पक्ष मे हैं।

गीता भी गोपनीयता की नीति का समर्थन करती है

इद ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्य न मा योऽभ्यसूयति ।।

---गीता

"तपस्या-विहीन, अभक्त या जिसको अभी तक इन बातो के सुनने की तीव्र इच्छा न हुई हो और जो गुरु-सेवा परायण न हो या जो मुझसे (ईश्वर) से असूया रखता हो, ऐसे व्यक्ति से ये बातें न कहनी चाहिए।"

तन्त्र-शास्त्रो मे तो इस आशय के स्पष्ट आदेश दिए गए हैं

स्वमन्त्रा नोपदेष्टव्यो वक्तव्यश्च न ससदि।
गोपनीय तथा शास्त्र रक्षणीय शरीरवत् ।।

(नारद पञ्चरात्र)

"अपने मन्त्र का किसी को उपदेश न दे, सभा मे उसे न कहे। पूजा-विधि को गुप्त रखे और तद्विपयक शास्त्र की शरीर की तरह रक्षा करे।"

इति मे सम्यगाख्याता शान्ति शुध्यादि कल्पना।
रहस्याति रहस्याश्च गोपनीयास्त्वया सदा ।।

अर्थात् नारदजी ! यह हमने आपसे शान्ति-शुद्धादि कल्पना रहस्य कहा है। यह रहस्य का भी रहस्य है। यह आपको सर्वदा गुप्त रखने योग्य है।

गोपनीय गोपनीय गोपनीय प्रयत्नत ।
त्वयाचि गोपितव्य हि न देय यस्य कस्यचित् ।।

"इन साधन-विधियो को यत्नपूर्वक गुह्य रखो---गुप्त रखो। इनको अपने तक ही सीमित रखो, किसी ऐसे-वैसे को मत बताओ।"

न देय पर शिष्येभ्याह्यकेभ्यो विशेषत ।
शिष्येभ्यो भक्ति युक्तेभ्याह्यन्यथामृत्युमाप्नुयात् ॥

दूसरे के शिष्य के लिये विशेषकर भक्तिरहित के लिए यह मन्त्र कभी न देना चाहिए। इसकी दीक्षा भक्तियुक्त शिष्य को ही देनी चाहिए अन्यथा मृत्यु की प्राप्ति होती है।"

कथित सारभूत ते खेलत्खञ्जनलोचने ।
ब्रह्मज्ञान मया देवि किं भूय' श्रोतुमिच्छसि ॥
नात परतर किञ्चिद्विद्यते मम मानसे ।
गोपनीय सदा भद्रे पशुपामर सन्निधौ ॥

(योगिनी तन्त्र)

अर्थात् "हे देवदेवेशि ! यह अत्यन्त सारभूत ब्रह्मज्ञान मैंने तुम्हारे प्रति कहा है, अब अधिक क्या सुनने की इच्छा रखती हो ? इससे बढकर अन्य कुछ मेरे अन्तर मे नहीं है। इस ज्ञान को पशु और पामर व्यक्ति से सदा गुप्त रखना चाहिए।"

अति गुह्यमिद पृष्ट त्वया ब्रह्मतनूद्भव ।
न कस्यापि वक्तव्य दुष्टाय पिशुनाय च ॥

(गायत्री तन्त्र)

"यह सुनकर श्री नारायण ने कहा कि हे नारद ! आपने अत्यन्त गुप्त बात पूछी है, परन्तु यह किसी दुष्ट या पिशुन (छलिया) से नहीं कहनी चाहिए।"

रहस्याति रहस्याना रहस्योऽय महेश्वरि ।
ऊर्ध्वाम्नाय समाख्यात समासेन न विस्तरात् ॥
कुलार्णवमिद शास्त्र योगिनीना हृदि स्थितम् ।
प्रकाशित मया चाद्य गोपनीय प्रयत्नत ॥

(कुलार्णव तन्त्र)

अर्थात् "हे महेश्वरि ! यह जो परम गूढ एव अत्यन्त ही रहस्य है, उसका भी यह परम प्रबल रहस्य है जो कि ऊर्ध्वाम्नाय मैंने तुम्हारे

सामने बतला दिया है। इसका विशेष विशद् वर्णन नही किया है, यह कुलार्णव शास्त्र है, जो योगनियो के हृदय मे स्थित रहा करता है। यह कभी किसी के सामने प्रकाशित नही किया जाता है। तुम्हारे अत्यन्त प्रेमानुरोध होने के कारण मैंने आज प्रकाशित कर दिया है। किन्तु मेरा आदेश है कि इसको प्रयत्नपूर्वक अत्यन्त गुप्त रखना।"

कुलार्णव तन्त्र मे ही एक और स्थान पर है कि अपना धन, स्त्री और प्राण तक अर्पण कर दे परन्तु गुह्य शास्त्र को अनधिकारी व्यक्ति को न बताए।

उपरोक्त प्रमाणो मे यह बताया गया है कि तन्त्र एक गुप्त विज्ञान है। उसकी सब बातें सब लोगो के सामने प्रकट करने योग्य नही होती। कारण यह है कि तान्त्रिक साधनाएँ बडी क्लिष्ट होती हैं। वे उतनी ही कठिन हैं जितना कि समुद्र की तली में घुसकर मोती निकालना। गोताखोर लोग जान को जोखिम मे डालकर पानी मे बडी गहराई तक नीचे उतरते हैं, तब बहुत प्रयत्न के बाद उन्हें कुछ मोती हाथ लगते हैं। परन्तु इस क्रिया में अनेक बार उन्हे जल-जन्तुओ का सामना करना पडता है। नट अपनी कला दिखाकर लोगो को मुग्ध कर देता है और प्रशसा भी प्राप्त करता है, परन्तु यदि एक बार भी चूक जाए तो खैर नही।

तन्त्र प्रकृति से सग्राम करके उसकी रहस्यमयी शक्तियो का विजय लाभ करना है। इसके लिए असाधारण प्रयत्न करने पडते हैं और उनकी असाधारण प्रतिक्रिया होती है। पानी मे जोर से ढेला फेकने पर वहाँ का पानी जोर से उछाल खाता है और एक छोटे विस्फोट जैसी स्थिति दृष्टिगोचर होती है। तान्त्रिक साधक भी एक रहस्यमयी साधना द्वारा प्रकृति के अन्तराल मे छिपी हुई शक्ति को प्राप्त करने के लिए अपनी साधना का एक आक्रमण करता है, उसकी एक प्रतिक्रिया होती है। उस प्रतिक्रिया से कभी-कभी साधकके आहत हो जाने का भय रहता है।

जब बन्दूक चलाई जाती है तो जिस समय नली मे से गोली बाहर निकलती है उस समय वह पीछे की ओर एक झटका मारती है और भयकर शब्द करती है। यदि बन्दूक चलाने वाला कमजोर प्रकृति का हो, तो उस झटके से पीछे की ओर गिर सकता है, धडाके की आवाज से डर या घबरा सकता है। चन्दन के वृक्षो के निकट सर्पों का निवास रहता है, गुलाब के फूलो मे काँटे होते हैं, शहद प्राप्त करने के लिए मक्खियो के डको का सामना करना पडता है, सर्प-मणि पाने के लिए भयकर सर्प से और गजमुक्ता पाने के लिए मदोन्मत्त हाथी से जूझना पडता है। तान्त्रिक पुरुषार्थ ऐसे ही विकट पुरुषार्थ हैं जिनके पीछे खतरो की शृङ्खला जुडी रहती है। यदि ऐसा न होना, तो उन लाभो को हर कोई आसानी मे प्राप्त कर लिया करता।

तलवार की धार पर चलने के समान तन्त्र विद्या के कठि साधन हैं। उसके लिये साधक मे पुरुषार्थ, साहस, दृढता, निर्भयता और धैर्य पर्याप्त होना चाहिए। ऐसे व्यक्ति सुयोग्य-अनुभवी गुरु की अध्क्षयता मे यदि स्थिर चित्त से श्रद्धापूर्वक साधना करें तो वे अभीष्ट साधन मे सिद्ध प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु यदि निर्बल मनोभूमि के—डरपोक, सन्देही स्वभाव वाले, अश्रद्धालु, अस्थिर मति किसी साधन को करे और थोडा-सा सकट उपस्थित होते ही उसे छोड भागें, तो वैसा ही परिणाम होता है जैसा किसी सिंह या सर्प को पहले तो छेडा जाय पर जब वह क्रुद्ध होकर अपनी ओर लपके तो लाठी-डण्ड फेंककर बेतहाशा भागा जाय। इस प्रकार छेडकर भागने वाले मनुष्य के पीछे वह सिंह या सर्प अधिक क्रोधपूर्वक, अधिक साहस के साथ दौडेगा और उसे पछाड देगा। देखा गया है कि कई मनुष्य किसी भूत-पिशाच को वश मे करने के लिए तान्त्रिक साधना करते हैं, जब उनकी साधना आगे बढ चलती है तो ऐसे भग सामने आते हैं, जिनसे डरकर वह मनुष्य अपना साधन छोड बैठे। यदि उस साधक मे साहस नही होता और किसी भयङ्कर दृश्य को देखकर डर जाता है, तो डराने वाली शक्तियाँ उस पर हमला बोल

देती है। फलस्वरूप उसको भयङ्कर क्षति का सामना करना पडता है। कई व्यक्ति भयङ्कर बीमार पडते हैं, कई पागल हो जाते हैं, अनेको ता प्राणो तक से हाथ धो बैठते हैं।

तन्त्र एक उत्तेजनात्मक उग्र प्रणाली है। इस प्रक्रिया के अनुसार जो साधना की जाती है, उससे प्रकृति के अन्तराल मे बडे प्रबल कम्पन उत्पन्न होते हैं, जिनके कारण ताप और विक्षोभ की मात्रा बढती है। गर्मी के दिनो मे सूर्य की प्रचण्ड किरणो के कारण जब वायुमण्डल का तापमान बढ जाता है तो हवा बहुत तेज चलने लगती है। लू, आँधी और तूफान के दौर बढते हैं। उस उग्र उत्तेजना मे खतरे बढ जाते हैं, किसी को लू सता जाती है, किसी की आँखो मे धूलि भर जाती है, अनेको के शरीर फोडे-फुन्सियो से भर जाते हैं। आधी से छप्पर उड जाते हैं, पेड उखड जाते हैं। कई बार हवा के भँवर पड जाते हैं, जो एक छोटे दायरे मे बडी तेजी से नाचते हुए डरावनी शक्ल मे दिखाई पडते हैं। तन्त्र की साधनाओ से ग्रीष्मकाल का-सा उत्पात पैदा होता है और मनुष्य के बाह्य एव आतरिक वातावरण मे एक प्रकार की सूक्ष्म लू एव आँधी चलने लगती है, जिसकी प्रचडता के भयकर झकझोरे लगते हैं। यह झकझोरे मस्तिष्क के कल्पना-तन्तुओ से जब सघर्ष करते हैं, तो अनेको प्रकार की भयङ्कर प्रतिमूर्तिया दृष्टिगोचर होने लगती हैं। ऐसे अवसर पर डरावने, भूत, प्रेत, पिशाच, देव, दानव जैसी आकृतियाँ दीख सकती हैं, दृष्टि-दोष उत्पन्न होने के कुछ-का-कुछ दिखाई दे सकता है। अनेको प्रकार के शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्शो का अनुभव हो सकता है। यदि साधक निर्भयतापूर्वक इन स्वाभाविक प्रतिक्रियाओ को देखकर मुस्कुराता न रहे, तो उसका साहस नष्ट हो सकता है और उन भयङ्करताओ से यदि वह भयभीत हो जाय तो वह भय उसके लिए सकट बन सकता है।

इस प्रकार की कठिनाई का हर कोई मुकाबिला नही कर सकता, इसके लिए एक विशेप प्रकार की साहसपूर्ण मनोभूमि होनी चाहिए।

मनुष्य दूसरो के विषय मे तो परीक्षा-बुद्धि रखता है पर अपनी स्थिति का ठीक परीक्षण कोई विरले ही कर सकते हैं। "मैं तन्त्र-साधनाये कर सकता हूँ या नही" इसका निर्णय अपने लिए कोई मनुष्य स्वय नही कर सकता। इसके लिए उसे किसी दूसरे अनुभवी व्यक्ति की सहायता लेनी पडती है। जैसे रोगी अपनी चिकित्सा स्वय नही कर सकता, विद्यार्थी अपने आप अपनी शिक्षा नही कर सकता, वैसे ही तान्त्रिक साधनाएँ भी अपने आप नही की जा सकती, इसके लिए किसी विज्ञ पुरुष का गुरु नियुक्त करना होता है। वह गुरु सबसे पहले अपने शिष्य की मनोभूमि का परीक्षण करता है और तब उस परीक्षण के आधार पर यह निश्चित करता है कि इस व्यक्ति के लिए कौन-सी साधना उपयोगी होगी और उसकी विधि मे अन्यो की अपेक्षा क्या हेर-फेर करना ठीक होगा। साधना-काल मे जो विक्षेप आते हैं, उनका तात्कालिक उपचार और भविष्य के लिए सुरक्षा-व्यवस्था बताना भी गुरु के द्वारा ही सम्भव है। इसलिए तन्त्र की साधनाएँ गुरु-परम्परा से चलती हैं। सिद्धि के लोभ से अनधिकारी साधक स्वय, अपने आप, उन्हे ऊटपटाँग ढग से न करने लग जाए, इसलिए उन्हे गुप्त रखा जाता है। रोगी के निकट मिठाइयाँ नही रखी जाती, क्योकि पचाने की शक्ति न रखते हुए भी यदि लोभवश उसने उन्हे खाना शुरू कर दिया तो अन्तत उसी का अहित होगा।

तन्त्र की साधनाएँ सिद्ध कर लेने के बाद जो शक्ति आती है, उसका यदि दुरुपयोग होने लगे तो उससे ससार मे बडी अव्यवस्था फैल सकती है, दूसरो का अहित हो सकता है, अनधिकारी लोगो को अनावश्यक रीति से लाभ या हानि पहुँचाने से उनका अनिष्ट ही होता है। बिना परिश्रम के जो लाभ प्राप्त होता है वह अनेक प्रकार के दुर्गुण पैदा करता है। जिसने जुआ खेलकर दस हजार रुपया कमाया है वह उन रुपयो का सदुपयोग नही कर सकता और न उनके द्वारा वास्तविक सुख प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार ईश्वरीय या राजकीय विधि से

मिलने वाले स्वाभाविक दण्ड विधान को छोडकर किसी को मन्त्र-बल से हानि पहुँचाई जाती है, वह गर्भपात के समान अहितकर ही होती है। तन्त्र मे सफल हुआ व्यक्ति ऐसी गडबडी पैदा कर सकता है। इसलिए हर किसी को उसकी साधना करने का अधिकार नही दिया गया है। वह तो एक विशेष मनोभूमि के व्यक्तियो के लिए सीमित क्षेत्र मे उपयोग होने वाली वस्तु है, इसलिए उसका सार्वजनिक प्रकाशन नही किया जाता। हमारे घर केवल उन्ही व्यक्तियो के प्रयोग के लिए होते होते हैं, जो उसमे अधिकारपूर्वक रहते हैं। निजी घरो का उपयोग धर्मशाला की तरह नही हो सकता और न हर कोई मनुष्य किसी के घर मे प्रवेश कर सकता है। तन्त्र भी अधिकार-सम्पन्न मनोभूमि वाले विशेष व्यक्तियो का घर है, उसमे हर व्यक्ति का प्रवेश नही है। इसलिए उसे नियत सीमा तक रखने के लिए गुप्त रखा है।

हम देखते हैं कि तन्त्र-ग्रन्थो मे जो साधना-विधियाँ लिखी गई हैं वे बडी अधूरी हैं। उनमे दो ही बातें मिलती हैं—एक साधन का फल, दूसरे साधन-विधि का कोई छोटा-सा अङ्ग। जैसे एक स्थान पर आया है कि "छोकर की लकडी से हवन करने से पुत्र की उत्पत्ति होती है।" केवल इतने मात्र उल्लेख को पूर्ण समझकर जो छोकर की लकडियो के गट्ठे भट्टी मे झोंकेगा, उसकी मनोकामना पूर्ण नही होगी। मूर्ख लोग समझेंगे कि साधना-विधि झूँठी है। परन्तु इस शैली से वर्णन करने मे तन्त्रकारो का मन्तव्य यह है कि साधना-विधि का सङ्केत कायम रहे, जिससे इस विद्या का लोप न हो, वह विस्मृत न हो जाय। यह सूत्र-प्रणाली है। व्याकरण आदि के सूत्र बहुत छोटे-छोटे होते हैं, उनमे अक्षर दस-दस या पाँच-पाँच ही होते हैं, पर अर्थ बहुत भारी छिपा होता है। यह सूत्र, उस विस्तृत अर्थ के एक लघु सङ्केतमात्र होते हैं, जिससे याद कम करना पडे और समय पडने पर पूरी बात याद हो आवे। गुप्त करने वाले डाकू, षडयन्त्रकारी या खुफिया पुलिस आदि के

व्यक्ति भी कुछ ऐसे ही संकेत बना लेते है, जिनके द्वारा दो चार शब्द कह देने मात्र से एक बड़ा अर्थ समझ लिया जाता है ।

"छोकर के हवन से पुत्र-प्राप्ति"—इस संकेत-सूत्र मे एक भारी विधान छिपा हुआ है। किस मनोभूमि का मनुष्य, किस समय, किन उपकरणो के द्वारा, किन मन्त्रो से कितना हवन करे तब पुत्र-प्राप्ति हो—यह सब विधान उस सूत्र मे छिपाकर रखा गया है। छिपाया इसलिए है कि अनधिकारी लोग उसका प्रयोग न कर सकें। संकेत-रूप मे कहा इसलिए गया है कि कालान्तर मे उस तथ्य का विस्मरण न हो जाय, आधार मालूम रहने से आगे की बात का स्मरण हो आना सुगम होता है। तन्त्र-ग्रन्थो मे साधना-विधियो को गुप्त रखने पर बार बार जोर दिया गया है, साथ ही कहीं कहीं ऐसी ऐसी विधियाँ भी बताई गई हैं जो देखने मे बड़ी सुगम मालूम पड़ती हैं, पर उनका फल बड़ा भारी कहा गया है। इस दिशा के अनजान लोगो के लिए यह गोरखधन्धा बड़ा उलझन-भरा है। वे कभी उसे अत्यन्त सरल समझते हैं और कभी उसे असत्य मानते हैं। पर वस्तुस्थिति दूसरी ही है। संकेत-सूत्रो की विधि से उन साधनाओ का थोड़ा-सा वर्णन करके तन्त्रकारों ने अपनी रहस्यवादी मनोवृत्ति का परिचय दिया है।

तन्त्र का विषय गोपनीय है, इसलिए तन्त्र-ग्रन्थो में ऐसी अनेक साधनाएँ प्राप्त होती हैं, जिनमे धन, सन्तान, स्त्री, यश, आरोग्य, पद-प्राप्ति, रोग-निवारण, शत्रु-नाश, पाप-नाश, वशीकरण आदि लाभो का वर्णन है और संकेत-रूप से उन साधनाओ का एक अंश बताया गया है। परन्तु यह भली प्रकार स्मरण रखना चाहिए कि इन संक्षिप्त संकेतो के पीछे एक भारी कर्मकाण्ड एवं विधि-विधान है। वह पुस्तको मे नही, वरन् अनुभवी, साधना-सम्पन्न व्यक्तियो से प्राप्त होता है।

अपनी साधना को गुप्त रखने का एक आध्यात्मिक कारण भी है। साधना की प्रसिद्धि जब दूसरो मे फैलती है, तो साधक का यश

फँसना स्वाभाविक है। इस सम्मान में साधक के मन क्षेत्र में अहङ्कार की प्रवृत्ति प्रविष्ट होती है, जो साधक के लिए अत्यन्त घातक सिद्ध होती है। यदि साधक इस स्तर पर पहुँच चुका हो, कि वह अपने तप की पूँजी से दूसरों को भी लाभान्वित कर सके, तब तो उसकी आत्मिक गिरावट के सभी चिन्ह दृष्टिगोचर होने लगते हैं। कारण स्पष्ट है—उसकी प्रसिद्धि सुनकर जनसाधारण उसके पास अपनी इच्छाओं और कामनाओं को पूरा करने के लिये पहुँचने लगते हैं। यदि किसी को किसी प्रकार का लाभ हुआ, तब तो वह सिद्ध पुरुष घोषित कर दिए जाते हैं और जनता भेड़-चाल में उसे घेर लेती है। साधक को भी अपनी सफलता पर प्रसन्नता होती है। अब वे उलझन में फँस जाते हैं। यदि किसी को निराश लौटना पड़ा, तो उनके सम्मान को धक्का लगेगा। सबकी आशाओं की पूर्ति करने लगे तो अपनी आत्मिक सम्पत्ति समाप्त हो जाएगी, जिसे पूरा करने के लिए काफी तपस्या करनी होगी। साधना-काल में दूसरों के अन्न पर शरीर का पालन-पोषण होने लगा तो साधना भ्रष्ट होने की सम्भावना रहेगी, क्योंकि जो अन्न ग्रहण कर रहे हैं, न जाने वह कैसा है? मानसिक निर्माण उस अन्न पर निर्भर करता है। इसीलिए कुलार्णव तन्त्र में स्पष्ट लिखा है—

> यस्यान्नेन तु पुष्टाङ्गो जप होम समाचारेत्।
> अन्नदातु फलस्यार्धं चार्धं कर्तुर्न संशय।।
>
> —कुलार्णव तन्त्र

"दूसरे व्यक्ति के अन्न से अङ्ग पुष्ट करके जप, हवन करने वाले साधक को उसका आधा फल ही मिल पाता है, उसका आधा तो अन्न देने वाले को मिलता है।"

साधना को प्रकट करने से हानि-ही-हानि परिलक्षित होती है, क्योंकि उससे अहङ्कार का पोषण होता है। इसे आध्यात्मिक मार्जन का महान् शत्रु माना जाता है। जब तक अहङ्कार मन में निवास करता है, तब तक साधना में प्रगति रुकी रहती है। निरहङ्कारी साधक ही

साधना में सफलता प्राप्त कर सकता है। अतः यह पुष्ट न होने पाए, इसके लिए तन्त्र-शास्त्रों में कड़े नियम निर्धारित किए गए हैं। उनमें प्रमुख है—अपनी साधना का किसी पर प्रकट न करना। तन्त्रों की आज्ञा है कि "जब जनसाधारण को यह पता चल जाता है कि यह व्यक्ति तांत्रिक साधक है, तो उसी दिन उस साधक की मृत्यु मान लेनी चाहिए।" इसलिए साधक की भलाई इसी में है कि वह अपनी साधना का ढोल न पीटे, वरन् उसे छिपाकर रखे तभी वह अन्त तक उसके निर्विघ्न संचालन में सफल हो पाएगा। प्रसिद्धि का लाभ उसके लिए सदैव फिसलने के अवसर उपस्थित करता रहेगा, यह निश्चित है।

• • •

तंत्र का अधिकार

तेपामेवैता ब्रह्मविद्या वदेत,
शिरोव्रत विधि वद्यैस्तु चीर्णम् ॥
(मुण्डक ३।२।१०)

"यह ब्रह्मविद्या उन्ही से कहे, जिन्होंने विधिपूर्वक शिरोव्रत यज्ञ सम्पन्न किया हो।"

विद्याह वै ब्राह्मण माजगाम गोपाय मा शेवधिष्ठेऽहमस्मि ।
—वशिष्ठ स्मृति

"ब्रह्मविद्या ब्राह्मण के पास पहुँची और बोली कि मैं ही तेरा खजाना हूँ।"

ब्राह्मण को भौतिक जीवन में भले ही निर्धन या अभावग्रस्त रहना पडता हो, पर उसके पास आत्मिक सम्पन्नता इतनी प्रचुर मात्रा मे होती है कि वह अपना ही नही, दूसरे असख्यो का भी कल्याण कर सकता है। अपने ही नही, दूसरो के जीवनो को भी आनन्द एव उल्लास से पूर्ण कर सकता है। स्वय तो रोग-शोकरहित होता ही है, दूसरो को भी निरामय, निशक, निर्भय एव निर्मल बना सकता है। जिसके निज के पास विभूतियो का भाण्डागार भरा पडा हो, उसके लिए दूसरो की छुट पुट सहायता कर सकना कुछ विशेष कठिन नही होता।

तपकल्प तत्वदर्शी ऋषियो के सम्पर्क एव आशीर्वाद से अनेको का भला होते नित्य ही देखा जाता है। यह अजस्र अनुदान करने की क्षमता उस ब्राह्मण को कहाँ से आती है, उसका रहस्योद्घाटन उपरोक्त कडिका

मे किया गया है । ब्रह्मविद्या ब्राह्मण के पास पहुँची और उसे उद्बोधन करते हुए कहा—"मैं ही तेरा खजाना हूँ ।" ऐसा खजाना जिसमें प्रत्येक स्तर की श्री, समृद्धि और सफलता प्रचुर परिमाण मे भरी पड़ी है । ऐसे खजाने का पता जिसे लग जाय अथवा जो उसके उपयोग का अधिकारी बन जाये उसे भला कमी रहेगी भी किस बात की । उसकी शक्ति एव सामर्थ्य की सीमा भी क्या रहेगी ? ब्राह्मण द्वारा अपना और दूसरो का असीम उपकार इसी आधार पर होता है । परा और अपरा महाशक्तियो का बीज-रहस्य जिसके हाथ लग गया हो, उसे इस ससार की कौन-सी विभूति उपलब्ध होने बच सकती है ।

महाशक्ति का यह महान् भाण्डागार सबके लिए खुला नही है । खजाने की ताली विश्वस्त खजाञ्ची के हाथ मे ही रहती है, हर कोई उसे अपने पास रखने का अधिकारी नही होता । उसी प्रकार शक्ति का वास्तविक एव परिपूर्ण लाभ प्राप्त करने के लिए साधक को अपना ब्राह्मणत्व परिपक्व एव परिपुष्ट करना होता है । उस महती अनुकम्पा को करतलगत करने मे पूर्व इस बात की परीक्षा देनी होती है कि वह ब्राह्मण है या नही ? जो इस कसौटी पर खरा उतरता है उसे महाशक्ति का साक्षात्कार होता है और वह सब कुछ मिल जाता है, जो भगवती के पास है ।

शक्ति उपासना का छुट-पुट लाभ कोई भी उठा सकता है । सकाम उपासनाएँ बीज-मन्त्रो का प्रभाव, अनुष्ठान एव पुरश्चरणो की शृङ्खला अपने ढङ्ग के लाभ प्रदान करती रहती है । उनके द्वारा साधक के छुट-पुट कष्ट दूर होने एव अभीष्ट सफलतायें प्राप्त होने का क्रम चलता रहता है । ऐसे लाभ और चमत्कार आये दिन देखने को मिलते रहते हैं, पर यह सब हैं छोटे स्तर की वस्तुएँ । अमुक कष्ट को दूर कर लेना या अमुक सफलता को प्राप्त कर लेना कोई बहुत बडी बात नहीं है । ऐसा लाभ तो भौतिक प्रयत्नो से भी प्राप्त किया जा सकता है । उपासना का लाभ तो अन्तरात्मा को अनन्त सामर्थ्य से भर देना और चन्दन वृक्ष की

तरह स्वय ही सुगन्धित होने के साथ-साथ समीपवर्ती झाड-झखाडो को को भी अपने ही समान सुरभित कर दता है। ऐसा उच्चस्तरीय लाभ प्राप्त करने के लिए मनुष्य को ब्राह्मणत्व के अनुरूप गुण-कर्म स्वभाव अपने मे उत्पन्न करने पडते है। तभी वह खजाना मिलता है, जिसके लिए ब्रह्मविद्या ने ब्राह्मण का उद्बोधन करते हुए उसे उस महान् भाडागार को हस्तगत कर लेने की प्रेरणा की है।

भगवती की शक्तियाँ सत्पात्र पर ही अवतरित होती है। स्वर्ग से उतरकर गगा पृथ्वी पर आई, तो उनके धारण करने के लिए शिव जी को अपनी जटाये फैलाकर अवतरण की पृष्ठभूमि तैयार करनी पडी थी। भागीरथ के तप से प्रसन्न होकर गङ्गा ने पृथ्वी पर उतरने का वरदान तो दिया था, पर साथ ही यह भी कह दिया था कि मेरी धारा को सभालने वाली भूमिका न बनी तो धारा पृथ्वी मे छेद करती हुई पाताल को चली जायगी, उसका लाभ भूलोकवासियो को न मिल सकेगा। इस आवश्यकता की पूर्ति जब शङ्कर भगवान ने कर दी तब ही गङ्गावतरण सम्भव हो सका। महाशक्ति की भी ठीक यही स्थिति है, उसे धारण करने के लिए समर्थ पृष्ठभूमि की अनिवार्य रूपसे आवश्यकता है और इस आवश्यकता की पूर्ति ब्राह्मणत्व के गुण-कर्म-स्वभाव से सम्पन्न साधक ही कर सकता है। ऐसा ब्राह्मण मन्त्र की महाशक्ति को अपने मे धारण कर सकता है और उससे व्यक्ति एव समाज का महान् उपकार साध सकता है। कहा भी है—

देवाधीन जगत्सर्वं मन्त्राधीनाश्च देवता।
ते मन्त्रा ब्राह्मणाधीनास्तस्माद् विप्रोह देवता॥

—मत्स्य पुराण

"देवताओ के आधीन सब ससार है। वे देवता मन्त्रो के आधीन हैं। वे मन्त्र ब्राह्मण द्वारा प्रयुक्त होते हैं, इसलिए ब्राह्मण भी देवता हैं।"

महर्षि वशिष्ठ इसी प्रकार के सुर—पृथ्वी के देवता थे। उनके

पास नन्दिनी कामधेनु—अर्थात् भगवती की महाशक्ति थी। राजा विश्वामित्र के साथ जब वशिष्ठ का युद्ध हुआ और राजा की विशाल सेना परास्त हो गई तो विश्वामित्र के मुख से यही निकला—"धिग् बल क्षत्रिय बल—ब्रह्म तेजो बलम्-बलम्" अर्थात् भौतिक बल धिक्कारने योग्य, तुच्छ एव नगण्य है। वास्तविक बल तो ब्रह्मबल ही है। वही मन्त्र-बल है, वही सच्चा बल है—यह कहते हुए विश्वामित्र ने राज-पाट का परित्याग कर दिया और ब्रह्मबल प्राप्त करने के लिए तप करने लगे।

यहाँ किसी बिरादरी की चर्चा नही की जा रही है। हर बिरा-दरी मे हर स्तर के लोग पाए जाते हैं। यहाँ गुण-कर्म स्वभाव से ब्राह्मणत्व अपने भीतर विकसित कर सकें, उन्ही साधको की चर्चा की जा रही है और उन्ही के लिए ब्राह्मण शब्द प्रयुक्त किया जा रहा है। वे ही मन्त्र-शक्ति के अधिकारी हो सकते हैं।

इसका तात्पर्य यह नही है कि ब्राह्मण बिरादरी के अतिरिक्त दूसरी बिरादरी वाले उसकी पूजा नही कर सकते, वरन् यह है कि—जो इस महाशक्ति का परिपूर्ण लाभ उठाना चाहें, उसे जप-तप ही नही, ब्राह्मणत्व का अवतरण भी अपने व्यवहारिक जीवन मे करना चाहिए। जितना शुद्ध चरित्र होगा, उतनी ही साधना प्रखर होगी। सच्चरित्र की थोडी सी उपासना भी इतना अद्भुत लाभ दिखाती है, जितनी कि दुश्चरित्र एव अस्थिरमति व्यक्ति के आजीवन क्रिया-कृत्य भी नही कर सकते। ब्राह्मणत्व यदि अपने भीतर पैदा कर लिया जाय, तो शक्ति-उपासना के जो लाभ शास्त्रकारो ने बताये हैं, उसकी सत्यता अक्षरश प्रत्यक्ष की जा सकती है।

यह किसी जाति विशेष की महत्ता का प्रतिपादन नही है और न किसी जाति को उपासना के अधिकार से वचित करना है। इन शास्त्र-वचनो से इस तथ्य का प्रकटीकरण किया गया है, जो अपने मानसिक, बौद्धिक एव भावनात्मक स्तर को निर्मल बनाकर जितना

ब्रह्मवर्चस प्राप्त कर लेगा, उतनी ही अधिक—उतनी ही शीघ्र, उतनी ही उच्चस्तर की सिद्धि-सफलता मिलेगी। शक्ति-उपासना का आलम्बन ग्रहण करने वाले को जप-अनुष्ठानो की भाँति ही अपनी मनोभूमि के परिष्कृत करने की साधना मे सलग्न होना चाहिए।

ब्राह्मणेतर वर्ण भी शक्ति-उपासना का लाभ उठा सकते हैं, उसकी चर्चा शास्त्रो मे जगह-जगह उपलब्ध होती है।

जातिगत बन्धन लगाने का शास्त्रो मे कोई उल्लेख नही है। केवल इतना ही कहा गया है कि जो इस महाशक्ति का वास्तविक लाभ उठाना चाहे वे अपने आतरिक एव व्यवहारिक जीवन में ब्राह्मणत्व की विशेषताएँ उत्पन्न करें। जो इस दिशा मे प्रयत्नशील रहे हैं, उन्होने इतना कुछ पाया है कि स्वय धन्य हुए हैं और दूसरो को धन्य बनाया है। जिन्होने जप-ध्यान तक ही अपने को सीमित रखा, वे लौकिक जीवन की छुटपुट समृद्धियाँ प्राप्त कर सकने के स्वल्प लाभो से आगे बढकर कोई अधिक महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त न कर सके। कारण स्पष्ट है—शारीरिक और मानसिक अनाचार बरतने से आत्मशक्ति का इतना क्षरण हो जाता है कि फिर साधक मटियाले सर्प की तरह निस्तेज हो रहता है। किसी मन्त्र-तन्त्र के सहारे भी अपना आतरिक वर्चस्व बढाने का अवसर नही मिलता। आज के अगणित पूजा-भजन में सलग्न व्यक्ति इसी प्रकार तेजरहित जीवन बिता रहे हैं। उनने उपासना को सरल जानकर उसे तो अपनाया, पर जीवन-शोधन की कठिन प्रक्रिया से बचते-कतराते रहे। ऐसे लोगो को आत्मबल और उसके मिलने वाली महान् उपलब्धियाँ भला मिलें भी तो कैसे अपने आशीर्वाद से किसी का भला कर सकेंगे तो कैसे ?

अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्

आलस्यात् अन्न दोपाच्च मत्यूर्विप्रान् जिघामति

वेदो का अभ्यास न करने से, आचार छोड देने से, आलस्य से, कुधान्य खाने से ब्राह्मण की मृत्यु हो जाती है ।

जिह्वा दग्धा परान्नेन करौ दग्धौ प्रतिग्रहात् ।
मनोदग्ध परस्त्रोभि कथ सिद्धिर्वरानने ।।

पराया अन्न खाने से जिह्वा की शक्ति नष्ट हो गई, दान-दक्षिणा लेते रहने से हाथो की शक्ति चली गई, पर नारी की ओर मन डुलाने से मन नष्ट हो गया । हे पार्वती ! इन ब्राह्मणो को सिद्धि कैसे मिले ?

वादार्थं पठ्यते विद्या परार्थं क्रियते जप ।
ख्यात्यर्थं दीयते दान कथ सिद्धिर्वरानने ।।

वाद-विवाद के लिये विद्या पढी, दूसरो से दक्षिणा लेकर जप किया, कीर्ति के लिए दान किया । ऐसे लोगो को हे पार्वती, सिद्धि कैसे मिले ?

अनध्यापन शील च सदाचार विलघनम् ।
सालस च दुरन्नाद ब्राह्मण बाधते यम ।।

स्वाध्याय न करने से, आलस्य से और कुधान्य खाने से ब्राह्मण का पतन हो जाता है ।

देखा जाता है कि अभी भी कितनेक व्यक्ति शक्ति-उपासना करते हैं और उसके फलस्वरूप ज्ञान एंव विज्ञान की उपलब्धि चाहते हैं किन्तु कुछ कहने लायक सफलता नही मिलती । इसका कारण उनके उपासना-क्रम का अधूरापन ही है । साधारण साधना का विधि-विधान शास्त्रो मे सार-रूप मे लिखा हुआ है, उसमे कोई बडी पेचीदगी नही है । विधि - विधानो की मामूली जानकारी प्रामाणिक ग्रन्थो के आधार पर की जा सकती है । उन्हे कर सकना भी कुछ विशेष कठिन नही है । लोग करते भी हैं, कर भी रहे है पर साधारण कठिनाइयो या मामूली-सी कामनाओ की पूर्ति के अतिरिक्त वस्तुत' कोई इतना बडा प्रभाव उन्हे नही दीखता, जिससे यह अनुमान लगाया जा सके कि तन्त्रो

मे वर्णित आत्म-विद्या के असख्य चमत्कारी लाभो मे से—ऋद्धि-सिद्धियो मे से—कुछ की उपलब्धि वे कर सकेगे।

इस असफलता से निराश होने की आवश्यकता नही, वरन् यह देखना है कि यह अवरोध उत्पन्न क्यो होता है। इसका एकमात्र कारण साधक का शरीर और मन उस उच्च स्तर का न होना ही है, जिसमे कि आध्यात्मिक साधनायें फलित होती हैं। गन्ने की, गुलाब की या दूसरी कीमती फसलें पैदा करने के लिए वाटिका को जमीन की आवश्यकता पडती है। उसमे खाद पानी का समुचित प्रवन्ध करना होता है। यदि ऐसा न हो सके, ऊसर, बजर मे बिना जोते-बोए बीज बो दिया जाए, वहाँ खाद-पानी तथा सुरक्षा का प्रवन्ध न हो, तो अच्छी फसल की आशा किस प्रकार से की जा सकेगी ? आध्यात्मिक साधनाएँ—जिनमे शक्ति-उपासना प्रमुख है, एक प्रकार की वैज्ञानिक कृषि है। उसके लिए उपयुक्त साधन आवश्यक हैं। इस सदर्भ मे सबसे अधिक आवश्यकता साधक के उत्कृष्ट व्यक्तित्व की है। उसकी मनोभूमि उत्कृष्ट कोटि की होनी चाहिए। यह बढियापन जितना बढा-चढा होगा, उतनी ही साधना की सफलता सुनिश्चित रहेगी।

बढिया बन्दूक मे रखकर चलाये जाने पर कारतूस जैसा ठीक काम करता है, वैसा घटिया, नकली बन्दूक मे रखकर चलाने पर काम नही कर सकता है। कारतूस वही है पर बन्दूक के घटिया-बढिया होने पर वह अपना काम भी वैसा ही करता है। मन्त्र एक प्रकार का कारतूस है। व्यक्तित्व को बन्दूक कहना चाहिए। यदि साधक का चरित्र, स्वभाव, आचार, व्यवहार, दृष्टिकोण निकृष्ट स्तर का है, तो शक्ति-उपासना का प्रतिफल भी सन्तोषजनक न होगा। यदि कोई चरित्रवान्, इन्द्रिय-सयमी, तपस्वी, उदारमना एव देव-स्वभाव का मनुष्य उसी मन्त्र को जपेगा, उसी उपासना को करेगा, तो निकृष्ट स्तर के व्यक्ति की तुलना मे इसका परिणाम सैकडो गुना अधिक होगा। मन्त्र वही, विधान वही, फिर भी सफलता मे इतना अन्तर !

इस विषय मे किसी को शङ्काशील नही होना चाहिए। शक्ति-उपासना जादू नही, एक सर्वांगपूर्ण विधान है। घटिया रेडियो खडखड करती हुई जरा-सी आवाज मे बोलते है, जबकि बढिया-कीमती रेडियो बहुत साफ और बुलन्द आवाज मे बोलता है। दिल्ली से एक ही तरह की आवाज बोली जाती है, आकाश मे भी कम्पन एक से है, पर पास-पास रखे हुए दो रेडियो, जिनकी सुई उसी स्टेशन पर है, यदि आवाज की दृष्टि से बहुत बडा अन्तर प्रकट करते हैं, तो उसमे दोष किसी का नही, उन सस्ते और कीमती यन्त्रो का ही है। मीरा, सूर, तुलसी कबीर आदि ने जो हरि नाम लिया था, उसी को हम रोज लेते हैं पर हमारे लिए वही हरि-नाम कुछ भी प्रतिफल उत्पन्न नही करता, तो उसका दोष बाहर किसी को न देकर अपनी आन्तरिक दुर्बलताओ को ही देना चाहिए।

दशरथ को जब सन्तान-कामना की पूर्ति के लिए 'पुत्रेष्टि यज्ञ' कराने की आवश्यकता हुई, तो उसका विधि-विधान भली प्रकार जानते हुए भी महर्षि वशिष्ठ ने उसे पूरा करा सकने मे अपनी असमर्थता प्रकट की। इस पर दशरथजी ने आश्चर्य के साथ इसका कारण पूछा। वशिष्ठजी ने कहा—'पुत्रेष्टि यज्ञ का विधान तो मैं जानता हूँ पर व्यक्तित्व की दृष्टि से पूर्ण ब्रह्मचारी न होने के कारण उस विधान को सफलता-पूर्वक करने की सामर्थ्य से सम्पन्न नही। वर्तमान ऋषियो मे यह कार्य शृङ्गी ऋषि ही ठीक तरह पूरा करा सकते है, क्योंकि वयस्क हो जाने पर भी वनवास मे रहने के कारण उन्होंने रमणी को न तो देखा है और न उसकी कल्पना की है। ऐसे ब्रह्मचारी की आत्मा ही इतनी बलिष्ठ हो सकती है कि उसके द्वारा सफल पुत्रेष्टि यज्ञ कराया जा सके।' अन्तत शृङ्गी ऋषि को ही बुलाया गया और उन्ही के पौरोहित्य मे दशरथ का वह पुत्रेष्टि यज्ञ सफल हुआ, जिसके प्रभाव से राम, लक्ष्मण भरत, शत्रुघ्न जैसी आत्माओ को अवतरित होना पडा। यदि शृङ्गी ऋषि जैसे तपस्वी का पौरोहित्य न मिला होता, तो विधि-विधान

के पूर्ण ज्ञाता आचार्य द्वारा कराये जाने पर भी पुत्रेष्टि-यज्ञ सफल न होता।

मन्त्र यही है, विधि-विधान भी वही है, उनकी जानकारी वही है। उनकी जानकारी ग्रन्थो से तथा दूसरे विद्वानो से प्राप्त की जा सकती है। इतने पर भी उनकी वैसी महिमा, जैसी कि गाई गई है, अक्सर दृष्टिगोचर नही होती। इसका कारण उस विद्या का मिथ्या होना या विधि-विधान मे कोई फर्क रह जाना नही होता वरन् यह होता है कि उसे करने वाले का व्यक्तित्व एव चरित्र उस स्तर का उत्कृष्ट नही होता, जैसा कि आत्म-विद्या के सच्चे पथिक का होना चाहिए। साधक के लिए मन्त्र-विद्या का विधि-विधान जान लेना ही पर्याप्त नही, वरन् यह भी आवश्यक है कि वह अपने चारित्र एव मानसिक स्तर को पवित्र एव उत्कृष्ट बनाने मे सलग्न रहे।

शक्ति-उपासना के छुटपुट लाभ साधारण रीति से जप, अनुष्ठान करने वालो को भी मिल सकते हैं। गमलो मे छोटे-से फूल पौधे उगाये जा सकते हैं। पर यदि कोई विशाल वृक्ष लगाना हो, तो यह आवश्यक है कि उसके लिए ऐसी जमीन ढूँढी जाय, जिसमे होकर जडे नीचे गहराई तक प्रवेश कर सके। बरगद और पीपल के वृक्ष गमलो मे उग तो सकते हैं पर फलने-फूलने की स्थिति तक नही पहुँच सकते। भगवती की सामर्थ्य की कोई तुलना नही, पर वह पूरी तरह अपना प्रभाव तभी प्रकट कर सकती है, जब साधक की मनोभूमि काफी परिष्कृत एव सुसस्कृत बनाई गई हो। उपासना का विधि-विधान ठीक तरह जानना और उसका कर्मकाड उचित तरीके से पूरा करना, अभीष्ट सफलता प्राप्त करने के लिए आवश्यक है पर उससे भी ज्यादा आवश्यक यह है कि साधक अपने भावना-स्तर को अधिकाधिक ज्योतिर्मय बनाने के लिए हर सम्भव प्रयत्न करे।

उपासना, भजन-पूजन के विधि विधान को—जप, तप, धारणा, ध्यान आदि को कहते हैं। साधना अपने गुण कर्म स्वभाव को व्यवस्थित,

सुसंस्कृत एवं परिष्कृत बनाने को कहते हैं। उपासना को बीज और साधना को भूमि कहते हैं। यदि भूमि अच्छी न होगी, तो बीज के फलित होने की आशा नहीं की जा सकती। यदि किसी साधक ने अपने आहार-विहार, विचार-व्यवहार, क्रिया-कलाप, उद्देश्य-दृष्टिकोण को परिष्कृत बनाने के लिए श्रम नहीं किया है और केवल मन्त्र-विद्या के क्रिया-कलापों को ही पूरा करता है, तो समझना चाहिए—उसका श्रम ऊसर में गुलाब का बगीचा उगाने के प्रयास जैसा है। मन्त्रों की शक्ति बेशक बहुत बड़ी है, पर उनका लाभ हर व्यक्ति नहीं उठा सकता। जिन्हें उपासना का चमत्कार देखना हो, उन्हें अपने आपको उसी तरह तपाना चाहिए जैसे अग्नि में सोने को तपाकर उसे विकाररहित किया जाता है। शुद्ध सोने का ही उचित मूल्य मिलता है।

कच्ची मिट्टी के बने घड़े, खिलौने एवं ईंटें कमजोर रहते हैं, पर जब उन्हें आग में पका लिया जाता है, तो वे मजबूत हो जाते हैं और देर तक ठहरते हैं। अभ्रक एक सस्ती वस्तु है, पर जब उसका सौ बार अग्नि-संस्कार किया जाता है, तो वह बहुमूल्य अभ्रक-रसायन बन जाती है। साधक का चरित्र और व्यक्तित्व जितना निर्मल होगा, उपासना उतनी ही जल्दी, उतनी ही अधिक प्रतिफलित होगी। दुष्ट दुराचारी, स्वार्थी और संकीर्ण, गन्दे और निकम्मे आदमी मन्त्र-शक्ति का चमत्कारी परिणाम प्राप्त कर सकने में वंचित ही रह जाते हैं।

महाभारत में सावित्री द्वारा सत्यवान के वरण की कथा आती है। सावित्री किसी को अपना साथी बनाना चाहती थी, किसी के साथ अपने को घुला देना चाहती थी। ऐसे साथी की खोज में वह देश-देशान्तरों में घूमती रही। अन्तत, उसे उपयुक्त व्यक्ति मिल गया—वह था सत्यवान। लकड़हारे, निर्धन, असहाय सत्यवान को राजकन्या सावित्री ने इसलिए वरण किया कि वह आन्तरिक सम्पदाओं का धनी था। उसके गुण-कर्म-स्वभाव का स्तर ऊँचा था। वरण कृत्य हो गया। सत्यवान का आयुष्य एक वर्ष में ही पूरा हो चला, यम उसका प्राण

ले जाने आये। पर सावित्री ने यम के हाथों से अपने सहचर को छुड़ा लिया। अपनी शक्ति द्वारा उसे अजर-अमर बना दिया।

यह अलंकारिक कथा उपासना की सफलता का रहस्य भली प्रकार समझा देती है। शक्ति अपनी सारपूर्ण कृपा प्रदान करने के लिए उपयुक्त व्यक्ति को खोजती है। ऐसा सहचर सत्यवान—सत्यनिष्ठ-सदाचारी, उत्कृष्ट आंतरिक स्तर का व्यक्ति ही हो सकता है। जब दोनों का साथ हो जाता है, तो भगवती अपना चमत्कार दिखाती है। उसे यम के पाश से छुड़ाकर अजर-अमर बना देती है। शक्ति के पास जितना कुछ विभूति-भंडार है, वह सुसंस्कृत साधक--सत्यवान--को मिल जाता है। यदि किसी को इस महाशक्ति की सिद्धियों का साक्षात्कार करना हो, तो उसे उपरोक्त कथानक में समाये हुए रहस्यपूर्ण तत्वज्ञान को हृदयंगम करना चाहिए।

ब्राह्मणत्व का अभिवर्धन शक्ति-उपासना की सफलता का मूलभूत आधार है। छुटपुट लाभ मामूली साधना से सामान्य स्तर के साधक भी पा सकते हैं, पर यदि इस शक्ति का सच्चा स्वरूप और वास्तविक चमत्कार देखना हो, तो अपने गुण-कर्म-स्वरूप में ब्राह्मणत्व की मात्रा निरन्तर बढ़ाते चलने के लिये साधकों को सच्चे मन से कटिबद्ध होना चाहिए। माता इसी आधार पर अपने अक्षय कोष का अधिकार किसी को प्रदान करती है।

शक्ति-साधना का लाभ और चमत्कार देखने के इच्छुकों को केवल साधना-विधान के कर्मकाण्ड की बारीकियों को ही नहीं ढूँढते रहना चाहिए वरन् अपनी शारीरिक एवं मानसिक भूमिका का भी परिष्कार करने के लिए सचेष्ट रहना चाहिए। ठीक है—विधि-विधानों का भी अपना महत्व है। ठीक है--बीज-मन्त्र तथा दक्षिणमार्गी, वाममार्गी साधना-विधान अपना विशिष्ट प्रतिफल पैदा करते हैं पर इनके लिए उनकी समुचित जानकारी इस महाविद्या के प्रयोगकर्ताओं को ठीक तरह अनुभव और अभ्यास में लानी चाहिए। इसके लिए अनुभवी मार्गदर्शक

और ऋषि-परम्परा की शास्त्रीय पद्धति का अवलम्बन ग्रहण करना चाहिए। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि आध्यात्मिक उपासनाओं के पथ पर गतिशील होने के आकांक्षी साधक को अपने व्यक्तित्व की उत्कृष्टता बढ़ाना तथा स्थिर रखना नितान्त आवश्यक है। आत्मिक प्रगति की यह एक अनिवार्य शर्त है।

बढ़िया किस्म का बाण भले ही हो, पर उसे ठीक निशाने तक पहुँचाने के लिए बढ़िया मजबूत धनुष भी तो चाहिए। सड़ी-घुनी लकड़ी के धनुष का तीर के लिए निशाने तक फेंक सकना तो कठिन है ही— इस खींच-तान में वह अपनी भी दुर्गति करा लेगा। ओछे आदमी घृणित और निकृष्ट दृष्टिकोण अपनाकर जीवन-यात्रा कर रहे हैं। ऐसे कुसंस्कारी भले ही जप-तप का बाह्य आवरण पूरा करते रहें, वह कर्मकाण्ड उनकी आन्तरिक प्रगति में कुछ विशेष सहायता न कर सकेगा।

प्राचीन काल में ऐसे अनेक साधक हुए हैं, जिनका साधना-विधान कोई बड़ी शास्त्रीय परम्परा पर आधारित न था फिर भी उन्हें अपने उद्देश्य की पूर्ति में आशाजनक सफलता मिली। कबीर की शिक्षा स्वल्प थी, उन्हें मार्गदर्शक भी अनुभवी नहीं मिला। सन्त रामानन्द उनके ऐसे ही गुरु थे, जैसे एकलव्य के द्रोणाचार्य। वे प्रत्यक्ष में कबीर के गुरु होने की बात से इन्कार करते रहे। रैदासकी वंश-परम्परा ने उन्हें शास्त्रीय साधना-पद्धति का लाभ लेने से वंचित रखा। मीरा केवल भजन, कीर्तन, नृत्य एवं भावोन्माद तक अपना साधना-विधान सीमित रख सकी। शबरी किस प्रकार की उपासना-पद्धति अपनाए रही, कुछ पता नहीं चलता। वाल्मीकि तो सीधा राम-नाम भी न ले सके, उन्हें 'मरा-मरा' का उल्टा नाम जपकर ही आगे बढ़ना पड़ा। ऐसे उदाहरण साधना-इतिहास के पन्ने-पन्ने पर भरे पड़े हैं और आज भी ऐसे अनेक साधक मिलते हैं, जिनकी शिक्षा और साधना-पद्धति उपहासास्पद है। फिर भी उन्होंने काफी आत्मिक प्रगति कर ली। इसका एकमात्र कारण व्यक्तित्व की उत्कृष्टता ही थी। मानवीय सद्भावों वाहुल्य यही उनकी

वह विशेषता थी, जिसने उच्चस्तरीय सफलता का अधिकारी उन्हे बना दिया।

दूसरी ओर ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं, जिनमे उपासना का शास्त्रीय एव वैज्ञानिक प्रकरण भली प्रकार जानते हुए भी साधक कुछ आशाजनक लाभ प्राप्त न कर सके। रावण, कुम्भकरण, मारीच, भस्मासुर, वृत्रासुर, हिरण्यकश्यप, मधुकैटभ आदि अगणित व्यक्ति उच्च कुलो मे उत्पन्न हुए थे, उनके गुरु भी शुक्राचार्य जैसे पारगत थे। उन्होने कठिन तपश्चर्यायें भी की और वरदान भी पाए, फिर भी इन सुविधाओ का कोई विशेष लाभ उन्हे नही मिला। उनकी आत्मिक प्रगति नगण्य रही। जो साधना-तपश्चरण उनने की वह उनकी आत्मा का, उनके परिवार का, सारे समाज का कुछ भी हित साधन न कर सकी। अतएव हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचना होगा कि जिन्हे वस्तुत आध्यात्मिकता का लाभ लेना हो, इस मार्ग पर चिरस्थायी आशाजनक प्रगति करनी हो, उन्हें सबसे पहले—सबसे अधिक—ध्यान इस बात पर देना चाहिए कि उनका व्यक्तित्व, दृष्टिकोण, गुण, कर्म, स्वभाव सस्थान—अन्त करण-चतुष्टय उत्कृष्ट स्तर का बने। यही ब्राह्मणत्व है। ब्रह्म-वर्चस की सारी शक्ति, चेतना एव क्षमता इसी आधार पर उपलब्ध होती और बढती है।

ब्राह्मणत्व के आधार पर तन्त्रो मे तीन प्रकार की शक्ति-उपासना का विधान प्राप्त होता है—स-कल, निष्कल और मिश्र। सकल उपासना निकृष्ट कोटि की, उभय उपासना मध्यम कोटि की और निष्कल उपासना उत्तम कोटि की मानी जाती है।

शास्त्र मे भी कहा है—

चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिण।
उपासकाना कार्यार्थी ब्रह्मणो रूप कल्पना॥

अर्थात् चिन्मय, अद्वितीय, अशरीरी उपासक के लिए ब्रह्म के रूप की कल्पना की गई है।

अग्नौ तिष्ठति विप्राणां हृदि देवो मनीषिणाम् ।
प्रतिमास्वप्रबुद्धानां सर्वत्र विदितात्मनाम् ॥

—कुलार्णव तन्त्र

अर्थात्, ब्राह्मणों के उपास्य देवता अग्नि में, मनीषी व्यक्तियों के हृदय में, अप्रबुद्धों की प्रतिमा में रहते हैं और आत्मज्ञानी को सर्वत्र ही ब्रह्म के दर्शन होते हैं।

प्रारम्भिक उपासकों के लिए साकार उपासना का ही अधिकार है। सगुण मूर्ति का ध्यान करते हुए वह निर्गुण अथवा निष्कल ध्यान का अधिकारी बनता है।

विश्वसार तन्त्र में उपासना के सात अधिकारों का वर्णन किया गया है—

भावत्रयगतान् देवि सप्ताचारांश्च वेत्ति यः ।
स जनः सकलं वेत्ति जीवन्मुक्तः स एव हि ॥

अर्थात् जो उपासक भावत्रय के अन्तर्गत सप्ताचार का ज्ञान रखते हैं, वे सर्वज्ञ और जीवन्मुक्त हैं।

तन्त्र में अन्यत्र भी कहा है—

आचारस्त्रिविधः प्रोक्तः साधकानां मनीषिभिः ।
दिव्यदक्षिणवामाश्चाऽधिकाराः सप्त कीर्त्तिताः ॥
सप्ताऽधिकाराः विदुषः साधकस्य मता इमे ।
दीक्षा ततो महादीक्षा पुरश्चरणमेव च ॥
ततो महापुरश्चर्य्याऽभिषेकस्तदनन्तरम् ।
षष्ठो महाऽभिषेकश्च तद्भावोऽन्तिम ईरितः ॥
साधकोऽनेन लभते मोक्षं नाऽस्तीह संशयः ।
एषां सप्ताऽधिकाराणां नामानि विविधानि वै ॥
तन्त्राऽऽदिशास्त्रे कथितान्याचारस्याऽनुसारतः ।
परस्परं विप्रतीयावाचारौ वामदक्षिणौ ॥

द्वयोरभिन्नलक्ष्यत्वेऽप्येक प्रवृत्तिनिष्ठिन ।
निवृत्तिनिष्ठो ह्यपर प्रवृत्तिर्हि निसर्गजा ॥
महाफला निवृत्तिस्तु विज्ञेया वेदवादिभि ।
अतो ह्युपासनाया व आचारो द्विविधो मत ॥
उपासनाऽन्तर्भावा वै त्रिविधाश्चापि शुद्धय ।
आचारै पारचीयन्ते प्रोक्तमेतत्मनीषिभि ॥
स्वाऽऽचारभेदा विज्ञेया गुरुदेवोपदेशत ।
निवृत्तिमार्गपथिका रता यत्र निसर्गत ॥
दिव्याऽऽचार स भवति यस्तृतियतया मत ।
द्वौ वामदक्षिणाऽऽचारौ विरुद्धौ हि परस्परम् ॥
दिव्याऽऽचारो ना विरुद्ध सर्वजीवहितप्रद ।
वाम प्रवृत्तिपरको दक्षिणस्तु निवृत्तिग ॥
दिव्याचार उभाभ्या वै पर श्रेयस्करो मत ।
द्विवधस्तु भवत्येष वामदक्षिणभेदत ॥
आचार शक्ति पूजाया सवतन्त्रानुसारत ।
शक्तिप्रधान्य तस्चारमेऽच्छक्ति पूजाविधौ नृणाम् ॥
साधनानो सुविस्तार क्रियते तत्वदर्शिभि ।
अधिकारोऽत्र पूजाया द्विविधो दृश्यते तथा ॥
तन्त्रेषु बहुविस्तार शक्तिपूजाविधेरभूत् ।
दक्षिणाऽऽचारतो योऽय विपरीतो भवेदिह ॥
वामाऽऽचार स विज्ञेयस्तन्त्रशास्त्रविशारदै ।
जने सत्वप्रवाने तु दिव्याचार प्रशस्यते ॥
पश्वाऽऽचारो रजोमुख्ये वामाऽऽचारश्च तामसे ।
वामाचारश्च योऽय वै वीराऽऽचार स कथ्यते ॥
लोककल्याणसिद्धयर्थं निर्णीतोऽसौ कलौयुगे ।
स्वा स्वा प्रकृतिमाश्रित्य जीवा परावशा कलौ ॥

वामाऽऽचार मनुष्ठाय लप्स्यन्ते शुभमव्ययम् ।
एव प्रवृत्तिकार्येषु निवृत्तेर्लक्ष्यतावशात् ॥
नून प्रवृत्ति चेष्टासु घोरास्वपि च साधक ।
प्रभवेत्साधितु सिद्धि मात्मनश्चोन्नति सदा ॥
वामाऽऽचाररहस्य वै ह्येतन्मुनिसमादृतम् ।
वामाऽऽचारक्रियामुख्य लतासाधनवर्णनम् ॥
विहित तन्त्रमर्मज्ञै' प्रायश' शक्त्युपासने ।
अन्येषु सम्प्रदायेषु युग्मोपासनवर्णना ॥
विहिता यत्र तत्रैव क्रियेयमुपवर्णिता ।
यथा द्वैविध्यमापन्नो दक्षिणाऽऽचार उच्यते ॥
वामाऽऽचारे तथा चाष्टौ भेदा प्रोक्ता हि तान्त्रिकै ।
वामाऽऽचारेऽधिकारा स्यु सदा वै परिकीर्त्तिता ।
प्राप्यन्ते साधकैस्त हि गुरुदेवकृपावशात् ॥

साधको के लिए आचार्यो ने तीन तरह के आचार बताए हैं—दिव्य, दक्षिण और वाम । उपासक के सात अधिकार बताए हैं—दीक्षा, महादीक्षा, पुरश्चरण, महापुरश्चरण, अभिषेक और महाअभिषेक और तद्भाव । निस्सन्देह इन अधिकारो के माध्यम से उपासक मोक्ष को प्राप्त कर सकता है । उपासक के इन सप्त अधिकारो के नाम तन्त्र-शास्त्रो मे दिव्य, दक्षिण और वाम आचारो के अनुसार बहुत तरह के हैं, जिनका अपने-अपने सम्प्रदायो मे व्यवहार होता है । वाम और दक्षिण दोनो मे परस्पर विरोध है । दोनो का उद्देश्य निवृत्तिमूलक होने पर भी एक का झुकाव प्रवृत्ति की ओर और दूसरे का निवृत्ति की ओर है । प्रवृत्ति की ओर झुकाव स्वाभाविक होता है । निवृत्ति महा-फल प्रदायिनी है । इसलिए उपासना मे दोनो प्रकार के आचारो का वर्णन आता है । विद्वानो का कहना है कि आचार-उपासना के अन्तर्भावो का परिचायक है । अपने अपने आचार के भेद मे गुरु जानने

चाहिए। जिस आचार मे निवृत्ति मार्ग के पूर्ण अधिकारीगण सलग्न रहते हैं, वह पूर्ववर्णित दोनो आचारो से भिन्न है। वाम और दक्षिण दोनो आचारो का आपस मे विरोध है। परन्तु दिव्याचार की दोनो से अनुकूलता है और वह समस्त प्राणियो के कल्याण के लिए है।

वामाचार प्रवृत्ति पर और दक्षिण निवृत्ति पर आधारित है। दिव्याचार दोनो से ऊपर हैं और द्वद्वातीत होने से परमानन्दप्रद स्वीकार किया गया है। तन्त्र के मत से शक्ति-उपासना मे आचार—वाम और दक्षिण दो प्रकार का वर्णित किया गया है। इसमे शक्ति की प्रधानता है। तान्त्रिको का कहना है कि दक्षिणाचार के विरुद्ध आचार वाम कहा जाता है। उपासक जब सात्विक प्रवृत्तियो को अपनाता हैं, तो दिव्याचार लाभदायक सिद्ध होता है। रजोगुण की ओर झुकाव वाले साधक के लिए पश्वाचार कल्याणकारी होता है। तमोगुणी उपासक को वामाचार का अधिकार दिया गया है। यह कलियुग मे लोक-कल्याण के लिए निश्चित किया गया है। कलियुग मे साधक अपनी मनोभूमि के अनुसार इसका उपभोग कर सकेंगे। चूँकि इन प्रवृत्ति की क्रियाओ मे निवृत्ति का लक्ष्य रहता है, इसलिए प्रवृत्ति-मार्ग मे सलग्न रहते हुए भी आत्मोन्नति की ओर अग्रसर हो सकता है। मुनियो ने वामाचार का यही रहस्य बताया है। तन्त्रो की शक्ति-साधना मे लता-साधन का उल्लेख आता है, जो वामाचार क्रिया-प्रधान है। युगल उपासना विधि प्रधान वैष्णव सम्प्रदायो मे भी किसी-किसी तन्त्र मे इस क्रिया का वर्णन आता है। दक्षिणाचार जिस तरह दो प्रकार का बताया जाता है, उसी प्रकार वामाचार के आठ भेद तान्त्रिको ने बताए हैं। इस आचार मे साधक के सात अधिकार स्वीकार किए गए हैं, जो धीरे-धीरे प्रगति-पथ पर आरूढ साधक गुरु-कृपा से प्राप्त करता है। इसलिए तन्त्र मे वर्णन करते हुए कहा गया है--

पर द्रव्येपु योऽन्धश्च परस्त्रीषु नपु सक'।
परापवादे यो' मूक सवदा विजितेन्द्रिय ॥

तस्यैव ब्राह्मणापात्र वामे स्यादधिकारिता ॥

(मेरुतन्त्र)

जो पर-द्रव्य के लिए अन्धा है, पर-स्त्री के लिए नपुंसक है, है, पर-निन्दा के लिए मूक है और जो इन्द्रियों को सदा अपने वश मे रखता है, ऐसा ब्राह्मण ही वाम मार्ग का अधिकारी होता है।

तन्त्राणामतिगूढत्वात्तद्भावोऽप्यतिगोपित ।
ब्राह्मणो वेद शास्त्र तत्वज्ञो बुद्धिमान वशी ॥
गूढ तन्त्रार्थ भावस्य निर्मंथ्योद्धरणे क्षम ।
वाम मार्गाधिकारी स्यादितरो दुखभाग भवेत् ॥

(भावचूडामणि)

"तन्त्रो के अति गूढ होने के कारण उनका भाव भी अत्यन्त गुह्य है। इसलिये वेद-शास्त्रो के अर्थ-तत्व को जानने वाला जो बुद्धिमान और जितेन्द्रिय पुरुष उनके गूढ अर्थ का मन्थन करके उद्धार करने मे समर्थ हो, वही वाममार्ग का अधिकारी हो सकता है। उसके सिवा दूसरा दुःख का ही भागी होता है।"

तांत्रिक आचार्यों का कहना है कि तन्त्र की उच्चतम उपासना उसे प्राप्त होती है, जिसका गुरु-कृपा से सुषुम्ना मे प्रवेश हो जाता है और जिसकी कुण्डलिनी शक्ति का उद्‌बोधन हो जाता है। तन्त्र का मत है कि जो उपासक इन्द्रियो और प्राणो को रोककर कुल-मार्ग मे सक्रिय नही हो जाता, वह शक्ति की निकृष्ट उपासना का भी अधिकारी नही है। तन्त्र के अनुसार जब तक षट्चक्र मन्थन न कर लिया जाए तब तक द्वैत की परसमाप्ति असम्भव है। अद्वैत सिद्धि ही देवी की उत्तम उपासना है और इसी साधना का अधिकारी श्रेष्ठ माना जाता है। यह अधिकार प्राप्त करने के लिए तांत्रिक सिद्धान्तो का गम्भीर अनुशीलन और साधन-मार्ग का निष्ठापूर्वक अनुगमन आवश्यक है। तभी देवी का वरद् हस्त प्राप्त हो सकता है।

• • •

तंत्र-साधना में उदार भावना

वेद मे कही भी जाति-भेद और स्त्री-पुरुष मे असमानता के प्रमाण उपलब्ध नही होते हैं। यदि वेदो के विचार इतने सकुचित होते तो इन्हे विश्वव्यापी ख्याति कैसे प्राप्त होती ? यदि प्राचीन भारतीयो मे असमानता की भावना जाग्रत होती, तो वह सारे विश्व मे भारतीय सस्कृति का डका बजाने अपने देश से बाहर न जाते, अपने सिद्धान्तो व उपासना-पद्धति को केवल अपने अपने तक ही सीमित रखते। परन्तु व्यवहारिक रूप मे ऐसा नही हुआ। भारतीय धर्म सारे विश्व मे फैला, आज भी जिसके चिह्न यदा-कदा मिल जाते हैं।

ऐसा लगता है कि मध्यकालीन अन्धकार-युग मे आचार्यों ने शास्त्रो मे अपनी विचारधारा के अनुकूल श्लोक बनाकर मिला दिए, जो कही-कही तो स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं। सम्भव है, उस समय कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उपस्थित हुई हो, जिनके कारण उन्हे ऐसा करना पडा हो, परन्तु आज यह किसी तरह भी उपयुक्त नही है कि जाति-भेद को जाग्रत करके और स्त्री-पुरुष मे असमानता के निम्न विचारो को उभारकर उपासना मे प्रतिबन्ध लगाए जाएँ। इससे राष्ट्र का सास्कृतिक विकास कुण्ठित होने की सम्भावना है।

आज भी कुछ ऐसे लोग हैं, जो मध्यकालीन आचार्यो के प्रक्षिप्त श्लोको को आधार मानकर स्त्रियो व निम्न वर्णों पर वेदाध्ययन व उपासना सम्बन्धी प्रतिबन्ध के पक्ष मे हैं और कही-कही तो दोनो ओर से कडे सघर्ष भी देखे गये हैं। यह भारतीय और वैदिक विचारधारा के बिल्कुल प्रतिकूल है।

सकुचित विचारधारा के विद्वान् शङ्कराचार्य के 'द्वार किमेक नारकस्य नारी' मे लेकर 'ढोल गँवार, शूद्र, पशु, नारी। ये सब ताडन के अधिकारी' तक के प्रमाण उद्धृत करते हैं। कुछ अन्य मुख्य प्रमाण वे इस प्रकार देते हैं।

स्त्री शूद्रौ ना धीयताम् इति श्रुते ।

अर्थात् स्त्री और शूद्रो को अध्ययन [विशेषत वेद का] न करना चाहिये, ऐसा श्रुति कहती है।

अमन्त्रिका तु कार्येय स्त्रीणाम्तदशेषत ।
सस्कारार्थं शारीरस्य यथाकाल यथाक्रमम् ॥२।६६
वैवाहिको विधि स्त्रीणा सस्कारो वैदिक स्मृत ।
पतिसेवा गुरौवास, गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया ॥

—मनु० २।६७

अर्थात् स्त्रियो के जातकर्मादि समस्त सस्कार बिना मन्त्रो के करने चाहिए। स्त्रियो का विवाह-सस्कार ही उपनयन स्थानीय वैदिक सस्कार है, ऐसा मनु आदि स्मृतिकारो ने बताया है। पति-सेवा ही गुरुकुल मे वास और वेदाध्ययन रूप है। घर का काम-काज ही उनके लिये हवन है। इसलिए विवाह के विधान से उपनयन, वेदाध्ययन और अग्निहोत्र की पूर्ति की जाती है।

स्त्री शूद्र द्विजबन्धूना त्रयी न श्रुति गोचरा ।

—भागवत

अर्थात् स्त्रियो, शूद्रो और नीच ब्राह्मणो को वेद सुनने का अधिकार नही है।

यह स्पष्ट रूप से शास्त्रो के प्रक्षिप्त श्लोक हैं, क्योकि यह प्राचीन वैदिक भावना के विरुद्ध हैं।

स्त्रियो को वेदाधिकारी न होने का प्रतिबन्ध वेदो मे नही है। वेदो मे तो ऐसे कितने ही मन्त्र हैं, जो स्त्रियो द्वारा उच्चारण होते हैं।

उन मन्त्रोमे स्त्रीलिंग की क्रियाये हैं, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि वे स्त्रियो द्वारा ही प्रयोग होने के लिए हैं। देखिए—

उदसौ सूर्यो अगाद् उदय मामको भग अह,
तद्विद वला पतिमभ्य साक्षि विषा सहि।
अह केतु रह मूर्धाहमुग्रा विवाचनी,
ममेदनु क्रतु पति सेहा नाया उपाचरेत्॥
मम पुत्रा शत्रुहणऽथे मे दुहिता विराट।
उताहमस्मि स जया पत्यौ मे श्लोक उत्तम॥

—ऋग्वेद १०।१५१।२-३

अर्थात्—सूर्योदय के साथ मेरा सौभाग्य बढे। मैं पतिदेवको प्राप्त करूँ। विरोधियो को पराजित करने वाली और सहनशीला बनूँ। मैं वेद से तेजस्विनी प्रभावशाली वक्ता बनूँ। पतिदेव मेरी इच्छा, ज्ञान व कर्म के अनुकूल कार्य करें। मेरे पुत्र भीतरी व बाहरी शत्रुओ को नष्ट करे। मेरी पुत्री अपने सद्गुणो के कारण प्रकाशवान् हो। मैं अपने कार्यों से पतिदेव के उज्ज्वल यश को बढाऊँ।

त्र्यम्बक यजामहे सुगन्धिम् पति वेदनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनादितो मुक्षीय मामुत॥

—यजु० ३।६०

अर्थात् हम कुमारियाँ उत्तम पतियो को प्राप्त कराने वाले परमात्मा का स्मरण करती हुई यज्ञ करती हैं, जो हमें इस पितृकुल से छुडा दे, किन्तु पतिकुल से कभी वियोग न कराये।

नीचे कुछ मन्त्रो में वधू को वेद-परायणा होने के लिए कितना अच्छा आदेश दिया हुआ है—

ब्रह्म पर युज्यता ब्रह्म पूर्व ब्रह्मान्ततो मध्यतो
ब्रह्म सर्वत अनव्याधा देव पुरा प्रपद्य शिवा
स्योना पतिलोके विराज।

—अथर्व० १४।१।६४

अर्थात् हे वधू ! तेरे आगे, पीछे, मध्य तथा अन्त मे सर्वत्र वेद विषयक ज्ञान रह। वेद-ज्ञान को प्राप्त करके तदनुसार तू अपना जीवन बना। मगलमयी सुखदायिनी एव स्वस्थ होकर पति के घर मे विराज और अपने सद्गुणो से प्रकाशवान् हो।

या दाम्पत्ति समनसा सुनतु आ व धावत ।
देवासा नित्ययाऽशिरा ।

—ऋग्वेद ८।३१।५१

हे विद्वाना ! जो पति-पत्नी एक-मन होकर यज्ञ करते हैं और ईश्वर की उपासना करते हैं, वे सदा सुखी रहते हैं।

त्रित्वा ततस्त्रे मिथुना अवस्यव यद
गव्यन्ता द्वाजना समूहसि । —ऋग्वेद २।१६।६

हे परमात्मन् ! तेरे निमित्त यजमान पत्नी सहित यज्ञ करत हैं। तू उन लोगो को स्वर्ग की प्राप्ति कराता है, अतएव वे मिलकर यज्ञ करते है।

शूद्रो क अनधिकार की घोषणा भी निराधार है, क्योकि यहाँ वर्ण व्यवस्था का आधार जन्म नही, गुण-कर्म स्वभाव रहे हैं।

महाभारत के शान्ति पर्व अध्याय १८८ श्लोक १, ३, ८ मे भारद्वाज ने पूछा—

यदि रग-भेद से वर्णो का विभाजन किया जाय, तो सभी वर्णों मे सभी रग के लोग पाये जात हैं।

यदि काम, क्रोध, भय, लोभ, शोक, चिन्ता, क्षुधा श्रम आदि मानसिक स्थिति के आधार पर वर्ण-विभाजन किया जाय, तो यह बात भी सब वर्णो मे मौजूद है।

मल, मूत्र, पसीना, कफ, पित्त, खून भी सब शरीरो मे समान है, फिर वर्ण-भेद कैसे हो ?

इस पर भृगु ने श्लोक १० से १५ तक मे इस प्रकार उत्तर दिया—

वर्णों की कोई विशेषता नही। इस समस्त संसार को ब्रह्माजी ने ब्राह्मणमय ही बनाया है। तत्पश्चात कर्मों के अनुसार वर्ण बने।

जो काम-भोग मे रुचि रखने वाले, तीखे स्वभाव के, क्रोधी, दुस्साहसी प्रकृति के लाल रंग के थे, वे ब्राह्मण, क्षत्रिय हो गये।

ब्रह्म कर्म जिन्होने छोड दिये और कृषक-गोपालक बने, पीले रंग के थे, वे वैश्य कहलाये।

जो हिंसा, झूठ, लोभ सभी कामो मे आजीविका कमाने वाले, गन्दे और काले रंग के थे, वे शूद्र बन गये।

इस प्रकार इस कार्य भेद के कारण ब्राह्मण ही पृथक्-पृथक् वर्णों के हो गये। इसलिए धर्म, कर्म और यज्ञ-क्रिया उनके लिए विहित है—निषिद्ध नही।

इन चारो वर्णों का वेद, विचार तथा धर्म-कार्यों मे समान अधिकार है। ब्रह्माजी का यही पूर्ण विधान है। लोभ के कारण ही लोग अज्ञान को प्राप्त होकर इसका विरोध करते हैं।

कर्म से वर्ण परिवर्तन—

वज्रसूचिका उपनिषद् म अनेकों ऐसे उदाहरण दिये गए हैं, जिनमे अन्य वर्णों के घरो मे जन्मे बालक अन्य वर्ण को प्राप्त हुए है।

"तो क्या जन्म जाति को ब्राह्मण मानें? नही, यदि ऐसा होता है, तो मनुष्यो की भाँति ही अन्य जीव-जन्तुओ मे भी ऐसा ही जाति-भेद होता। बहुत-से ऋषियो का जन्म अन्य जातियो मे भी हुआ है। मृगी से ऋष्यशृङ्ग, कुश से कौशिक, जम्बुक से जाम्बुक, वल्मीक से बाल्मीक, कैवर्त कन्या से व्यास, शशपृष्ठ से गौतम, उर्वशी से वशिष्ठ कुंभ से अगस्त्य उत्पन्न हुए। हीन जाति से भी बहुत ज्ञान-सम्पन्न ऋषि हुए है, इसलिए जाति ब्राह्मण नही है।"

पुत्रो गृत्सदमस्यापि शुनको यस्य शौनका ।
ब्राह्मणा' क्षत्रियाश्चैव वैश्या शूद्रास्तथैवच ॥

—हरिवंश पुराण १५।१६-२०

अर्थात् गृत्समद के पुत्र शुनक हुए । शुनक से शौनक नाम से विख्यात ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र-पुत्र उत्पन्न हुए ।

वर्ण-व्यवस्था का इतिहास बताते हुए भागवतकार ने कहा है कि प्राचीनकाल मे सभी मनुष्य का एक ही वर्ण था । महाभारतकार का कथन है कि यह एक ही वर्ण पीछे गुण-कर्म-स्वभाव मे चार प्रकार का बन गया ।

एक एव पुरा वेद प्रणव सर्ववाड्मय ।
देवो नारायणो नान्य एकोऽग्निवर्ण एव च ॥

—श्रीमद्भागवत स्कन्ध ६।१४

सर्वप्रथम एक ही वेद, एक ही सर्ववाड्गमय प्रणव, एक ही अद्वैत नारायण, एक ही अग्नि और एक ही वर्ण था ।

एकवर्णमिद पूर्वं विश्वमासीद् युधिष्ठर ।
कम क्रिया विभेदेन चातुर्वर्ण्यं प्रतिष्ठितम् ॥

सर्वे वै योनिजा मर्त्या सर्वे मूत्रपुरोपजा' ।
एकेन्द्रियान्द्रियार्थश्च तस्माच्छील गुणैर्द्विज' ॥

शूद्रोऽपि शील सम्पन्नो गुणवान् ब्राह्मणो भवेत् ।
ब्राह्मणोऽपि क्रियाहीन' शूद्रात् प्रत्यवरो भवेत् ॥

—महाभारत वन पर्व अ० १८०

"इस संसार मे पहले एक ही वर्ण था । पीछे गुण और कर्म के भेद के कारण चार वर्ण बने । सब मनुष्य-योनि से ही पैदा होते हैं, मल मूत्र के स्थान मे ही जन्मते हैं, सबमे एक-सी इन्द्रिय वासनायें हैं । इसलिए जन्म से जाति मानना ठीक नहीं । कर्म की प्रधानता से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य माने जाते । यदि शूद्र उत्तम कर्म वाला हो, तो

उसे ब्राह्मण मानना चाहिए और जो कर्तव्यहीन ब्राह्मण हो, तो उसे शूद्र से नीचा मानो ।

गीता मे भगवान् कृष्ण ने भी इसी तथ्य की पुष्टि की है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्ट गुण कर्म विभागश ।—गीता ४।१३

अर्थात् मैंने गुण कर्म के विभाग के अनुसार ही चार वर्ण उत्पन्न किए हैं ।

वर्ण-व्यवस्था सनातन नही है । इसे तो सामाजिक सुविधा की दृष्टि से शौनक ने प्रचलित किया—

गृत्समदस्य शौनकश्चातुर्वर्ण्यं प्रवर्तयिताभूत् ।

—विष्णु-पुराण अ० ४।८-१

अर्थात् गृत्समद के पुत्र शौनक ने चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था प्रवर्तित की ।

इसी प्रकार के और भी अनेक प्रमाण शास्त्रो मे उपलब्ध होते हैं । महाभारत अनु० १४३ मे कहा है—

"सद् आचरण से सभी कोई ब्राह्मण हो सकते है । शूद्र भी यदि सच्चरित्र है, तो वह ब्राह्मणत्व को प्राप्त होता है । ब्राह्मण यदि कर्तव्य-च्युत है, तो शूद्र हो जाता है ।"

न शूद्रा भगवद् भक्ता विप्रा भागवता स्मृता ।—भारत

अर्थात् भगवान् के भक्तो को शूद्र नही कहा जा सकता । उन्हे तो ब्राह्मण ही कहना चाहिए ।

चत्वार एकस्य पितु सुताश्च तेषा सुताना खलु जातिरेका ।
एव प्रजाना हि पितक एव पित्रैकभावान्न च जातिभेद ।।भ पु

अर्थात् जिस प्रकार एक ही पिता के चार पुत्रो की जाति एक ही होती है, उसी प्रकार एक ही पिता की सन्तान यह चारो वर्ण भी एक ही जाति के हैं ।

वेद ने भी चारो वर्णों को समान अधिकार दिए है । यजुर्वेद २६।२ मे लिखा है—कल्याण करने वाली इस वाणी को ब्राह्मण, राजा, शूद्र, वैश्य अपने जनो और समस्त जनो के लिए कहता हूँ । यजुर्वेद

३०।७ से २० तक निम्न वर्ण के व्यक्तियो के नाम गिनाए गए हैं और उनकी अपने कार्यों के लिए नियुक्ति की गई हैं। कही भी उनके लिए निषेध का वर्णन नही है। अथर्ववेद ६२।१६ मे भी घोषणा की है "हे अग्ने ! मुझे देवताओ का प्रिय बनाओ और मुझे राजा का भी प्रिय करो। मैं सब शूद्रो का, आर्यों का और सब देखने वालो का भी स्नेह-भाजन होऊँ।" अन्य अनेक स्थानो पर आदेश दिया गया है कि हमे सबमे मिलकर बैठना चाहिए, एक सङ्गठन-सूत्र मे अपने को पिरोना चाहिए, हमारी सभायें एक साथ हों, हम मिलकर खाये, पियें, मिलकर अपनी सामाजिक समस्याओ का समाधान करें। वेद मे कही एक दूसरे के प्रति घृणा के बीज बोने की प्रेरणा नही दी है। यह सम्भव भी कैसे हो सकता है जब भारतीय सस्कृति ने समानता के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। भारतीय सच्चे अर्थों मे आस्तिक थे। आस्तिकता का अभिप्राय वह यह समझते थे कि ईश्वर की बनाई समस्त वस्तुओ मे प्रेम-भाव होना चाहिए। सभी प्राणी उसके प्रिय पुत्र हैं। किसी के प्रति भी भेद-भाव का बर्ताव करना ईश्वर के प्रति अपमान करना है और यही नास्तिकता है। जब हम स्पष्ट रूप से देखते हैं कि ईश्वर का बनाया सूर्य अपनी स्वाथ्यप्रद किरणो को देखने के लिए धनवान और निर्धन, काले और गोरे, ब्राह्मण और शूद्र, पुरुष और स्त्री का पक्षपात नहीं करता, चन्द्रमा की शीतल किरणें सभी को एक समान प्रकाश व शान्ति प्रदान करती हैं, बाघ और बकरी दोनो सरिता मे जलपान के लिए स्वतन्त्र हैं, वायु प्राणीमात्र को बिना मूल्य उपलब्ध है, और परमात्मा यदि स्वय जातियो का निर्माण करते, तो इन वस्तुओ की उपलब्धि मे भेद-भाव रखते। परन्तु वास्तव मे ऐसा नही है। वह अपनी सन्तान को एक समान बढता देखना चाहते हैं।

प्राचीनकाल मे वर्ण-व्यवस्था का यह विभाजन स्थिर नही माना जाता था। ब्राह्मण के पुत्र को ब्राह्मण स्वीकार नही किया जाता था, जब तक कि उसमे ब्राह्मणत्व के भाव न हो। नीच कर्म करने वाला

ब्राह्मण पतित होकर शूद्र के समान समझा जाता था। श्रेष्ठ कर्म करने वाला शूद्र, ब्राह्मणत्व तक पहुँच सकता था। इतिहास साक्षी है कि छोटी जाति मे जन्म लेन वालो ने परम सन्त पद पाए और समाज ने उन्हे यथेष्ट मान दिया। शूद्र कहे जाने वाले अनेको ऋषि-मुनि हुए हैं, जिनको मन्त्र-दृष्टा तक माना गया है। जिस जाति के सदस्य मन्त्रदृष्टा तक सकते हैं, उन्ह वेदो क अध्ययन से वचित रखा जाता होगा, इसमे सन्देह ही है। महर्षि अत्रि और वशिष्ठ के उदाहरण हमारे सामने हैं, जो परम भागवत थे। उन्होन समाज को बहुत कुछ दिया। समाज उनका चिर-ऋणी रहेगा। कबीर, रामानन्द, रामानुज आदि की सेवाओ को कौन भूल सकता है। देवर्षि नारद देश-विदेश मे धर्म का प्रचार करते थे, परन्तु वह दासी-पुत्र थे। वाल्मीकि ब्राह्मण थे, परन्तु प्राय उन्हे शूद्र समझा जाता है क्योकि उन्होने जीविकोपार्जन के लिए निम्न कोटि क काय करना आरम्भ कर दिया था। यद्यपि विश्वामित्र ने अपने गुणो के आधार पर ब्राह्मणत्व प्राप्त किया था, स्मरण रहे कि वह क्षत्रिय राजा थे।

जब हर वर्ण अपनी योग्यता के अनुसार अपना विकास करने के लिए स्वतन्त्र था, तो भक्ति क क्षेत्र मे किसी पर कोई बाधा उपस्थित होने का प्रश्न ही नही उठता। सभी को समान अधिकार प्राप्त थे। 'नारद भक्ति-सूत्र' के सूत्र ७८ मे स्पष्ट कहा है 'भक्ति साधन क लिए ऊँच-नीच, स्त्री पुरुष, जाति, विद्या, रूप, कुल, धन और क्रिया का कोई भेद नही है।' पद्म-पुराण मे भी भक्ति-साधन के लिए समानता का व्यवहार बरता गया है और कहा है कि 'भगवान की भक्ति का अधिकार सभी देशो, युगो, जातियो और स्थितियो के मनुष्यो को है।' —अ० ४२।१०। सत्य भी है, भक्ति का अर्थ है प्रेम, घृणा नही। सभी प्राणी ईश्वर के बनाए हुए हैं, उसके पुत्र हैं। उनके प्रति प्रेम प्रदर्शित करना, उनके विकास के साधन जुटाना ही सच्ची भक्ति है, महर्षि पाणिनि ने भक्ति का भावार्थ करते हुए लिखा है। 'भज सेवायम'

जिसमे उन्होने 'भज' धातु का अर्थ सेवा ही स्थिर किया है। प्राणीमात्र की निःस्वार्थ सेवा ही ईश्वर की सच्ची भक्ति है। भेद-भाव का वर्ताव तो अभक्ति को प्रदर्शित करता है। भगवान ने गीता मे कहा है कि मेरा प्रिय भक्त वह है "जिसका किसी से द्वेष नही है, जो सब भूतो के साथ मित्रता का वर्ताव करता है और कृपादृष्टि से देखता है"—१२-१३। "जो प्राणीमात्र मे समानता का अनुभव करता हुआ मेरी परम भक्ति को पाता है।"—१८-५४

जिस धर्म की यह उदार विचारधारा हो, वह अनुदार विचार-धारा का प्रचार कैसे कर सकता है—यह समझ मे नही आता।

स्त्रियो पर लगाए प्रतिबन्ध भी निराधार हैं, क्योकि वैदिक साहित्य मे काफी सख्या मे ऐसे प्रमाण मिलते हैं, जिनसे स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि प्राचीनकाल मे स्त्रियो के साथ कोई भेद-भाव नही वरता जाता था।

वेदो ने चारो वर्णों और स्त्रियो को उच्चतम उपासना के लिए खुली छूट दे रखी है, परन्तु फिर भी आज व्यवहार मे केवल तीन वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तक ही सीमित है। लेकिन तन्त्रो मे ऐसी कोई व्यवस्था नही है। तन्त्र की शिक्षाएँ और उपासनाएँ चारो वर्ण और स्त्रियाँ स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकती हैं। महानिर्वाण तन्त्र १४।१८४ का उद्घोष है—

विप्राद्यन्त्यजपर्यन्तादियता येऽत्र भूतले।
ते सर्वेऽस्मिन् कुलाचारे भवेयुराधिकारिणः॥

'ब्राह्मण से लेकर अन्त्यज पर्यन्त—इस पृथ्वी के जितने भी निवासी हैं, उनका इस कुलाचार मे अधिकार है।'

शाक्ता, शैव वैष्णवाश्च सौरगाणपतास्तथा।
विप्रा विप्रेतराश्चैव सर्वेऽप्यत्राधिकारिणः॥

—महानिर्वाण तन्त्र

अर्थात् शाक्त, शैव, वैष्णव, सौर, गाणपत्य किसी भी मत का अनुयायी क्यो न हो, ब्राह्मण या ब्राह्मणेतर वर्ण का हो, सभी को ब्रह्म-मन्त्र मे दीक्षित होने का अधिकार है।

त्रिपुरायाश्च ये मन्त्रा ये मन्त्रा वटुकादय ।
सर्ववर्णेषु दातव्या पुरन्ध्रीणा विशेषत ॥
हृदादिहुफट्कारादि सङ्कराणा प्रशस्यते ॥

—नित्योत्सव

"त्रिपुरादेवी और वटुकादि के जो मन्त्र हैं, वे समस्त वर्णों को देवे, स्त्रियो को विशेष रूप से देवे, हुं, फट् आदि हो वे मन्त्र सङ्कर वर्ण के लोगो के लिए प्रशस्त होते हैं।"

छिन्नमस्ताच मातगी त्रिपुरा कालिका शिव ।
लघु श्यामा कालिरात्रिर्गोपालो जानकीपति' ॥
उग्रताराभैरवश्च देया वर्णचतुष्टये ।
मृगीदृशा विशेषेण मन्त्राएते सुसिद्धिदा' ।
ब्राह्मण' क्षत्रियो वैश्या' शूद्रानार्योधिकारण' ॥

"छिन्नमस्ता, मातगी, त्रिपुरा, कालिका, शिव, लघु श्यामा, काल-रात्रि, गोपाल, राम, उग्रतारा, भैरव के मन्त्र को जपने का अधिकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी को है।"

यह गर्व तन्त्र को ही प्राप्त है कि वैदिक-पद्धति पर तो मध्य-कालीन आचार्यो को प्रतिबन्ध लगाने की सूझी, परन्तु तन्त्रो पर उनको ऐसा आघात करने का साहस न हुआ। तन्त्र के अनुसार ईश्वर ने तन्त्र-उपासना कुछ सीमित वर्गो के लिए ही तो सुरक्षित नही रखी है वरन् हर वर्ण और जाति का सदस्य बिना किसी भेद-भाव के इसके सिद्धान्तो के अनुसार अपने जीवन का विकास कर सकता है। यह मार्ग उन सभी के लिये प्रशस्त है, जिनमे इस ज्ञान के अर्जन के लिए जिज्ञासा है। जिज्ञासु के लिए स्तर की जाँच की कोई आवश्यकता नही है।

पुरुषों की भांति ही स्त्रियां भी तांत्रिक-उपासना कर सकती हैं। केवल उपासिका ही नहीं, वह गुरु होने की भी अधिकारिणी हो सकती हैं। कुछ तन्त्रों का तो ऐसा मत है कि स्त्री गुरु से दीक्षा लेने वाला साधन-पथ पर प्रगति से बढ़ता है।

भेदभाव-रहित उपासना में स्वतन्त्रता प्रदान करना ही तन्त्रों की उल्लेखनीय विशेषता है, जिसका अन्य पद्धतियों में अभाव है।

• • •

तन्त्र-साहित्य की विशालता

कोई समय था जब तन्त्रों का विशाल साहित्य उपलब्ध था। आज उनमें से बहुत कम देखने में आता है। तन्त्र-ज्ञान के अभाव के कारण जनसाधारण में इस साहित्य के प्रति जो उपेक्षा-भाव बरता गया उसके अध्ययन और विकास की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया, अतः उसका विलुप्त होना स्वाभाविक ही था।

कहा जाता है कि बौद्धों के नालन्दा विश्वविद्यालय में अन्य विषयों के साथ तन्त्र भी अध्यापन का एक विषय था, क्योंकि बौद्धों का अपना भी तन्त्र-साहित्य है। परन्तु मुस्लिम राज्य के समय यह साहित्य नष्ट हो गया। पुस्तकालय-के-पुस्तकालय जला डाले गये। श्रीरसिकमोहन चट्टोपाध्याय ने कुछ तन्त्र-ग्रन्थों को बचाया। सर जान वुडरफ ने अनेकों तन्त्रों का उद्धार किया।

वेदों की तरह तन्त्र-साहित्य का भी बहुत विस्तार था। जो संकेत मिलते हैं, उनसे उसकी विशालता का अनुमान लगाया जा सकता है। तन्त्र-ग्रन्थों में कहा गया है—

सप्त सप्त सहस्राणि संख्यातानि मनीषिभिः।

इस उद्धरण के अनुसार तो १४००० तन्त्र-ग्रन्थों के प्रचलन की सूचना मिलती है। इसमें से तो बहुत कम साहित्य उपलब्ध है।

तन्त्र के मानने वालों के अनेकों सम्प्रदाय थे। उनका अपना अपना अलग साहित्य था। वैष्णव आगम १०८, शैव आगम २८ और शाक्त आगमों में ६४ कौल ग्रन्थ, ८ मिश्र और ५ समय आगम माने जाते हैं।

शाक्त सम्प्रदाय मे तीन विभाग हैं—१ कौल आगम, २ मिश्र आगम और ३ समय आगम। शक्ति विषयक तन्त्र-शास्त्र व्यूहो मे विभक्त है। सत्वादि तीन गुणो के अनुसार इन तीन व्यूहो को तन्त्र, यामल और डामर कहा जाता है। प्रत्येक मे ६४ ग्रन्थो का समास कर सारा साहित्य १९२ ग्रन्थो का स्वीकार किया जाता है।

'वाराही तन्त्र' मे ७५ शिवोक्त तन्त्रो का नाम आता है जिनकी श्लोक संख्या ९,९७,६४८ है। 'आगम तत्व विलास' ग्रन्थ के लेखक का विश्वास है कि २०८ तन्त्र-ग्रन्थ आज भी उपलब्ध है। बौद्धो के विशाल तन्त्र-साहित्य मे से आज सस्कृत भाषा के ७८ ग्रन्थ प्राप्य हैं। तिब्बत मे तन्त्र-साहित्य को ७८ भागो मे बांटा गया है। इसमे से २६४० ग्रन्थो प्राप्त होना बताया जाता है।

जिस तरह से हिन्दू धर्म के तन्त्रो के निर्माण का श्रेय महादेव जी को दिया जाता है, उसी तरह बौद्ध धर्म के तन्त्रो को वज्रसत्वशुद्ध ने बनाया है, ऐसा माना जाता है। यह तन्त्र भी सस्कृत भाषा मे है और इनकी सख्या काफी है। कुछ प्रधान बौद्ध तन्त्रो के नाम उद्धृत करते हैं—

१—परमार्थ सेवा २—श्यामयमारि ३—साधन-परीक्षा ४—ज्ञानसिद्धि ५—तीर्थावतार ६—प्रमोद महायुग ७—बुद्धकपाल ८—क्रिया समुच्चय ९—वज्रसत्व १०—उड्डायर ११—हयग्रीव १२—मायाजाल १३—मंजुश्री मूल कल्प १४—योगिनी सचार १५—मणिक कर्णिका १६—साधन सग्रह १७—साधन कल्पलता १८—साधनरत्न १९—योगेश्वर २०—डाकिनी जाल २१—कालवीर तन्त्र का चण्डरोपण २२—तारा २३—वज्र धातु २४—त्रैलोक्य विजय २५—यमान्तक २६—सकीर्ण २७—ज्ञानोदय २८—गुह्य समाज २९—साधन माला ३०—श्री चक्र सवर ३१—सद्धर्म पुण्डरीक ३२—सुखावत व्यूहचक्र ३३—वाराही तन्त्र ३४—पिंडीक्रम ३५—योगाम्बर पीठ ३६—कालचक्र ३७—योगिनी ३८—तन्त्र समुच्चय ३९—नाम सगीति ४०—वसन्त तिलक ४१—पीत यमारि ४२—कृष्ण

यमारि ४३—शुक्ल यमारि ४४—रक्त यमारि ४५—सम्पुटोद्भव ४६—हे वज्र ४७—सम्वरतन्त्र वा सम्वरोदय ४८—क्रियासग्रह ४९—क्रियाकद ५०—क्रिया सागर ५१—क्रिया कल्पद्रुम ५२—क्रियार्णव ५३—अभिधानोत्तर ५४—साधन समुच्चय ५५—तत्त्व-ज्ञान सिद्धि ५६—गुह्य सिद्धि ५७—उड्डान ५८—नागार्जुन ५९ योग पीठ ६०—वज्र वीर ६१—मरीचि ६२—विमल प्रभा ६३—सम्पुट ६४—मर्मकालिका ६५—कुरुकुल ६६—भूनगमर ६७—योगिनी जाल ६८—योगाम्बर पीठ ६९—वसुन्धरा साधन ७०—नैरात्म ७१—डाकार्णव ७२—क्रियासार ७३—क्रियावसन्त ७४—गूढात्पादनाम सगीति ७५—निष्पन्न योगाम्बर तन्त्र नादि। अनेको बौद्ध तन्त्रो का चीनी और तिब्बती भाषा मे अनुवाद हो चुका है।

बौद्धो का शाक्त-साहित्य भी कम महत्वपूर्ण नही है। अनेको सस्कृत ग्रन्थ इस सम्बन्ध मे उपलब्ध है। कुछ के नाम इस प्रकार है—१—तारा कल्प २—तारा तन्त्र ३—तारा प्रदीप ४—तारा रहस्य ५—तारा विकल्प ६—तारा सूत्र ७—तारा स्तोत्र ८—तारा मूलबोध ९—तारा कल्पलता १०—तारा कवच ११—तारातत्व १२—तारा पजिका १३—तारा पद्धति १४—तारा पञ्चाग १५—तारा पाराजिका १६—तारा पूजा-प्रयाग १७—तारार्चन चन्द्रिका १८—तारा-रहस्य वृत्तिका १९—तारा-पूजन नाम विधि २०—तारा-पूजन वल्लरी २१—तारा-पूजन रसायन २२—तारा भक्त तरगिणी नाटक २३—ताराभक्ति सुधार्णव २४—तारार्णव २५—तारार्चन तरङ्गिणी २६-तारा विलासोदय २७-तारा षट्पदी २८—तारा सहस्रनाम २९—तारा अष्टोतर शतनाम स्तोत्र आदि।

सौन्दर्य लहरी के ३१वे श्लोक की लक्ष्मीधर कृत टीका के अनुसार शुभागम पञ्चक के नाम इस प्रकार है

१ वसिष्ठ सहिता २ सनक सहिता ३ शुक सहिता ४ सनन्दन सहिता ५ सनत्कुमार सहिता।

ललित सहस्रनाम के ८८ वें श्लोक पर सौभाग्य भास्कर की टीका के अनुसार २८ आगम इस प्रकार हैं

कामिक, योगज, कारण, प्रसृतागम, अजितागम, दीप्तागम, अंशुमानागम, सुप्रभेदागम, विजयागम, निःश्वासागम, स्वायम्भुवागम, अनलागम, वीरागम, रौरवागम, मुकुटागम, विमलागम, चन्द्रज्ञानागम, बिम्बागम, प्रोद्गीत, ललितागम, सिद्धागम, सन्तानागम, किरणागम, वातुलागम, सूक्ष्म, सहस्र, सर्वोत्तर, परमेश्वर।

प्रसिद्ध तान्त्रिकाचार्य अभिनव गुप्त ने अपने विख्यात ग्रन्थ 'तन्त्रालोक' में इसकी चर्चा की है

दशाष्टादशवस्वष्टभिन्न यच्छासन विभो ।
तत्सार त्रिकशास्त्र हि तत्सार मालिनीमतम् ॥

अर्थात् दश शिवागम १८ रुद्रागम और ६४ भैरव तन्त्रो मे विभक्त ईश्वर के शासन के सार को त्रिकशास्त्र कहते हैं। मालिनी तन्त्र उसका सार है।

राजानुक जयरथ ने भी इस श्लोक की व्याख्या की है। इसमे उन्होंने 'श्रीकण्ठी' नामक ग्रन्थ की चर्चा करते हुए आठ द्वैतवादी, आठ द्वैताद्वैतवादी और ६४ अद्वैतवादी तन्त्रो को गिनाया है। नाम इस प्रकार हैं,

(१) भैरव तन्त्र--

१ स्वच्छन्द २ भैरव ३ चन्ड ४. क्रोध ५ उन्मत्त भैरव ६ असिताग ७ महोच्छुष्म ८ कपालीश।

(२) यामलतन्त्र--

९ ब्रह्मयामल १० विष्णुयामल ११ स्वच्छन्द १२. रुरु १३ ...... १४ आथर्वण १५ रुद्र १६ वैताल।

(३) मत---

१७ रक्त १८ लम्पट १९ लक्ष्मीमत २०. मत २१ चालिका २२ पिंगला २३ उत्फुल्लक २४. विश्वाद्य।

(४) मङ्गल तन्त्र---

२५ पिचु भैरवी २६ तन्त्र भैरवी २७ ब्राह्मी २८ कला २९ विजया ३० चन्द्रा ३१ मङ्गला ३२ सर्वमङ्गला।

(५) चक्राष्टक---

३३ मन्त्रचक्र ३४ वर्णचक्र ३५ शक्तिचक्र ३६. कलाचक्र ३७ बिन्दुचक्र ३८ नादचक्र ३९ गुह्यचक्र ४० खचक्र।

(६) बहुरूप---

४१ अन्धक ४२ रुरुभेद ४३ अज ४४ मूल ४५ वर्णभण्ठ ४६ विडङ्ग ४७ ज्वालिन ४८ मातृरोदन।

(७) वागीश---

४९ भैरवी ५० चित्रिका ५१ हसा ५२ कदम्बिका ५३ हृल्लेखा ५४ चन्द्रलेखा ५५ विद्युल्लेखा ५६ विद्युमान्।

(८) शिखाष्टक--

५७ भैरवी ५८ वीणा ५९ वीणामणि ६० सम्मोह ६१ डामर ६२ अथर्वक ६३ कवन्ध ६४ शिरश्छेद।

आर्थर अवलेन ने 'तन्त्र विधान' की भूमिका मे 'महा सिद्धिसार तन्त्र' की चर्चा करते हुए तन्त्र को तीन भागो मे विभक्त किया है--
१ विष्णुक्राता २ रथक्राता ३ अश्वक्राता। इन वर्गों के तन्त्र इस प्रकार हैं—

विष्णुक्राता वर्ग के तन्त्र-ग्रन्थ—

सिद्धीश्वर, कालीतन्त्र, कुलार्णव, ज्ञानार्णव, नीलतन्त्र, फेत्कारी, देव्यागम, उत्तर, श्रीक्रम, सिद्धियामल, मत्स्यसूक्त, सिद्धिसार, सिद्धि सारस्वत, वाराही, योगिनी, गणेश विमर्शिनी, नित्यतत्र, शिवागम, चामुण्डा, मुण्डमाला, हसमहेश्वर, निरुत्तर, कुलप्रकाश, देवीकल्प, गघर्व, क्रियासार, निवध, स्वतत्र, सम्मोहन, तत्रराज, ललिता, राधा, मालिनी, रुद्रयामाल, वृहद्श्रीक्रम, गवाक्ष, सुकुमुदनी, विशुद्धेश्वर, मालिनी विजय,

समयाचार, भैरवी, योगिनीहृदय, भैरव, सनत्कुमार, योनि, तन्त्रांतर, नवरत्नेश्वर, कुलचूडामणि, भावचूडामणि, देवप्रकाश, कामाख्या, कामधेनु, कुमारी, भूत डामर, यामल, ब्रह्मयामल, निश्वसार, महाकाल, कुलोड्डीश, कुलामृत कुब्जिका, यन्त्रचिन्तामणि, काली विलास, और मायातन्त्र = ६४

रथक्रांता वर्ग के तन्त्र-ग्रन्थ—

चिन्मय, मत्स्यमूक्त, महिषमर्दिनी, मातृकोदय, हंसमहेश्वर, मेरु, महानील, महानिर्वाण, भूत डामर, देव डामर, वीज चिन्तामणि, एक जटा, वासुदेव रहस्य, वृहद् गौतमीय, वर्णोद्धृति, छायानील, वृहद् योनि, ब्रह्मज्ञान, गरुड, वर्णविलास, वाला विलास, पुरश्चरणचन्द्रिका, पुरश्चरणरसोल्लास, पञ्चदशी, पिच्छिला, प्रपञ्चसार, परमेश्वर, नवरत्नेश्वर, नारदीय, नागार्जुन, योगसार, दक्षिणामूर्ति, योगस्वरोदय, यक्षिणीतन्त्र, स्वरोदय, ज्ञान भैरव आकाशभैरव, राजराजेश्वरी, रेवती, सारस, इन्द्रजाल, कृकलास दीपिका, कङ्काल मालिनी, कालोत्तम, यक्ष डामर, सरस्वती, शारदा, शक्ति-सङ्गम, शक्तिकागमसर्वस्व, सम्मोहिनी, इन्द्रजाल, चीनाचार, षडाम्नाय, कराल भैरव, षोढा, महालक्ष्मी, कैवल्य, कुलसद्भाव, सिद्धितद्धरि, कृतिसार, काल भैरव, उड्डामरेश्वर, महाकाल, भूतभैरव = ६४

अश्वक्रांता वर्ग के तन्त्र-ग्रन्थ—

भूतशुद्धि, गुप्तदीक्षा, वृहत्सार तत्त्वसार, वर्णसार, क्रियासार, गुप्ततन्त्र, गुप्तसार, वृहत्तोडल, वृहन्निर्वाण, वृहत्कङ्कालिनी, सिद्धातन्त्र, कालतन्त्र, शिवतन्त्र, सारात्सार, गौरीतन्त्र, योगतन्त्र, धर्मकतन्त्र, तत्त्वचिन्तामणि, विदुन्तत्व, महायोगिनी, वृहद्योगिनी, शिवार्चन, सम्बर, शूलिनी, महामालिनी, मोक्ष, वृहन्मालिनी, महामोक्ष, वृहन्मोक्ष, गोपी तन्त्र भूतलिपि, कामिनी, मोहिनी, मोहन, समीरण, कामकेशर, महावीर,

चूडामणि, गुर्वर्चन, गोप्य, तीक्ष्ण, मञ्जुला कामरत्न, गोपलीलामृत, ब्रह्माण्ड, चीन, महानिरुत्तर, भूतेश्वरी, गायत्री, विशुद्धेश्वर, योगार्णव, भैरुण्डा, मन्त्रचिन्तामणि, यन्त्रचिन्तामणि, विद्युल्लता, भुवनेश्वरी, लीलावती, बृहच्चीन, कुरञ्ज, जय राधा माधव, उज्जासक, धूमावती, शिव=६४

शाक्त-साहित्य—

वामकेश्वर तन्त्र के एक टीकाकार श्री लक्ष्मीधर के मतानुसार ६४ तन्त्रों के नाम ये हैं—

१—महामायाशम्बर (परिबुद्धिभ्रम—प्रकार साधन)२—योगिनी बालशम्बर (योगिनीसिद्धि श्मशान सेवन) ३—तत्व-शम्बर (रूप बदलना)४-११ सिद्धिभैरव, बटुकभैरव, कङ्कालभैरव,कालभैरव,कालाग्नि भैरव, योगिनी भैरव, महा भैरव शक्तिभैरव (गढा हुआ द्रव्यादि खोजना) १२-१९—ब्राह्मी तन्त्र, माहेश्वरी तन्त्र, कौमारी तन्त्र, वैष्णवी तन्त्र, वाराही तन्त्र ,महि द्री तन्त्र, चामुण्डा तन्त्र, शिवदूती (श्रीविद्या का वर्णन है, परन्तु आचार वैदिकाचार विरुद्ध हैं) २०-२७—ब्रह्मयायल, विष्णुयामल, रुद्रयामल, लक्ष्मीयामल,उभयामल,स्कन्दयामल,गणेशयामल, जयद्रथयामल (कामना सिद्धि प्रकार) २८--चन्द्रज्ञान २९--मालिनी विद्या ३०—महासम्मोहन ३१—वामजुस्त (कापालिक जीवन) ३२—महादेव (त्याग, अघोरसिद्धि) ३३—वातुल ३४--वातुलोत्तर ३५—कामिका, ३६---हृदयभेद ३७-तन्त्रभेद (परविद्याहरण) ३८—गुह्य (परपुण्यहरण प्रकार) ३९-कलावाद ४०—कलासार (रग निर्णय, तत्त्वरगादि वामाचार) ४१—कुण्डिका मत (औषधि आदि जड़ी-बूटी जादू) ४२—मतोत्तर (पारद गुण पारदादिशोधन) ४३—वीणाख्य तन्त्र ४४—त्रोटल ४५—त्रोटलोत्तर (यक्षिणी ६४००० दर्शन) ४६-पचामृत ४७—रूपभेद ४८—भूतोड्डामर ४९—कुलचूडामडि ५०—कुलोड्डसि ५१-कुलचूडामणि ५२—सर्वज्ञानोत्तर ५३-महाकाली ५४-अरुणेश

५५–मोदनीश ५६––विकुण्ठेश्वर ५७––पूर्वाम्नाय ५८—पश्चिमाम्नाय ५९ दक्षिणाम्नाय ६०–उत्तराम्नाय ६१–निरुत्तराम्नाय ६२–विमल ६३–विमलोत्तर ६४–देवीमत तन्त्र।

वामकेश्वर तन्त्र के द्वितीय टीकाकार श्री देवव्रत का मत उक्त तन्त्रो के सम्बन्ध मे इस प्रकार है—

४ से ११ तक अष्टभैरव तन्त्र, १२ से १९ तक बहुरूपाष्टक तन्त्र (अष्टशक्ति), २० से २७ तक अष्ट यामल, २८ से १६ नित्याओ की उपासना, २९ समुद्राल्लघिनी विद्या, ३० सम्मोहिनी विद्यासिद्धि प्रकार व मूर्छाकर निद्राकर प्रयोग, ३१–३२ वामाचार विधान, ३३–३५ मन्दिरादि-निर्माण-प्रकार शक्तिवर्द्धन प्रयोग, ३६—षट्चक्र भेद-विधान, ३७–३८ पराविद्या नियन (क्षयकर) विधान, ३९—वात्स्यायन कोकशास्त्र वशीकरणादि दशक, ४०–वर्णकला विद्या, ४१—स्तम्भन शक्ति, गुटिका औषधि आदि, ४२—पारदसिद्धि विधान (पारद-संहिता), ४३—यक्षिणी विद्या, ४४—औषधि जादू अन्तर्दृष्टि-सिद्धि-प्रकार, ४५—यक्षिणी दर्शन, ४६—कायाकल्प विधानादि, ४७–५१ षट्कर्म ५२–५६ दिगम्बर कला-विधान षट्कर्म ५७–६४ क्षपणक मत।

आठ मिश्र आगम के नाम यह हैं—

१—चन्द्रकला २—ज्योत्स्नावती ३—कलानिधि ४—कुलार्णव ५—कुलेश्वरी ६—भुवनेश्वरी ७—बार्हस्पत्य ८—दुर्वासा मत।

तीसरे समय मत वालो का 'शुभागम पञ्चक' ग्रन्थ प्रसिद्ध है, जिसमे सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, वसिष्ठ, शुक द्वारा लिखी 'संहिता पञ्चक' को माना जाता है।

'आगमतत्त्व विलास' मे निम्नोक्त तन्त्रो के नाम लिखे हैं। यथा—

स्वतन्त्र, फेत्कारिणी, उत्तर, नील, वीर, कुमारी, काली, नारायणी, तारिणी, बाला, समयचार, भैरव, भैरवी, त्रिपुरा, वामकेश्वर, कुटकुटेश्वर, मातृका, सनत्कुमार, विशुद्धेश्वर, सम्मोहन, गौतमीय,

वृहत्गौतमीय, भूतभैरव, चामुण्डा, पिंगला, वाराही, मुण्डमाला, योगिनी, मालिनीविजय, स्वच्छन्दभैरव, महा, शक्ति, चिन्तामणि, उन्मत्तभैरव, त्रैलोक्यसार, तन्त्रामृत, महाफेत्कारिणी, बारवीय, तोडल, मालिनी, ललिता, त्रिशक्ति, राजराजेश्वरी, महामाहेश्वरीत्तर, गवाक्ष, गांधर्व, त्रैलोक्यमोहन, हमपारमेश्वर, हममाहेश्वर, कामधेनु, वर्णविलास, माया, मन्त्रराज, कुब्जिका, विज्ञानलतिका, लिंगागम, कालोत्तर, ब्रह्म-यामल, आदियामल, रुद्रयामल, ब्रह्मयामल, सिद्धयामल, कल्पसूत्र।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त तन्त्र के और भी ८३ नाम उपलब्ध होते हैं, जो इस प्रकार हैं—

मत्स्यसूक्त, कुलसूक्त, कामराज, शिवागम, उड्डीश, कुलोड्डीश, वीरभद्रोड्डीश, भूतडामर, डामर, यक्षडामर, कुलसर्वस्व, कालिका कुलसर्वस्व, कुलचूडामणि, दिव्य, कुलसार, कुलार्णव, कुलामृत, कुलावली, काली कुलार्णव, कुलप्रकाश, वाशिष्ठ, सिद्धसारस्वत, योगिनीहृदय, कालीहृदय, मातृकार्णव, योगिनीजालकुरक, लक्ष्मीकुलार्णव, तारार्णव, चन्द्रपीठ, मेरुतन्त्र, चतुःशती, तत्वबोध, महोग्र, स्वच्छन्द सार-संग्रह, ताराप्रदीप, संकेत-चन्द्रोदय, षट्त्रिंशत्तत्त्वक, लक्ष्यनिर्णय, त्रिपुरार्णव, विष्णुधर्मोत्तर, मन्त्रार्पण, वैष्णवामृत, मानसोल्लास, पूजाप्रदीप, भक्ति-मंजरी, भुवनेश्वरी, पारिजात, प्रयोगसार, कामरत्न, क्रियासार, आगम दीपिका, भावचूडामणि, तन्त्रचूडामणि, वृहत् श्रीक्रम, श्रीक्रमसिद्धांतशेखर, गणेशविमर्शिनी, मन्त्रमुक्तावली, तत्वकौमुदी, तन्त्रकौमुदी मन्त्रतन्त्रप्रकाश, रामार्चनचन्द्रिका, शारदातिलक, ज्ञानार्णव, सारसमुच्चय, कल्पद्रुम, ज्ञानमाला, पुरश्चरणचन्द्रिका, आगमोत्तर, तत्वसार, सारसंग्रह, देव-प्रकाशिनी, तन्त्रार्णव, क्रमदीपिका, तारारहस्य, श्यामारहस्य, तन्त्ररत्न, तन्त्रप्रदीप, ताराविलास, विश्वमातृका, प्रपंचसार, तन्त्रसार और रत्ना-वली=८३

इनके अतिरिक्त महासिद्धि सारस्वत' में सिद्धीश्वर, नित्यतन्त्र, देव्यागम, निर्वाण तन्त्र, राधा तन्त्र, कामाख्या तन्त्र, महाकाल तन्त्र,

यन्त्रचिन्तामणि, कालीविलास और महाचीनतन्त्र का वर्णन भी पाया जाता है।

ऊपर लिखे तन्त्रों के अतिरिक्त कुछ और भी तन्त्रों के नाम उपलब्ध हैं, जैसे—

आचारसार, आगमचन्द्रिका, ब्राह्मणोल्लास, जयरहस्य, महानिर्वाण, आचारसार प्रकार, आगमसार, चिन्तामणि, ग्रह्यामक, वरदा, मातृकाभेद, पीठमाला शिवसंहिता, श्यामाप्रदीप, ताराप्रदीप, वर्णभैरव, योगिनीहृदय, दीपिकायामल, सरस्वती, श्रीतत्त्वबोधिनी, निगमतत्त्वसार, अन्नदाकल्प, ब्रह्मज्ञान, गायत्री, ज्ञान, कुमारीकवचोल्लास, गौरीकाचलिका, कौलोकार्चनदीपिका क्रमचन्द्रिका, शक्तिसंगम, श्यामाकल्पलता तत्त्वनदनरङ्गिणी, बीजचिन्तामणि, ब्रह्मज्ञानमहातन्त्र, ब्रह्माण्ड, दक्षिणाकल्प, ईशानसंहिता, ज्ञानानन्दतरङ्गिणी, कैवल्य, ज्ञानसङ्कलिनी, लिंगार्चन, निर्वाण बृहन्निर्वाण, निगमकल्पद्रुम, पुरश्चरणविवेक, पुरश्चरणरसोल्लास, स्वरोदय, शाक्तानन्द, तरङ्गिणी, त्रिपुरासारसमुच्चय, वर्णोद्धार, निरुत्तर, श्यामार्चनचन्द्रिका आदि।

वाराही तन्त्र के अनुसार तन्त्रों के नाम और श्लोक-संख्या इस प्रकार है—

शारदा १६०२१, कपिल ६०८०, प्रपञ्च (१) १२३००, प्रपञ्च (२) ८२७०, प्रपञ्च (३) ५३१०, सिद्धसंवरण ५००६, आदियामल ३५२००, गणेशयामल १०३२३, रुद्रयामल ६८६५, ब्रह्मयामल २२१००, आदित्ययामल १२०००, विष्णुयामल २८०२०, दक्षिणामूर्ति ५५५०, तन्त्रराज ९०९०, कुब्जिकातन्त्र (१) १०००७, कुब्जिकातन्त्र (२) ६०१०, कुब्जिकातन्त्र (३) ३०००, महानन्दमीतन्त्र ५०५, सरस्वतीतन्त्र २२०५, देवीतन्त्र १२०००, योगिनी (१) २२५३२, योगिनी (२) ६३०३, नारायण ५०२०३, कपिल २८०१२०, सारस्वत९९०५, शिवडामर ११००७, ब्रह्मडामर ७१०८२, दुर्गाडामर ११५०३ योग १३३११, मुक्तक ६०५०, वीरागम ६६०६, योगडामर २३५३३, अमृतशुद्धि ५००५, गन्धर्वडामर

६००६०, मायातन्त्र ११०००, नीलपताका ५०००, कालिका ११०१३, योगार्णव ८३०१, कल्प ५०६०, कामेश्वरी ३०००, हरगौरी (१) २२०२०, हरगौरी (२) १२०००, कात्यायनी २४२००, वाराही ६३०३, मृत्युञ्जय १३२२०, तन्त्रनिर्णय २८, प्रत्यङ्गिरा ८८००, वामकेश्वर २५, त्रिपुरार्णव ८८०६, आद्या २२६१५, मृडानी (१) ४४८०, मृडानी (२) ३०००, मृडानी (३) ३३०, गवाक्ष ६५२५।

शाक्त-साहित्य वेद के अतिरिक्त आरण्यक, उपनिषद्, ब्राह्मण-श्रौत-साहित्य मे भी उपलब्ध होता है। सायणाचार्य, उपनिषद् ब्रह्म, अप्पय्य दीक्षित के इन पर भाष्य प्राप्य हैं। पुराणो पर भी शक्तिवाद का काफी प्रभाव पडा है। कालिका-पुराण शक्ति-तत्व का स्वतन्त्र ग्रथ है। देवीगीता, देवी भागवत का अ श है। दुर्गा सप्तशती मार्कण्डेय पुराण का एक भाग है। ब्रह्माण्ड-पुराण के द्वितीय भाग मे ३२० श्लोको का ललिता सहस्र स्तोत्र आता है। कूर्म-पुराण मे देवी की ८०० नामो से स्तुति की गई है। अर्द्धनारीश्वर तथा शिव सम्बन्धी प्रकरण भी है। उपपुराणो मे देवी पुराण शक्तिवाद का स्वतन्त्र पुराण है।

'काश्मीर संस्कृत सीरीज' मे छपे काश्मीरियो के शाक्त-तन्त्रो के कुछ नाम इस प्रकार हैं—

स्पन्दकारिका, स्पन्दसन्दोह, संवित्सिद्धि, तन्त्रसार, तन्त्रालोक, तन्त्र सुधा, प्रत्यभिज्ञासूत्र, महार्थमञ्जरी, तन्त्रवटधानिका, अजडप्रमातृ-परात्रिंशिका, मालिनीविजय, कामकला-विलास।

शाक्तो की प्रयोग विधियाँ जिन ग्रन्थो मे उपलब्ध हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं—

लक्ष्मीतन्त्र, योगिनीतन्त्र, मरीचितन्त्र, वाराहीतन्त्र, हरगौरीतन्त्र, डामरतन्त्र, शक्तिसंगमतन्त्र, कात्यायनीतन्त्र।

रहस्य स्तोत्रो मे यह ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—

शङ्कराचार्य की सौंदर्यलहरी आनन्दलहरी, गौडपाद का सुभगोदय, लघुपञ्चस्तवी, ललितात्रिशती—जिस पर शङ्कराचार्य ने भाष्य

किया है, आर्यपञ्चाशत्, दुर्वासा का त्रिपुरामहिम्न स्तोत्र, अप्पय्य दीक्षित की आनन्दलहरी।

भास्करराय तन्त्र-साहित्य के एक प्रसिद्ध दार्शनिक हुए हैं। उनका 'वीरवस्या रहस्य' ग्रन्थ तन्त्र शास्त्र की अपूर्व कृति है। उन्होंने सप्तशती, ललिता सहस्रनाम, श्रीसूत्र, कौल उपनिषद, त्रैपुर महोपनिषद् पर उच्चकोटि के भाष्य लिखे हैं और योगिनी हृदय-तन्त्र पर सेतुबन्ध टीका लिखी है। यह कृतियां उनके नाम को अमर करने वाली हैं। भास्करराय के शिष्य उमानन्दनाथ ने 'नित्योत्सव' नाम का ग्रन्थ लिखा है। उनके शिष्य रामेश्वर ने परशुराम के कल्पसूत्रो पर वृत्ति लिखी है।

रहस्य-ग्रन्थो मे तारा-रहस्य, त्रिपुरा-रहस्य और श्यामा-रहस्य के नाम आते हैं।

पूर्णानन्द स्वामी के रचित ग्रथ योगसार, श्यामा-रहस्य, शाक्त-क्रम, तत्त्वानद तरंगिणी, श्रीतत्त्वचितामणि, कालिका कारकूट हैं।

गौडपाद के श्री विद्यासूत्र पर शङ्कराचार्य ने टीका की थी। शङ्कराचार्य ने 'प्रपञ्चसार' नामक शाक्त-तन्त्र को लिखा था, जिसकी टीका उनके शिष्य पद्मपादाचार्य ने की।

दत्तात्रेय का बनाया हुआ 'अष्टादश साहस्री दत्तसहिता' ग्रन्थ है। परशुराम ने ५० खडो और ६ हजार सूत्रो मे इसका सक्षेप किया है। हरितायन ने दशखण्डो मे इसका भी सक्षेप किया। महर्षि अगस्त्य के शक्तिसूत्र प्रसिद्ध हैं।

लक्ष्मणदेशिक का 'शारदातिलक' प्रसिद्ध तन्त्रो में माना जाता है। इस पर राघवभट्ट ने विशेष टिप्पणियो सहित टीका लिखी है, जिसे अपूर्व की सज्ञा दी जा सकती है। पुण्यानन्दनाथ ने कामकला विलास की रचना की जिस पर नटनानन्द ने चिद्वल्ली व्याख्या की। नटनानन्द के शिष्य अमृतानन्दनाथ ने 'योगिनी हृदय दीपिका' की रचना की, जो वामकेश्वर तन्त्र के एक अश की व्याख्या है। शङ्कराचार्य की 'सौंदर्य-लहरी' पर ३५ टीकाएँ लिखी गई।

वेदों मे भी शक्ति की विचारधारा का प्रवाह बहता है। वेद मे मातृशक्ति का प्रतिनिधित्व अदिति देवी करती हैं। स्वतन्त्र रूप से कोई अलग सूक्त तो नही है, परन्तु ऋग्वेद मे अन्य देवो के साथ इसका नाम प्राय ८० बार आया है। इसे 'देवतामयी' कहा गया है। इसे मनुष्य, पितर, असुर, गधर्व और सम्पूर्ण भूतो की माता घोषित किया गया है। गायत्री, सावित्री, पृथ्वी अथवा मही इसी के नाम हैं। ऋग्वेद में इसके अनेको विशेषण हैं। वह मित्र और वरुण की माता है। (८।२५।३, १०।३६।३, १०।१३२।६) वह राजाओ की माता है (२।२७।७) शक्तिशाली पुत्रो वाली है (८।५६।११), उन्हें रुद्रो की माता की सज्ञा दी गई है। विवस्वत,सूर्य और वामन अवतार (विष्णु) की माता कहा गया है। वह विपत्तियो से रक्षा करने वाली है (१०।१००, ११४-१५) बन्धनो को खोलने की उससे प्रार्थना की गई है (७।९३।७), पापरहित होने के लिए स्तुति की गई है (१।१६२।२२)।

अथर्ववेद के देवी सूक्त मे तो देवी का अधिक स्पष्टीकरण किया गया है। वहाँ देवी स्वय कहती है—

अह रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यह मादित्यैरुत विश्वदेवै।
अह मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा॥

"मैं रुद्रो, वसुओ, आदित्यो—अदिति-पुत्र सूर्यादि देवताओ के साथ तथा विश्वादेवा के साथ चलती हूँ अर्थात् समस्त साकार देवता,उनके ब्रह्माड तथा ब्रह्माडगत समस्त जड और चेतन के साथ मैं हूँ। प्रत्येक साकार देवताके साथ साकार स्त्री-रूप मैं हूँ। जड के साथ भी स्वातन्त्र्य, कार्यशक्ति, सूक्ष्म और स्तम्भित ज्ञानशक्ति मैं ही हूं। उस सम्पूर्ण देवी सूक्त मे शक्ति का सुन्दर निरूपण किया गया है।

उपनिषदो का शक्ति-साहित्य भी कम महत्वपूर्ण नही है। देवी, काली, तारा, बहवृच, भावना, त्रिपुरा, सारस्वती हृदय, सीता, सौभाग्यलक्ष्मी, अरुणा, त्रिपुरातापिनी, अद्वैतभाव, कौल, श्रीविद्यातारक आदि प्रसिद्ध शाक्त-उपनिषद् हैं।

देव्युपनिषद् मे वाक्सूक्त, श्रीसूक्त के मन्त्र और श्रीविद्या की पञ्चदशी सम्मिलित है। इसे अथर्ववेद के सौभाग्यकाड का स्वीकार किया जाता है। श्रीविद्यातारक, कौल, अद्वैतभाव और काली उपनिषद् आधुनिक ही लगते हैं। ऐसा लगता है कि इनका आविर्भाव वाममार्ग के प्रचार के बाद हुआ है। बह्वृच उपनिषद् मे ललिता रूप से ईश्वर का चिन्तन किया गया है। भावनोपनिषद् मे देवी के परस्वरूप का वर्णन है। सरस्वती हृदय मे ऋग्वेद के सरस्वती सूक्त के मन्त्र दिए गए हैं और तान्त्रिक विनियोग भी है। सीता उपनिषद् मे सीता को शक्तिरूपिणी, मूलप्रकृति और योगमाया कहा गया है। सौभाग्यलक्ष्मी उपनिषद् मे नवचक्र मे देवी की उपासना का विधान, श्रीसूक्त और उसका तान्त्रिक विनियोग है। अरुणोपनिषद् तैत्तरीय आरण्य के अन्तर्गत आता है। त्रिपुरातापिनी में देवी के स्थूल और सूक्ष्म विग्रह के पूजन का विधान दिया गया है। अद्वैतभाव, कौल और श्रीविद्यातारक उपनिषदो का विषय उनके नामो से ही विदित हो रहा है।

ब्राह्मण और आरण्यक साहित्य मे भी शक्ति का स्पष्ट उपास्य रूप वर्णित किया गया है।

शक्तिवाद का भी पर्याप्त सूत्र-साहित्य है। श्री गौडपादाचार्य के श्री विद्यारत्न सूत्र हैं, जिन पर शङ्कराचार्य की टीका है। दत्तसहिता के १८००० श्लोको को परशुराम ने ६००० सूत्रो मे सक्षेप किया जिसमे ५० काड थे। हारीत गोत्र के सुमेधा ने इसका भी सक्षेप किया जिसे दसखण्डी कहा जाता है। अगस्त्य के शक्ति-सूत्र हैं, जिसका पहला सूत्र है—

अथात शक्ति जिज्ञासा।

महर्षि भारद्वाज के शाक्त धर्म के सूत्र हैं। महर्षि अंगिरा के देवी-मीमांसा दर्शन के सूत्र हैं। भास्करराय की सप्तशती टीका से नागानन्द के शक्तिसूत्रो का परिचय मिलता है। क्षेमराज रचित प्रत्यभिज्ञामत के शक्तिसूत्र हैं। नित्योत्सव नामक सूत्र पर उमानन्दनाथ

का लिखा हुआ निबन्ध है। उमानन्दनाथ के शिष्य रामेश्वर की सूत्र पर वृत्ति है।

शैव-तन्त्र—

यजुर्वेद मे शतरुद्रीय अध्याय की ख्याति है। तैत्तरीय आरण्यक मे सारे विश्व को रुद्रमय कहा गया है (१०।१६)। श्वेताश्वरोपनिषद् (३।११) मे शिव को सर्वव्यापी की सज्ञा दी गई है।

शिवागम-साहित्य प्रामाणिक माना जाता है। शैव-सिद्धात का दक्षिण के तमिल प्रान्त मे अधिक प्रचार है। ऐसा विश्वास है कि शिव ने अपने पाँच मुखो से २८ तन्त्रो की रचना की।

सद्योजात नामक मुख से उत्पन्न तत्र—कामिक, योगज, चिन्त्य, कारण, अजित।

वामदेव नामक मुख से उत्पन्न तन्त्र—दीप्ति, सूक्ष्म, सहस्र, अ शुमान, सुप्रभेद।

अघोरमुख से उत्पन्न तन्त्र— विजय, नि'श्वास, स्वायम्भुव, अनल, वीर।

तत्पुरुष मुख से उत्पन्न तन्त्र—रौरव, मुकुट, विमल, चन्द्रज्ञान, त्रिम्ब।

ईशान मुख से उत्पन्न तन्त्र—प्रोद्गीत, ललित, सिद्ध, सन्तान, सर्वोत्तर, परमेश्वर, किरण, वातुल।

यह नाम जयद्रथ की 'तन्त्रालोक' की टीका मे प्राप्य हैं।

अप्पय्य दीक्षित की शिवकर्मणिदीपिका' सुन्दर कृति है। पाशुपत का सूत्र-ग्रन्थ 'महेश्वर रचित पाशुपत सूत्र' है। शैवाचार्य सद्योज्योति के मोक्षकारिका, योगकारिका, तत्वसग्रह, सत्वत्रय, नरेश्वर परीक्षा, परमोक्षनिरासकारिका, रौरवागम की वृत्ति, स्वायम्भुव आगम पर उद्योनदि ग्रन्थ उच्चकोटि के माने जाते हैं।

नारायणक ठ के पुत्र रामक ठ ने सद्योज्योति की कृतियो पर

सुन्दर व्याख्यायें लिखी हैं, जिनमे परमोक्षनिरासकारिका वृत्ति, मातग-वृत्ति, नादकारिका, मोक्षकारिका वृत्ति और प्रकाश (नरेश्वर परीक्षा टीका) छप चुकी हैं। हरदत्त शिवाचार्य की 'श्रुति सूक्तमाला' और 'चतुर्वेद तात्पर्य सग्रह' है। भोजराज की 'तत्वप्रकाशिका' पर अघोर शिवाचार्य ने वृत्ति लिखी है। नादकारिका पर भी इनकी वृत्ति लिखी है। श्री कठ सूरि का 'रत्नत्रय' का शैव-साहित्य मे अपना विशेष स्थान है।

वीर शैव मत का 'सिद्धान्त शिखामणि' उत्तम ग्रन्थ माना जाता है।

काश्मीर मे प्रचलित शैव तन्त्रो को प्रत्यभिज्ञा की सज्ञा दी गई है। इनमे शैवो के अद्वैत सिद्धान्त की व्याख्या की गई है। साहित्य और दर्शन का समन्वय करने वाले प्रसिद्ध तन्त्राचार्य अभिनवगुप्त की मान्नीय कृतियाँ इसी मत मे सम्बन्ध रखती हैं। तन्त्रालोक, परमार्थसार ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिणी, मालिनी विजयवार्तिक, परात्रिंशिका-विवृत्ति, अभिनव भारती तथा ध्वन्यालोक 'लोचन' की रचना ने अभिनवगुप्त तन्त्र-दर्शन और साहित्य जगत मे अमर बना दिया। अभिनव गुप्त के शिष्य क्षेमराज ने भी श्रेष्ठ ग्रन्थो की रचना की है, जिनके नाम इस प्रकार हैं—

प्रत्यभिज्ञा हृदय, शिवस्तोत्रावली, स्वच्छन्द तन्त्र, विज्ञानभैरव, नेत्रतन्त्र, स्पन्दसन्दोह, शिवसूत्रविमर्शिणी।

इस मत के अन्य प्रसिद्ध ग्रथ यह हैं—

गोरक्ष की 'परिमल' और 'महार्थमञ्जरी', रामकण्ठ की 'स्पन्दकारिकाविवृति', उत्पल वैष्णव की 'स्पन्दप्रदीपिका', योगराज की 'परमार्थ सारवृत्ति', भास्कर तथा वरदराज का 'शिवसूत्र वार्तिक', जयरथ की 'तन्त्रालोक टीका'।

वैष्णव-तन्त्र —

वैष्णव तन्त्रो मे 'पाञ्चरत्रा' और 'वैखानस' दोनो आते हैं। कोई समय था जब वैखानस साहित्य भी काफी सख्या में उपलब्ध था, परन्तु अब तो उसका लोप-सा ही हो गया है। पाञ्चरात्रो को वेद के समान प्रमाण्य माना जाता है। रामानुज ने अपने श्रीभाष्य (२।२।४२) मे सिद्ध किया है—

साख्य योग पाञ्चरात्र वेदा पाशुपत तथा।
आत्मप्रमाणान्येतानि न, हन्तव्यानि हेतुभि ॥

अर्थात् सांख्य-योग-पाञ्चरात्र-वेद तथा पाशुपत ये सब आत्म-प्रमाण हैं। अतएव इन हेतुओ से हनन नही करना चाहिए।

शतपथ ब्राह्मण (१३।६।१) मे 'पाञ्चरात्र सूत्र का उल्लेख आता है। यामुनाचार्य न 'आगमप्राभण्य' मे वेदांतदेशिक ने 'पाञ्च-रात्र रक्षा' मे और भट्टारक वेदोत्तम ने 'तन्त्रशुद्ध' मे अनेको प्रमाण देकर पाञ्चरात्रो के मूल सिद्धान्तो को वेद से मिलाने का प्रयत्न किया है। प्राचीन साहित्य से पता चलता है कि पाञ्चरात्र साहित्य तीन भागो मे विभक्त था—

१—पाचरात्र श्रुति, २—पाचरात्र उपनिषद्, ३—पाचरात्र सहिता।

उत्पल ने 'स्पन्दकारिका' मे पहले दो के उदाहरण दिए हैं—

पाञ्चरात्र श्रुतावपि—यद्वत् सोपानेन प्रसादमावहेत् प्लवनेन व नदो तरेत्, तद्वत् शास्त्रेण हि भगवान् शास्ता अवगन्तव्य।

अर्थात् पचरात्र से श्रुत की अवधि तक जिस भाँति सीढियो के द्वारा प्रासाद का समारोहण किया जाता है तथा प्लवन के द्वारा नदी का सतरण किया जाता है, उसी भाँति शास्त्र के शासन करने वाले भग-वान् को जानना चाहिए।

ईश्वर-संहिता के अनुसार—
एक एकायनो वेद प्रख्यातो सर्वतो भुवि ।
अर्थात् एक अयन वाला वेद सर्वत्र भूमण्डल मे प्रधान है ।

पाचरात्र का सम्बन्ध वेद की एकायन शाखा से है, जिसका उल्लेख छादोग्योपनिषद् (७।१।२) मे भी आता है। महाभारत के नारायणोपाख्यान (शान्तिपर्व अध्याय ३३५, २८६) मे भी पाचरात्रा का उल्लेख मिलता है। इसके अनुसार नारद श्वेत द्वीप मे गए थे और नारायण ऋषि से उसकी शिक्षा प्राप्त करके लाये थे। इसीलिए नारायण ऋषि को इस मत का प्रवर्तक माना जाता है और इसके प्रचारको मे कौशिक, शाडिल्य, औपगायन और मोञ्जायन का नाम आता है। पाचरात्र का दूसरा नाम भागवत धर्म या 'सात्वत धर्म' भी था।

डा० श्रादर ने अपनी पुस्तक 'इन्ट्रोडक्शन टु दी पाञ्चरात्र' मे पाचरात्र संहिताओ की संख्याओ की संख्या २१५ बताई है, जिनमे विश्वामित्र संहिता, अगस्त्य संहिता, वासुदेव-संहिता, नारदीय संहिता, काश्यप संहिता, विष्णुरहस्य संहिता, महा-सनत्कुमार संहिता आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इस विशाल पाचरात्र साहित्य मे से अभी १३ ही प्रकाश मे आई हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—लक्ष्मीतंत्र, विष्णुतिलक, अहिर्बुध्न्य संहिता, श्रीसंहिता, सात्वत संहिता, प्राश्नतंत्र, बृहद् ब्रह्म संहिता, भारद्वाज संहिता, कपिञ्जल संहिता, जयाख्य संहिता, पराशर संहिता, ईश्वरी संहिता।

वैखानस कृष्ण यजुर्वेद की एक अलग शाखा थी। पहले तो इनकी स्थिरता पाचरात्रो के समान ही थी, परन्तु उनके साहित्य के लोप होने से वह अपनी लोकप्रियता को खो बैठे हैं। वैखानस श्रौत-सूत्रो की गिनती उच्च साहित्य मे होती रही है। वैखानसो के श्रौत-सूत्र, धर्म-सूत्र, गृह-सूत्र और मंत्र-संहिता चार प्रकार के ग्रन्थ मिलते हैं।

तंत्र साहित्य की इस विशालता से अनुमान लगाया जा सकता है कि प्राचीन काल में तंत्र-साधना और साहित्य का कितना प्रचार था।

• • •

तन्त्र में योग का स्थान

पातजलि ने चित्तवृत्तियो के निरोध को योग कहा है। तन्त्र के अपने मापदड हैं। शारदा तिलक (५१२-३) मे लिखा है कि वेदात के अनुसार जीव और आत्मा का मिलन योग है। शैवो के अनुसार शिव और आत्मा की एकता को योग कहते हैं। वैष्णव पुराण पुरुष के ज्ञान को योग कहते हैं। तत्र मे शिव और शक्ति के एक्य को योग कहा गया है। यहाँ चेतन रूप से किए गए शक्ति और ज्योति के किसी भी प्रयत्न को योग कहा जाता है। एक तान्त्रिक विद्वान् के अनुसार योग के दो अर्थ होते हैं—प्रथम तो विश्व मे व्याप्त दिव्य जीवन से एकात्म लाभ करना, जो कि मानव-जीवन का उद्देश्य है। दूसरा अर्थ बुद्धिपूर्वक नियोजित आत्मानुशासन के साधन-क्रम और इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किया जाने वाला स्वाध्याय और अभ्यास है।

तन्त्र मे योग का पर्याप्त अ श सम्मिलित है। षट्चक्र निरूपण, त्रिपुरासार समुच्चय, गन्धर्व तत्र जैसे ग्रन्थो में इडा, पिगला, सुषुम्ना, कु डलिनी व अन्य यौगिक विषयो का वर्णन है। महाकालोक्त 'पादुका-प चकम्' स्तोत्र मे द्वादश दल पद्म का विशेष विवेचन है। शारदा तिलक मे तो अध्याय-के-अध्याय भरे पडे हैं। अन्य तत्रो मे भी योग विषय को उचित स्थान दिया गया है। योग की महिमा का इस प्रकार वर्णन है—

योगहीन कथ ज्ञान मोक्षद भवतीश्वरि।

—योगबीज १०

हे परमेश्वरि ! योग रहित ज्ञान रहित ज्ञान किस तरह मोक्ष दायक हो सकता है ?

ज्ञाननिष्ठो विरक्तोऽपि धर्मज्ञोऽपि जितेन्द्रिय ।
विना योगेन देवोऽपि न मुक्ति लभते प्रिये ॥

(योग वीज ३१)

"हे प्रिये ! ज्ञान निष्ठ, विरक्त, धर्मज्ञ, जितेन्द्रिय ,और देवता भी योग के विना मोक्ष लाभ नही कर सकते ।

मथित्वा चतुरो वेदान् सर्वशास्त्राणि चैव हि ।
सारस्तुत् योगिभि पीतस्तक पिबन्ति पण्डिता ॥

(ज्ञानसकालिनी तन्त्र ५१)

"चारो वेद और समस्त शास्त्रो को मथ कर सार मक्खन तो योगी चाट गये हैं और असार भाग पण्डित पी रहे हैं ।"

ऊर्ध्वरेता भवेद्यस्तु सदेवो न तु मानुष्य. (तन्त्र)

"ऊर्द्धरेता योगी मनुष्य नही ईश्वर ही होता है ।"

अनेक शत सख्याभिस्तर्क व्याकरणादिभि ।
पतित शास्त्रा जालेषु प्रज्ञया ते विमोहिता. ॥

(योग बीज ८)

'सैकडो तर्कशास्त्र तथा व्याकरण आदि पढकर मनुष्य शास्त्र जाल मे फस कर विमोहित हो जाते हैं । वास्तविक ज्ञान तो योग से ही होता है ।"

देहेस्मिन् वर्तते मेरु. सप्त द्वीप समाविन्त ।
सरित. सागरा, शैला क्षेत्राणि क्षेत्रपालका. ॥
ऋषयो मुनये सर्वे नक्षत्राणि ग्रहास्तव्था ।
पुण्यतीर्थानि पाणेनि वर्त न्ते पीठ देवता ॥
सृष्टि सहार कर्तारौ भ्रमन्तौ शशिभास्करौ ।
नभो वायुश्च वान्हिश्च जल पृथ्वी तथैवच ॥
त्रैलोक्ये यानि भूतानि यानि सर्वाणि देहत· ।

मेरु सवेष्ठय सर्वत्र व्यवहारा प्रवर्त्तते ।।
जानाति य सर्वमिद स योगी नात्र सशय ।
ब्रह्माण्ड सञ्ज्ञके देहे यथा देश व्यवास्थित ।।
(शिव सहिता प० २)

"इस मानव-देह मे मेरु पर्वत, सातो द्वीप, समस्त नदियाँ और समुद्र, पर्वत, समस्त प्रदेश, ऋषि, मुनि, नक्षत्र, ग्रह, पुण्यतीर्थ, सिद्धपीठ और इनके देवता सृष्टि का सहार करने वाले, सूर्य, चन्द्रमा, आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी पाचो तत्व सब कुछ पाया जाता है। तीनो लोक मे जो कुछ है वह सब इस देह मे भी मौजूद है। जो इस रहस्य को पूर्ण रूप से जानता है वही सच्चा योगी है। जो कुछ ब्रह्माण्ड में है वह इस मानव देह रूप पिण्ड मे भी पाया जाता है।"

योग महिमा के ऐसे सैकडो श्लोको का वर्णन तन्त्रो मे आया है। डा० राधाकमल मुकर्जी के अनुसार "वास्तव मे इस उपासना का प्रारम्भ कामना तथा मनोभावो से होता है और इसका पर्यवसान यौगिक समाधि मे होता है। योग सम्बन्धी अनूकूल नाडियो, चक्रो तथा चक्रो के अन्दर रहने वाली शिराओ को ध्यान के द्वारा जागृत कर उपासक अपने शरीर और मन पर अधिकार कर लेता है और अत मे जाकर निराकार के ध्यान से स्थित प्राप्त करने मे समर्थ होता है।

तत्र अष्टाग योग का भा अनुकरण करता है। यथा—

यमनियमगुणौश्च स्वात्मशुद्धि विधाय
स्ववशविविधपीठैरेव भूत्वा स्थिरात्मा।
असुनियमजलेन स्नापयेद्दिव्यलिङ्ग
प्रकटितचतुरङ्ग बाह्यमेतदविधानम् ।।
शम्भोरर्थेन्द्रियनिवर्तनमेव गन्धो
ध्यान प्रासूननिचयो दृढधारणा सा।
धूप समाधिरथशुद्धमहोपहार
आभ्यन्तराख्यचतुरङ्गविधानमेतत् ।।

एवमष्टांगयोगेन मदान्त पद्ममध्यनि ।
पूज्येत्परम देव किं बाह्यैर्देवपूजनै ॥

"यम नियमो से सम्बन्धित २४ गुणो से आत्म-शुद्धि करना, आसनो से शरीर की स्थिरता करना, प्राणायाम रूपी जल से दिव्य-लिंग का अभिषेक करना ही बाह्य चतुरंग कहा जाता है। शम्भू की इन्द्रियो का विषय निवृत्ति रूप प्रत्याहार को गन्ध कहते हैं। पुष्प की संज्ञा इन्द्रिय निवृत्ति से अन्तर्मुख हुए मन मे शिव-ध्यान जमाना है, उन्हे दृढतापूर्वक धारण करने को धारणा कहा गया है और ज्ञाताज्ञात रूप-समाधि ही नैवेद्य है। इसे आभ्यन्तर चतुरंग कहते हैं। शिव-योगी को इस तरह अष्टांग योग की साधना करते हुए अपने हृदय मे शिव का पूजन करना चाहिए।"

तन्त्रो में अष्टांग योग के सभी अङ्गो का विस्तृत विवेचन है। शारदातिलक (२५।७) मे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, आर्जव, क्षमा, धृति, मिताहार व शौच का वर्णन है, जिन्हें यम कहा जाता है। अगले श्लोक (८) मे तप, सन्तोष, आस्तिक्य, दान, देव-पूजन, सिद्धान्तश्रवण, ह्री, मति, जप व होम दस नियम बताये गये हैं। आसनो का वर्णन श्लोक ९।१५ में है। प्राणायाम का वर्णन १६।२२ मे है। पाँच प्राणो—प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान और उप-प्राण—नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनञ्जय का वर्णन १।४४ मे है। (२५।२३) मे प्रत्याहार की व्याख्या है। २४, २५ मे धारणा का विवेचन है। २६ वें श्लोक मे ध्यान की परिभाषा की गई है।

साधना के लिए ध्यान के विधि-विधान भी दिए गये हैं। यथा—

ब्रह्मरन्ध्रसरसीरुहोदरे नित्यलग्नमवदातमद्‌भुतम् ।
कुण्डली विवरकाण्ड मंडित द्वादशार्ण सरसीरुह भजे ॥

—पादुका पंचक

"सब मनुष्यो के मस्तक मे जो अधोमुखी सहस्र दल कमल है। उसके उदर मे कुलकुण्डलिनी के जानने के लिए जो नित्य लग्न और अद्भुत पथ रूपी नाडी है, उससे स लग्न द्वादश वर्ण पद्म का मैं ध्यान करता है।"

ब-बीज वारुण ध्यायेदर्धचन्द्र शशिप्रभम्।
क्षुत्पिपासा सहिष्णुत्व जलमध्येषु मज्जनम्॥

"ब बीज वाले अर्द्ध चन्द्राकार चन्द्रमा की तरह काति वाले जल तत्व का स्वाधिष्ठान मे ध्यान करे। इससे भूख-प्यास मिटकर सहनशक्ति पैदा होगी और जल में अव्याहत गति हो जायेगी।"

य बीज पवन ध्यायेद् वर्तुल श्यामल प्रभाम्।
आकाश गमनाद्यञ्च पक्षिपद्मगमन तथा॥

"य बीज वाले गोलाकार तथा हरी प्रभा वाले वायु तत्व का अनाहत चक्र मे ध्यान करे। इससे आकाश गमन तथा पक्षियो की तरह उडने की सिद्धि प्राप्त होती है।"

र-बीज शिखिन ध्यायेत् त्रिकोणमरुण प्रभम्।
वह्न्न पान भोक्तृत्वमातपाग्नि सहिष्णुता॥

"र बीज वाले त्रिकोण और अग्नि के समान लाल प्रभा वाले अग्नि का मणिपुर चक्र मे ध्यान करे। सिद्ध होने पर अत्यन्त अन्न ग्रहण करने की, पीने की शक्ति तथा धूप और अग्नि सहन करने की शक्ति आ जाती है।"

ल-बीजा धरणी ध्याये चतुरस्रा सुभीतभाम्।
सुगन्ध स्वर्ण वर्णत्वमारोग्य देहलाघवम्॥

"ल बीज वाली चौकोण, पीली पृथ्वी का ध्यान करे। इस प्रकार करने से नासिका सुगन्ध से भर जायगी शरीर स्वर्ग के समान कान्ति वाला स्वस्थ और हलका हो जायगा।"

ह-बीज गगन ध्यायोत्स्वराकार वहुप्रभम्।
ज्ञान त्रिकालविषय मैश्वर्यमणिमादाम॥

"ह बीज का विशुद्ध चक्र मे जाप करते हुए निराकार चित्र-विचित्र रग वाले आकाश का ध्यान करे। इससे तीनो कालो का ज्ञान, ऐश्वय तथा अर्थ-मानादि अष्ट सिद्धियां प्राप्त होती हैं।"

सहस्रदलपद्मस्थमन्तरात्मात् उज्ज्वलम्।
तस्योपरि नादबिन्दोर्मध्ये सिंहासनोज्ज्वले॥
तत्र निजगुरु नित्य रजताचलसन्निभम्।
वीरासनसमासीन सर्वाभरणभूषितम्॥
शुक्लमाल्याम्बरधर वरदाभयपाणिकम्।
वामारुशक्तिसहित कारुण्येनावलोकितम्॥
प्रियया सव्यहस्तेन धृतचारुकलेवरम्।
वामेनोत्पलधारिण्या, रक्ताभरणभूषया॥
ज्ञानानन्दसमायुक्त स्मरेतन्नामपूर्वकम्॥

"योगी को ऐसा ध्यान करना चाहिए कि जिस सहस्र दल कमल मे उज्ज्वल अन्तरात्मा विद्यमान है, उसके ऊपर के नाद-बिन्दु के बीच मे एक प्रदीप्त सिंहासन स्थित है। उसी पर अपने इष्ट देवता प्रतिष्ठित हैं, उनकी स्थिति वीरासन की-सी है। चाँदी के पहाड की तरह उनके शरीर सफेद हैं, अनेको प्रकार के आभूषण धारण किए हुए है, माला, फूल और वस्त्रो से विभूषित हैं, हाथो मे वर और अभय मुद्राएँ हैं। उनके बायें ओर शक्ति का स्थान है, गुरु करुणा दृष्टि से चारो ओर निहार रहे हैं, शक्ति दाहिने हाथ से उनको छू रही है। शक्ति के बायें हाथ मे लाल पद्म है और लाल रग के आभूषण ग्रहण किये हैं। इस तरह से उन ज्ञान समायुक्त गुरु का नाम स्मरण करते हुए ध्यान करना चाहिए।"

शारदा तिलक (२५।२७) मे जीवात्मा और परमात्मा के निरतर अभेद मे अनुभूति को समाधि कहा गया है। गौडपाद स्वामी ने कहा है —

सर्वाभिलापविगत सर्वचिन्तासमुत्थित।

सुप्रशान्त सकृज्ज्योति समाधिरचलोऽभय ।।
(प्रा० ३।३७)

"सारे बाह्य शब्दादि व्यवहार के बिना, सारे सूक्ष्म प्रपञ्च रूप चिंता के बिना, सारे अविद्यादि क्लेशो के बिना, सदा स्वय प्रकाशमान, ज्योति-स्वरूप अचल भयादि दैव रहित स्व-स्वरूप का नाम ही समाधि है।

समाधि से पूर्णता का आश्वासन देते हुए शिवसंहिता मे कहा गया है'—

निरालम्ब मन कृत्वा न किञ्चिद्वापि चिन्तयेत् ।
वृत्तिहीन मन कृत्वा पूर्णरूप स्वय भवेत् ।।

"जिस काल मे सविकल्प समाकल्प के साधन से निर्विकल्प समाधि सिद्ध हो जाती है, मन दृश्य का चितन छोडकर वृत्ति रहित हो जाता है। उस समय साधक स्वय पूर्ण बन जाता है।"

तन्त्र मे कुण्डलिनी का विस्तृत वर्णन है। शारदा तिलक(१।५१-५७) मे कुण्डलिनी-शक्ति को चैतन्यरूप सर्वव्यापी, विद्युत सरीखी, सब तत्त्वो और देवो मे व्याप्त और शब्द-ब्रह्म कहा है। (५८-१०७) मे कहा है कि वह किस तरह मन्त्रो, यन्त्रो और हर वस्तु मे है। १०८-१०९ मे कहा है कि कुण्डलिनी से, जो कि शब्दब्रह्म है और सर्वव्यापी है, स्त्री शक्ति, ध्वनि, नाद, निरोधिका अर्द्धेन्दु, बिन्दु की उत्पत्ति होती है। बिन्दु से परावाणी, फिर पश्यन्ति, मध्यमा और वैखरी वाणी। २६ वे अध्याय मे परा से पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी तक पहुँचने के साधन भी दिए गए हैं। २५।६४ मे कहा गया है कि जब कुण्डलिनी जाग्रत होती है और बिजली की तरह मूलाधार चक्र से ऊपर सुषुम्ना के मार्ग से चढती है, तो वह षट्चक्रो को भेदन करती चलती है। जब वह सहस्रार मे पहुँचती है, तो वह अपने इष्ट पर-शिव मे मिल जाती है। २५।७७ ८२ मे कुण्डलिनी का ध्यान दिया गया है।

नाद योग का वर्णन शिव महिमा मे इस प्रकार है—

नासन सिद्धसदृश न कुम्भकसमं बलम् ।
न खेचरीसमा मुद्रा न नादसदृशो लयः ।।

"सिद्धासन के समान कोई आसन नही, कुम्भक के समान कोई बल नही, खेचरी के समान कोई मुद्रा नही और मनोलय के लिए अनहद नाद के समान कोई साधन नही ।"

स्वे महिम्नि स्वयं स्थित्वा स्वयमेव प्रकाशते ।

"नाद और बिन्दु का साधक अपनी महिमा मे स्वयं स्थित होकर स्वयं प्रकाशता है ।"

शारदा तिलक १।४०-४३ मे यौगिक नाडियो का वर्णन है और इनकी संख्या अनगिनत बताई है । 'षट्चक्र निरूपण' मे नाडियो का वृहद् विवेचन है । षट्चक्रो की भी पूरी जानकारी दी गई है ।

यौगिक नाडियो का अलङ्कारिक भाषा मे इस प्रकार वर्णन है—

इडा योगवती गंगा, पिंगला यमुना नदी ।
इडा पिंगल योर्मध्ये सुषुम्ना च सरस्वती ।।

"इडा नाडी गंगा है, पिंगला यमुना, इन दोनो के बीच मे सुषुम्ना है, वही सरस्वती है ।"

इस तरह से तान्त्रिक साधनाओ और योग मे इतनी घनिष्ठता उत्पन्न हो गई है कि उनको अलग करना भी कठिन हो गया है । तन्त्र मे यौगिक साधनाओ को प्रमुखता दी गई है । इससे इनका महत्व बढा ही है । अतः तान्त्रिक साधनाओ मे यौगिक क्रियाये उच्चासन पर स्थित हैं ।

• • •

तंत्र साधना में गुरु की आवश्यकता

अनेक महत्वपूर्ण विद्याएँ गुरु के माध्यम से प्राप्त की जाती हैं और तंत्र विद्या का प्रवेश-द्वार तो अनुभवी मार्ग-दर्शक के द्वारा ही खुलता है। अक्षरारम्भ यद्यपि हमारी दृष्टि मे पूर्ण सामान्य सी बात है पर छोटा बालक उस कार्य को अध्यापक के बिना अकेला ही पूर्ण करना चाहे तो नही कर सकता भले ही वह कितना ही मेधावी क्यो न हो। गणित, शिल्प, सर्जरी, साइन्स, यंत्र-निर्माण आदि सभी महत्वपूर्ण कार्य अनुभवी अध्यापक ही सिखाते हैं। कोई छात्र शिक्षक की आवश्यकता न समझे और स्वयं ही यह सब सीखना चाहे तो उसे कदाचित् ही सफलता मिले। रोगी को अपनी चिकित्सा कराने के लिए किसी अनुभवी चिकित्सक की शरण लेनी पडती है, यदि वह अपने आप ही इलाज करने लगे तो उसमे भूल होने की सम्भावना रहेगी, क्योकि अपने सम्बन्ध मे निर्णय करना हर व्यक्ति के लिए कठिन होता है।

अपनी निज की त्रुटि, अपूर्णता, बुराई, स्थिति एवं प्रगति के बारे मे कोई विरला ही सही अनुमान लगा सकता है। जिस प्रकार अपना मुँह अपनी आँखो से नही देखा जा सकता, उसके लिए दर्पण की या किसी दूसरे से पूछने की सहायता लेनी पडती है, तभी कुछ जान सकना सम्भव होता है। उसी प्रकार अपने दोष दुर्गुणो का, मनोभूमि का, आत्मिक स्तर का एवं प्रगति का भी पता अपने आप नही चलता, कोई अनुभवी ही इस सम्बन्ध मे विश्लेषण कर सकता है और उसी के द्वारा उद्धार एवं कल्याण का मार्ग-दर्शन किया जा सकता है। जिसने

कोई रास्ता स्वय देखा है, कोई मजिल स्वय देखी है, कोई मजिल स्वय पार की है वही इस रास्ते की सुविधा असुविधाओ को जानता है, नये पथिक के लिये उसी की सलाह उपयोगी हो सकती है। बिना किसी से पूछे स्वय ही अपना रास्ता आप बनाने वाले सम्भव है मजिल पार कर ले, निश्चित रूप मे उन्हे कठिनाई उठानी पडेगी और देर भी बहुत लगेगी। इसलिए जब तक सर्वथा असम्भव ही न हो जाय, तब तक मार्ग दर्शक की तलाश करना ही उचित है। उसी के सहारे अध्यात्मिक यात्रा सुविधापूर्वक पूर्ण होती है।

प्राकृतिक नियमो का अध्ययन करने पर भी यही प्रतीत होता है कि जीव—शक्ति, ज्ञान और भाव के सम्बन्ध मे स्वावलम्बी नही है, परावलम्बी है। उसे बाह्य शक्तियो के सहयोग की अपेक्षा रहती है। इसके बिना वह पगु ही बना रहता है। जब उसकी आन्तरिक शक्ति और बौद्धिक विकास मे पर्याप्त वृद्धि हो जाती है, तब उसे बाह्य शक्तियो की अपेक्षा भले ही न हो, परन्तु फिर भी उसे अन्तर की अचिन्त्य शक्ति का आलम्बन स्वीकार करना ही होगा, तभी वह पूर्ण विकास के पथ पर अग्रसर हो सकता है।

भौतिक शिक्षाओ के शिक्षक अपने विषय की जानकारी देकर अपना कर्तव्य पूरा कर लेते हैं, पर अध्यात्म-मार्ग मे इतने से ही काम नही चल सकता। वहाँ शिक्षा ही पर्याप्त नही, वरन् गुरु द्वारा दिया हुआ आत्मबल भी दान या प्रसाद रूप मे उपलब्ध करना पडता है। जिस प्रकार कि कोई रोगी चिकित्सक की शिक्षा मात्र से अच्छा नही हो सकता, उसे चिकित्सक से औषधि भी प्राप्त करनी पडती है, उसी प्रकार सच्चे गुरु न केवल-आत्म-कल्याण का मार्ग बताते हैं, वरन् उस पर चल सकने योग्य साहस, बल और उत्साह भी देते हैं। यह देन तभी सम्भव है जब गुरु के पास अपनी सचित आत्म-सम्पदा पर्याप्त मात्रा मे हो। इसलिए गुरु का चयन और वरण करते समय उसकी विद्या ही नही, आत्मिक स्तर और तप की सग्रहीत पूँजी को भी देखना पडता

है। यदि यह सभी गुण न हों, तो कोई व्यक्ति अध्यात्म-मार्ग का उपदेष्टा भले ही कहा जा सके, पर गुरु नहीं बन सकता। गुरु के पास साधना, तपस्या, विद्या एवं आत्मबल की पूँजी पर्याप्त मात्रा में होनी चाहिए। साधक को ऐसा ही गुरु तलाश करना पड़ता है।

गुरु वरण करने का तात्पर्य उस व्यक्ति की आत्मा के साथ अपनी आत्मा को जोड़ देना है। जिस प्रकार किसी बड़े तालाब के साथ छोटे तालाब को एक नाली के द्वारा जोड़ दिया जाए, तो बड़े तालाब का पानी छोटे में भी आने लगता है और वह तब तक नहीं सूखता, जब तक कि बड़ा तालाब सूख न जाय।

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्
प्रशान्त चित्ताय शमान्विताय।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं
प्रोवाच तां तत्वतो ब्रह्म विद्याम् ॥
—मुण्डक १।२।१३

"वह ज्ञानी गुरु उस श्रद्धापूर्ण, शान्तचित्त एवं तितिक्षा और साधनानिष्ठ शिष्य को ब्रह्म-विद्या का उपदेश करे, जिससे वह अविनाशी, सत्स्वरूप आत्मा को जान ले।"

गुरु की महत्ता एवं योग्यता, शिष्य की पवित्रता एवं सुपात्रता, गुरु के प्रति भक्ति-भावना रखना, उनके आदेश का अनुसरण करना आदि आवश्यक तथ्यों पर शास्त्रों में अनेक प्रसंग मिलते हैं। वे सभी माननीय एवं विचारणीय हैं। देखिये—

"वेद सम्पन्न आचार्य, ईश्वर-भक्त, मत्सरता रहित, योग ज्ञाता, योग-निष्ठा वाला, योगात्मा, पवित्रतायुक्त, गुरुभक्त, परमात्मा में विशेष रूप से लीन इन लक्षणों से युक्त गुरु कहा जाता है। 'गु' शब्द का अर्थ है—अन्धकार और 'रु' शब्द का अर्थ है—रोकने वाला। अन्धकार को दूर करने से गुरु होता है।

गुरु ही परब्रह्म है। गुरु ही परम गति है गुरु ही पर-विद्या है। गुरु ही परायण योग्य है। गुरु ही पराकाष्ठा है। गुरु ही परम धन है। वह उपदेष्टा होने के कारण श्रेष्ट मे भी श्रेष्ठ है।"

—अद्वयतारक उपनिषद्

"गुरु ही परम धर्म है। गुरु ही परम गति है। जो उनका सम्मान नहीं करता, उसकी विद्या, तपस्या सभी धीरे-धीरे ऐसे क्षीण हो जाती है, जैसे कच्चे घड़े मे जल। जैसी भक्ति देव मे, वैसी ही गुरु मे होने से ब्रह्मज्ञानी परम पद को प्राप्त करता है, ऐसा वेदानुशासन है, ऐसा ही वेद-विधान है।"

—शट्यायनीयोपनिषद्

"गुरु जो आदेश दे, उसका पालन शिष्य को बिना विचार, सन्तोषयुक्त भाव से करना चाहिए। इस विद्या को गुरु से प्राप्त करे। गुरु की सदा सुश्रूषा करें, इसी से मनुष्य का सच्चा कल्याण होता है। श्रुति मे कहा गया है कि गुरु ही साक्षात हरि हैं, कोई अन्य नहो।"

—ब्रह्मविद्या उपनिषद्

अन्य ग्रन्थो मे भी इस सम्बन्ध म बहुत कुछ कहा गया है। वह भी महत्वपूर्ण है। गुरु की महत्ता को प्राय सभी धर्म ग्रन्थो ने एक स्वर से स्वीकार किया है

उत्तिष्ठित ! जाग्रत ! प्राप्यवरान निरोधक।

—ऋग्वेद

'उठो, जागो ! सद्गुरुओ द्वारा ज्ञान को प्राप्त करो।"

गुरुपोदेशतोज्ञेय न च शास्त्राथ कोटिभि'।

"केवल शास्त्रो के आधार पर नहीं, इस विद्या को गुरु द्वारा सीखो।"

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।
समित् प्राणि' श्रोत्रिय ब्रह्म निष्ठम्॥

—श्रीमद्भागवत

"उस ज्ञान की प्राप्ति के लिए वेदज्ञ, ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास हाथ मे समिधा लेकर आ जावे ।"

निमज्या मज्जता घोरे भवाब्धौ परमायनम् ।
सन्तो ब्रह्मविद, शाता नौर्द्ढेवाप्सु मज्जताम् ।।

—श्रीमद्भागवत

"जैसे जल मे डूबते हुओ को नाव ही एकमात्र सहारा है, वैसे ही इस भव सागर मे डूबने से बचने के लिये ब्रह्मवेत्ता सन्तो का ही सबसे बडा सहारा है ।"

दुलभो विषयेत्यागो दुर्लभ तत्व दर्शन ।
दुलभा सहजावस्था सद गुरो करुणाविना ।

'बिना गुरु-कृपा के विषयो का त्याग दुर्लभ है, तत्व-दर्शन दुर्लभ है तथा सहजावस्था का प्राप्त होना भी दुर्लभ है ।"

आत्मज्ञान की उपलब्धि, पापपूर्ण मनोभूमि का परिशोधन, भ्रम-सशयो का उच्छेदन, प्रगति के लिए मार्ग-दर्शन, यह सब कार्य उनके लिये सरल ही हो जाते हैं, जिन्हें अनुभवी सद्गुरु की प्राप्ति हो जाय । इसके बिना अध्यात्म-माग के पथिक को अन्धकार मे ही भटकते रहना पडता है ।

गुरुपदेशास्त्रार्थै बिना चात्मा न बुध्यते ।
एतत्सयोगसत्तैव स्वात्मज्ञान प्रकाशिनी ।।

—योगवशिष्ठ ६।४१।१६

शास्त्र के अध्ययन और गुरु के उपदेश बिना आत्मज्ञान नहीं होता । अधिकारी, जिज्ञासु शास्त्राध्ययन और सद्गुरु इन तीनो के सयोग से ही आत्मज्ञान प्रकाश मे आता है ।

आचार्या द्वे विद्या विहिता साधिष्ठ प्रापत् ।

"आचार्य के विना पराशक्ति स्वरूपा ब्रह्मविद्या स्वधिष्ठित होती ही नही ।"

मन्त्र, भावना-विज्ञान, स्वाध्याय और संयम का जैसा महत्व है, वैसा ही गुरु के सहयोग का भी है। उचित मार्गदर्शन से आधी कठिनाई तो स्वयमेव हल हो जाती है। इसीलिए गुरु को भी एक प्रकार से मन्त्र एवं देवता ही माना गया है।

यथा घटश्च कलश कुम्भश्चैकार्थ वाचका।
तथा मन्त्रो देवता च गुरुश्चैकार्थ वाचका'॥

जिस प्रकार घट, कलश, कुम्भ एक ही वस्तु के कई नाम है, उसी प्रकार मन्त्र, देवता और गुरु एक ही तत्व के नाम है।"

पन्थानो बहव प्रोक्ता मन्त्र शास्त्र मनीषिभि।
स्वगुरोर्मतयाश्रित्य शुभ कार्य न चान्यथा॥

"बहुत-से मार्ग हैं, अनेक मन्त्र एवं शास्त्र हैं पर अपने गुरु के मतानुसार मार्गावलम्बन करने से ही शुभ होता है। इसके विपरीत करने से नहीं।"

अनेक कोटि मन्त्राणि चित्त व्याकुल कारणम्।
मन्त्र गुरो' कृपा प्राप्तमेक स्यात् सर्वसिद्धिदम्॥

"अगणित मन्त्र तो चित्त की व्याकुलता के कारण ही सिद्ध होते हैं। गुरु की कृपा से प्राप्त हुआ एक मन्त्र ही सर्व सिद्धियाँ प्रदान करता है।"

आत्मा को अपने ही विचारों और तर्कों से प्राप्त नहीं किया जा सकता इसके लिए सुयोग्य मार्गदर्शक गुरु का होना नितान्त आवश्यक है। इस सम्बन्ध मे महोपनिषद् मे वर्णित शुकदेवजी का प्रसंग और कठोपनिषद् का प्रमाण मननीय है—

नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय श्रेष्ठ।
— कठ० १।२।६

"यह आत्म-बुद्धि तर्क से नहीं मिलती। हे श्रेष्ठ! दूसरे के द्वारा कही जाने पर ही यह अच्छी तरह जानी जाती है।"

शुकदेवजी के अन्त'करण मे स्वत, ही ज्ञान उत्पन्न हुआ था। पर उससे काम न चला। इस सम्बन्ध मे 'महोपनिपद्' अध्याय २ मे इस प्रकार वर्णन मिलता है—

जात मात्रेण मुनिराड् यत्सत्य तदवाप्तवान्।
तेनासौ स्व विवेकेन स्वमेव महामना ॥
प्रविचार्य चिर साधु स्वात्मनिश्चयमाप्तवान्।

"उन शुकदेवजी को बिना गुरु के उपदेश के ही स्वत' आत्मज्ञान हुआ था। उनकी वासनाए स्वत, निवृत हो गई थी। परन्तु वह ज्ञान दृढ न होने के कारण उनके मन को शान्ति नही हुई। उन्हे अपने ज्ञान विश्वास नही हुआ। इसलिए अपने पिता व्यासजी के आदेश से उन्हे जनक के पास ज्ञान ग्रहण करने जाना पडा।"

गुरुर्गरीयान् मातृत पितृश्चेति मे मति।
—शा० १०८।१७

"माता-पिता से भी गुरु का स्थान ऊँचा है।"

क्योकि—

माता पितरौ शरीरमेव काष्ठ कुडयादि सम जनयत।
आचार्यस्तु सर्व पुरुषार्थ क्षम रूप जनयति॥

"माता-पिता तो लकडी के ढोल सरीखे इस देह को ही जन्म देते हैं, पर आचार्य सब पुरुपार्थ भरे अध्यात्म रूप को ही जन्म देता है।"

श्रुत्याचार्य प्रसादेन दृढोबोधो यदा भवेत्।
निरस्ताशेप ससार निदान पुरुषस्तदा॥
(वाक्यवृति ५०)

"जब श्रुति और आचार्य के अनुग्रह से दृढ ज्ञान उत्पन्न होता है, तब पुरुष की संसार की कारण रूप समस्त अविद्या दूर हो जाती है।"

यथाकूर्म स्वतनयान्ध्यान मार्गेण पोषयेत् ।
वध दीक्षोपदेशाम्तु मानस स्पत्तथाविव ॥

(कुलार्णव तंत्र)

'जिस प्रकार मादा कछुआ केवल ध्यान मात्र से अपने अण्डों का पोषण करती है, उसी प्रकार सच्चे गुरु भी शिष्य को हृदय में ही दीक्षा दिया करते हैं।"

दृष्टान्तो नैव दृष्टान्त्रिभुवन जठेर सद्गुरोर्ज्ञानदातु
स्पर्शश्चेतत्र कल्प्य मनयातियदहो स्वर्णतामश्य सारम्
न स्पर्शत्व तथापि श्रितचरणयुगे सद्गुरु, स्वीयशिष्ये
स्वीय सम्य विवत्ते भवति निरुपमस्तेन वा लौकिकोऽपि ॥

(शंकराचार्य कृत "शतश्लोकी')

"इस त्रिभुवन में ज्ञानदाता सद्गुरु के लिये देने योग्य कोई दृष्टान्त ही दिखाई नहीं देता। उन्हें पारस मणि की उपमा दें तो भी यह ठीक नहीं जँचती, कारण पारस लोहे को तो सोना बना देता है पर पारस नहीं बनाता। पर सद्गुरु के चरण कमल का आश्रय लेने वाले शिष्य को सद्गुरु अपने समान ही बना देते हैं इसलिए सद्गुरु की कोई उपमा नहीं हो सकती।"

चिन्तामणिर्लोके सुख सुरद्रु स्वर्गसम्पदम् ।
प्रयच्छित गुरु, प्रीतो वैकुण्ठ योगि दुर्लभम् ॥

(भागवत माहात्म्य)

'गुरु की कृपा से संसार के समस्त सुख और स्वर्ग की सम्पदा प्राप्त हो सकती है जो कि योगियों के लिए भी दुर्लभ हैं।"

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देवो महेश्वर ।
न गुरोरधिक: कश्चित त्रिषुलोकेषु विद्यते ॥

—योगशिखोपनिषद्

"गुरु ही ब्रह्मा, विष्णु और शिव के समान है, तीनों लोकों में गुरु के समान अन्य कुछ भी नहीं है ।'

आचार्याद्धे विहिता साधिष्ठ प्रापत् ।

"आचार्य के बिना पराशक्ति स्वरूपा ब्रह्मविद्या स्वधिष्ठति नहीं होती ।"

आत्मविद्या चानन्तमुखस्य गुरुकासन्य—
रहितस्य न वेदशास्त्रमात्रेपोत्पद्यते ।

"गुरु की दयादृष्टि से रहित बहिर्मुख मनुष्य केवल वेद-शास्त्र पढकर आत्म-विद्या को नहीं पा सकता ।"

गुरुपूजा विना देवि स्वेष्ट पूजां करोति य: ।
मन्त्रस्य तस्य तेजांसि हरते भैरव: स्वयम् ॥

—कालीविलास तन्त्र

"हे देवि ! जो गुरु-पूजा के बिना अपने इष्ट की पूजा करता है, उसके मन्त्र के तेज को भैरव-हरण कर लेता है ।"

गुरोरघ्रि पद्मे मनश्चेन्न लग्न ।
तत किं तत, किं तत: किं तत: किम् ।

"मन यदि गुरु के चरण-कमलों नहीं में लगा रहा तो और सब किस काम का ?"

कर्मणा मनसा वाचा गुरो क्रोधं न कारयेत् ।
तस्य क्रोधेन दह्यन्ते आयु श्रीज्ञान सत्क्रिया ॥

"कर्म, मन, वचन में गुरु को कभी क्रोधित होने का अवसर नहीं देना चाहिये । उनके क्रोध से आयु, लक्ष्मी, ज्ञान, सत्कर्म का नाश हो जाता है ।"

यथा गुरुस्तथैवेशो यथेवेशस्तथा गुरु, ।
पूजनीयो महाभक्त्या न भेदो विद्यतेऽनयो ।
(शिवपुराण-कैलास स०)

'जैसा गुरु का आदेश हो उसी तरह रहना चाहिये, आचरण करना चाहिये । उनकी परम भक्ति से पूजा करनी चाहिये और तनिक भी भेद नहीं रखना चाहिये ।"

यो गुरु स शिव प्रोक्तो य शिव स गुरु स्मृत ।
तस्माद्धि श्री गुरोर्भक्ति भुक्तिमुक्ति प्रदायिनी ॥
(शिवपुराण)

"जो गुरु है वे शिव स्वरूप है और जो शिव है, वे गुरु स्वरूप है । इसलिए गुरु की भक्ति सब प्रकार से भुक्ति और मुक्ति की प्रदाता होती है ।"

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
यस्यैते कथिता ह्यर्था प्रकाशन्ते महात्मन: ॥
(श्वेताश्वतर)

"भगवान मे जिसकी पराभक्ति है, जैसी भगवान मे वैसी ही गुरु मे है, उस महात्मा पर ये कथित अर्थ प्रकट होते हैं ।"

ते तमर्चयन्तस्त्व हि न पिता योऽस्माकविद्याया पर पार तारयसीति । नम: परम ऋषिभ्यो नम परम ऋषिभ्य. ।

(प्रश्नोपनिषद् ६ ८)

"भगवन् । आप हमारे सच्चे पिता (गुरु) हैं । आपने हमको अविद्या सागर से पार लगा दिया । आप जैसे परम ऋषियो को हमारा नमस्कार है—बारबार नमस्कार है ।"

गुरवो वहवस्तात शिष्याविताय हारकाः ।
विरला गुरवस्ते ये शिष्य सन्ताप हारका ।।

"ऐसे गुरुओ का कभी नही है जो शिष्य का धन हर लेते हैं, पर शिष्य के सन्ताप हरण करने वाले गुरु विरले ही होते हैं ।"

गुरुपदेशतो ज्ञेय न ज्ञेय शास्त्र कोटिभिः ।

"योग का का रहस्य गुरु के उपदेश से ही जाना जाता है, करोडो ग्रन्थ पढने से भी उसका ज्ञान नही हो सकता ।"

स्वयमाचरते यस्मादाचार स्थापयत्यापि ।
आचिनोति च शास्त्राणि आचर्यस्तेन चोच्यते ।।
(ब्रह्माण्ड पु०)

"जो धर्म कर्मावाणादि ग्रन्थो को स्वयम् धारता करते हैं और ग्रन्थो से कराते हैं उन समस्त शास्त्रो के ज्ञाता को आचार्य कहा जाता है ।"

गृणाति उपदिशति धर्ममिति गुर' ।
गिरत्यज्ञानमिति गुर' ।
यद्वा गीर्यते स्तूयते देवगन्धर्वादिभिरिति गुरु' ।।

"धर्म का उपदेश दे तम का विनाश कर ज्ञान रूपी ज्योति से जो प्रकाश मे, देव, गन्धर्वादि मे जो स्तुत हो, उन्ही साक्षात् देव की सज्ञा गुरु है ।"

एकाक्षरप्रदातार यो गुरुत्त्चावमानयेत्
श्वान योनिशत गत्वा चण्डालत्वमवाप्नुयात् ।।
(कुलार्णव तत्र)

"एक भी अक्षर के ज्ञान के प्रदान करने वाले को पूर्ण गुरु मात्र मे मानना चाहिये । यदि कोई ऐसे गुरु का अवमानना करते हैं तो भी

बार कुत्ते की योनि में जन्म ग्रहण करके अन्त में चाण्डाल-त्व को प्राप्त करता है ॥"

कुलार्णव तन्त्र द्वादश उल्लास के अनुसार,—

न पादुकापरो मन्त्रो न देव श्री गुरोः परः ।
न हि शक्तितात् परा दीक्षा न पुण्यं कुलपूजनात् ॥१२॥
ध्यानमूलं गुरोर्मूर्त्ति पूजामूलं गुरोः पदम् ।
मन्त्रमूलं गुरोर्वाक्यं मोक्षमूलं गुरोः कृपा ॥१३॥

पादुका से पर कोई भी मन्त्र नहीं है श्री गुरु से पर कोई देव नहीं है। शक्ति दीक्षा से उत्तम कोई दीक्षा नहीं है और कुल पूजन से पर कोई पुण्य नहीं होता है ॥ १२ ॥ गुरु की मूर्ति ध्यान मूल है और गुरु के चरण पूजा मूल हैं। गुरु के वाक्य मंत्र मूल हैं अर्थात् मन्त्रवत् हैं। गुरु की कृपा ही मोक्ष का मूल होती है ॥ १३ ॥

गुरुमूला क्रिया सर्वा लोकेऽस्मिन् कुलनायिके ।
तस्मात् सेव्यो गुरुर्नित्यं सिद्ध्यर्थं भक्तिसंयुतैः ॥

उपासना की समस्त क्रियाएं गुरुमूल ही होती हैं अर्थात् गुरु ही के द्वारा सही उपासना की पद्धति का ज्ञान होता है। हे कुलनायिके। इस लिये सिद्धि प्राप्त करने के लिए भक्तियुक्त होकर मनुष्यों को गुरु की नित्य ही सेवा करनी चाहिये ॥ १४ ॥

तावदार्त्ति भयं शोको लोभमोहभ्रमादयः ।
यावन्नायाति शरणं श्रीगुरुं भक्तवत्सलम् ॥१५॥
तावद् भ्रमन्ति संसारे सर्व दुःखमलीमसाः ।
न भवेत् सद्गुरौ भक्ति र्यावद् देवेशि देहिनाम् ॥१६॥

इस संसार में तभी तक आर्त्तिजन्य भय होता है और शोक, लोभ, मोह और भ्रम आदि होते हैं जब तक मनुष्य श्री गुरु चरण की शरणागति में नहीं आता है क्योंकि गुरु बहुत ही भक्तों पर वत्सल अर्थात् कृपालु होते हैं और उनकी शरण में जाने पर मनुष्य का परम कल्याण अवश्य ही हो जाता है ॥ १५ ॥ हे देवेशि ! इस संसार में सम-

स्त प्रकार के दु,खो का मल तभी तक देह धारियो को घेरे रहता है और उन्हें भ्रमाता रहता है, जब तक किसी सद्‌गुरु मे पूर्ण भक्ति का भान समुत्पन्न नही होता है ।। १६ ।।

तावदाराधयेच्छिष्य प्रसन्नोऽसौ यदा भवेत् ।
गरौ प्रसन्ने शिष्यस्य सद्य, पापक्षयो भवेत् ।।२०।।

शिष्य को तब तक अपने गुरु की सच्ची आराधना करनी चाहिये, जब तक श्री गुरुचरण प्रसन्न न हो । जब गुरु प्रसन्न हो जाते हैं तो फिर शिष्य के पापो का तुरन्त ही क्षय हो जाता है ।। २० ।।

ब्रह्माविष्णुमहेशदिदेवतामुनियोगिन, ।
कुर्वन्त्यनुग्रह तुष्टा गुरौ तुष्टे न सशय, ।।२२।।

जब गुरुवर पूर्णतया सन्तुष्ट एव प्रसन्न हो जाते हैं तो फिर एक मात्र गुरु की प्रसन्नता होने पर ब्रह्मा, विष्णु, महेशादि देवता, मुनि और योगीगण सभी उस गुरु भक्त पर अनुग्रह किया करते हैं । इसमे तनिक भी सशय नही है ।। २२ ।।

जन्म हेतू हि पितरौ पूजनीयौ प्रयत्नत, ।
गुर्रुविषेशत पूज्यो धर्माधर्म प्रदर्शक ।।४८।।

देहधारी के माता पिता जन्म देने के कारण पूजा के योग्य होते है और प्रयत्नपूर्वक उनकी पूजा करनी चाहिये । गुरु उनसे भी अधिक पूज्य इस लिए होते हैं कि वल धर्म तथा अधर्म का सही-ज्ञान का प्रदर्शन कराते हैं ।।४८।।

गुरोर्हित हि वर्त्तव्य मनोवाक्कायकर्मभि ।
अहिताचरणाद्देवि विष्ठाया जायते क्रिमि ।।५०।।
शरीर विच प्राणेश्चय श्रीगुरु वञ्चयन्ति ये ।
क्रिमिकीटपतङ्गत्व प्राप्नुवन्ति न सशयरौ, ।।५१।।

अपने गुरु के हित को मन, वाणी और शरीर के कर्मो द्वारा पूर्ण रूप से करना चाहिये । हे देवि ! जो कोई भी शिष्य किसी भी समय गुरु

के अहित करने का आचरण करता है तो वह विष्ठा का कीडा बनकर नरक की यातना भोगता है ।।५०।।

शरीर, धन और प्राणो के द्वारा जो कोई शिष्य अपने गुरु का वचन करता है तो वह कृमि, कीट और पतगत्व को प्राप्त होता है, इस मे कोई भी सशय नहीं है ।।५१।।

अनादृत्य गुरोर्वाक्य शृणुयाद् य' पराङ्मुख' ।
अहित वा हित वापि रौरव नरक व्रजेत् ।।६८
गोब्राह्मणवध कृत्वा यत्पापम् समवाप्नुयात् ।
तत् पाप सम वाप्नोति गुर्वग्रेऽनृतभाषणात् ।।६९

गुरु के वाक्य का अनादर करके पराङ्मुख होता हुआ जो कुछ भी सुनता है, चाहे वह अहितप्रद हो या अहितप्रद हो, वह मनुष्य, रौरव नरक मे जाता है ।।६८।।

गौ और ब्राह्मण का वध करने से जो महापाप लगता है, ठीक वैसा ही पातक गुरु के आगे मिथ्या-भाषण करने से लगता है ।।६९।।

न विशेदासने देवि देवता गुरुसन्निधौ ।
गुरो सिंहासन देय ज्येष्ठानामुत्तमासनम् ।
देश्यासन कनिष्ठानामितरेषा समासनम् ।।१०७

हे देवि ! देवता और गुरु की सन्निधि मे कभी आसन पर नही बैठना चाहिए । गुरु के बैठने के लिए सिंहासन देना चाहिए और जो भी अपने बडे हो उनके बैठने के लिए उत्तम आसन देना चाहिए । अपने से छोटो के लिए देश्यासन देवे और अन्यो के लिए बराबर का आसन देना चाहिए ।।१०७।।

'कुलार्णव तन्त्र' के त्रयोदश उल्लास के अनुसार—

य क्षणेनात्मसामर्थ्यं स्वशिष्याय ददाति हि ।
क्रियायासादिरहित स गुरुर्देव दुर्लभ ।।१०१

जो गुरु क्रिया और आयाम से रहित अपनी सामर्थ्य को क्षण

भर मे ही अपने शिष्य को कृपा प्रदान कर देता है, ऐसा आचार्य वस्तुत दव-दुलभ होता है अर्थात् बहुत कठिनाई से ही प्राप्त होता है ।।१०१।।

वर्णाश्रमकुलाचारनिरता बहवो भुवि ।
सर्वसकल्पहीनो य· स गुरुर्देवि दुर्लभ ।।१०६
गुरोयस्यैव सम्पर्कात् परानन्दोऽभिजायते ।
गुरु तमेव वृणुयान्नापर मतिमान्नर ।।११०

वर्ण और आश्रम तथा कुल के आचार मे निरत ससार मे इस पृथ्वी पर बहुत से आचार्य प्राप्त हो जाते हैं, किन्तु जो सब प्रकार से सकल्पो से रहित हो, ऐसा आचाय देवो को भी बहुत दुर्लभ होता है ।।१०६।।

जिस गुरु के सम्पर्क प्राप्त होने से शिष्य को परमानन्द प्राप्त हो जावे, ऐसा ही गुरु वास्तव मे वरण करना चाहिए । मतिमान् व्यक्ति को अन्य आचाय नही बनाना चाहिए ।।११०।।

प्रेरक सूचकश्चैव वाचको दर्शकस्तथा ।
शिक्षको बाधकश्चैव षडेते गुरव स्मृता' ।।१२८
पञ्चैते कायभूता स्यु कारण बोधको भवेत् ।
पूर्णाभिषेककर्त्ता या गुरुस्तस्यैव पादुका ।
पूजनाया महेशानि बहुत्वेऽपि न सशय ।।१२६
श्रा गुरु लक्षणोपेत सशयच्छेदकारकम् ।
लब्ध्वा ज्ञानप्रद देवि न गुर्वन्तरमाश्रयेत् ।।१३०

प्रेरणा दने वाला, सूचना-प्रदाता, वाचक अर्थात् कहकर तत्व का बताने वाला, दर्शक, शिक्षा देने वाला और ज्ञान करा दन वाला— ये दो प्रकार के आचार्य बतलाये गये हैं ।।१२८।। इनमे पाँच प्रकार के आचार्य तो केवल कायभूत ही होते हैं और जो बोध करा देने वाला आचाय होता है वह कारण स्वरूप होता है । जो पूर्ण अभिषेक करने वाला होता है, उसी की पादुका पूजा के योग्य होती है । हे महेशानि !

चाहे वहुत-से आचार्य न हो, परन्तु सबमे अधिक महत्व बोधक-आचार्य का ही होता है ।।१२९।। गुरु के समस्त लक्षणो स युक्त और सशयो के उच्छेद करने वाले तथा ज्ञान प्रदान करन वाले गुरु को प्राप्त कर हे देवि ! फिर दूसरे गुरु की तलाश नहीं करनी चाहिए ।।१३०।।

तन्त्रसार मे लिखा है—

शान्तो दान्त' कुलीनश्च विनीत शुद्धवेषवान् ।
शुद्धाचार' सुप्रतिष्ठ' शुचिदक्ष सुबुद्धिमान् ।।१
आश्रमी ध्याननिष्ठश्च मन्त्रतन्त्र विशारद ।
निग्रहानुग्रहे शक्तो गुरुरित्यभिधीयते ।।२

गुरु शान्तिप्रिय, दमनशील, अच्छे कुल मे समुत्पन्न विनयान्वित, शुद्ध वेष-भूषा रखने वाला, शुद्ध आचार से युक्त, अच्छी प्रतिष्ठा समाज मे रखने वाला, ध्यान मे निष्ठित, मन्त्र और तन्त्र-विद्या का पूर्ण पडित और किसी को दण्ड देने तथा कृपा करने की शक्ति रखने वाला 'गुरु' नाम का अधिकारी होता है ।।१-२।।

ज्ञानार्णव मे लिखा है—

गुरौ मनुष्यबुद्धिञ्च मन्त्रे चाक्षरबुद्धिकाम् ।
प्रतिमासु शिलाबुद्धि कुर्वाणो नरक व्रजेत् ।।१
जन्महेतू हि पितरौ पूजनीयौ प्रयत्नत ।
गुरुर्विशेषत पूज्यो धर्म्माधर्म्मप्रदर्शक ।।२

जो मनुष्य अपने गुरु मे मनुष्य की बुद्धि रखता है तथा देव-प्रतिमाओ मे पाषाण का एक खण्ड मात्र है—ऐसी बुद्धि रखता है, वह अवश्य ही नरक मे जाता है ।।१।। माता-पिता जन्म देने वाले हैं अर्थात् देह को उत्पन्न करने के कारण हैं, इसलिए उनकी अवश्य ही पूर्ण प्रयत्न के पूजा करनी चाहिए । किन्तु उनसे भी अधिक विशेष रूप से गुरु की अर्चना करनी चाहिए, क्योकि 'क्या धर्म है और क्या अधर्म ?' इसका ज्ञान देकर धर्म मे प्रवृत्ति कराने वाले गुरु ही होते हैं ।।२।।

गुरु पिता गुरुर्माता गुरुर्देवो गुरुगति ।
शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन ॥३
गरु हीन न कर्तव्य वाड्मन कायकर्मभि ।
अहिताचरणादेव विष्ठाया जायते कृमि ॥४
मन्त्रत्यागात् भवेन्मृत्युगुरुत्यागात् दरिद्रता ।
गुरुमन्त्रपरित्यागात् रौरव नरक व्रजेत् ॥५

गुरु—माता, पिता, देव और गति सभी कुछ होते हैं, क्योंकि गुरु के बिना किसी प्रकार भी इस देहधारी आत्मा का कल्याण सम्भव नही होता है। साक्षात् शिव-देव भी नाराज हो जावें तो गुरु ही रक्षक हो सकता है, किन्तु यदि वही नाराज हो जावें तो त्रिलोकी मे कही भी कोई त्राण करने वाला नही है ॥३॥ मन, वाणी और कम से गुरु का हित शिष्य को करना चाहिए। गुरु का अहितकर कार्य करने पर विष्ठा का कृमि बनकर जन्म लेना पडता है ॥४॥ मन्त्र के त्याग कर देने पर मृत्यु होती है, गुरु का त्याग कर देने से दरिद्रता होती है और गुरु तथा मन्त्र दोनो के त्याग कर देने पर रौरव नरक मे जाता है ॥५॥

उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान् ब्रह्मद पिता ।
तस्मान्मन्येत् सतत पितुरप्याधिक गुरुम् ॥१॥
गुरुवत् गुरुपुत्रेपु गुरुवत् तत्सुतादिषु ॥

पिता उत्पादक हैं और गुरु ज्ञान देने वाले हैं। शरीर और ज्ञान उत्पादन करने से दोनो ही पिता होते हैं, किन्तु ब्रह्मदान करने वाले गुरु को पिता से भी अधिक मानना चाहिए। गुरु के समान ही उसके पुत्र तथा सुतादि मे पूज्य भाव रखना चाहिए ॥१॥

श्वित्री चैव गलत्कुष्ठी नेत्ररोगी च वामन. ।
कुनखी श्यावदत श्च स्त्रीजितोऽप्याधिकागक ॥
हीनाग कर्पटी रोगी वह्वाशी वहुजल्पक ।
एतैर्दोर्षैविहीनो य स गुरु शिष्यसम्मत ॥

श्वेत और गलित कुष्ठ वाला, नेत्रों के रोग वाला, कुत्सित नखों वाला, बौना, काले दांतों वाला, कर्पट धारण करने वाला, रोगी, बहुत अधिक खाने वाला, बहुत व्यर्थ बोलने वाला गुरु निन्द्य होता है। अत इन दोषों से रहित ही गुरु बनाना चाहिए और ऐसा ही गुरु शिष्य सम्मत होता है।

गुरु की इस अनिर्वचनीय महत्ता को स्वीकार करते हुए कबीर ने गुरु को गोविन्द से भी उच्च आसन प्रदान किया—

गुरु गोविन्द दोऊ खडे, काके लागौं पाय।
बलिहारी गुरु आपनो, गोविन्द दियो बताय॥

ऐसे गुरु की महिमा का वर्णन करना भी सम्भव नहीं है। कबीर के सशक्त शब्दों में—

सब धरती कागद करूँ, लेखनि सब बनराय।
सात समुद्र को मसि करूँ गुरु गुन लिखा न जाय॥

गुरु कैसे होते हैं, उनकी पहिचान और योग्यता की परख करना भी आवश्यक होता है। अब हर व्यक्ति थोडे-से ज्ञान का अर्जन करके कान में मन्त्र फूँकने लिए उत्सुक रहता है और गुरु बनने का अपने को अधिकारी समझने लगता है, परन्तु शास्त्र की आज्ञा है कि गुरु का वरण पूरी जाँच करके ही करना चाहिए। जांच के लिए शास्त्रों और सन्तों के ही आधारभूत तथ्यों का निरूपण किया है।

कबीर ने कहा है—

गुरु कुम्हार शिव कुम्भ है, गढि-गढि काढे खोट।
अन्तर हाथ सहार दे, बाहर बाहे चोट॥

अर्थात् "जिस तरह कुम्हार घडा बनाते समय मिट्टी को गढकर एक व्यवस्थित रूप देता है, उसी तरह गुरु भी शिष्य को कुपथ से हटा कर सुन्दर साँचे में ढाल देता है।"

अर्थात् "त्रिविध तापो से तप्त व्यक्तियो की जो सम्यक् रूप से विष्णु भगवान मे सम्पर्क स्थापित करा देते हैं, जो षट् चक्र भेदन मे कुशल है, जो षडध्व (वर्ण, पद, मन्त्र, कला, भुवन) और तन्त्र के ज्ञान मे पारगत हैं, पिंड कुण्डलिनी शक्ति-पद, तत्र-रूप-विन्दु और रूपातीत ब्रह्म का विवेचन करने की सामर्थ्य रखते है। जो सध्या जप मे विशेषज्ञ हैं, जो षट् चक्रो के मार्ग को जानते हैं, मत्र चैतन्य के जानकार है, स्वयम्भू ने इन्हें ही गुरु माना है। कुण्डलिनी को गति, मन्त्र, तत्र और उनके चैतन्य भाव से जो परिचित हैं, और जो मन्त्र सिद्धान्त के विधि-विधान को जानते हैं, वही वास्तविक गुरु हैं, दूसरे नही।"

इसकी पुष्टि 'नवचक्रेश्वर' तत्र मे की गई है।

पिण्ड पद तथा रूप रूपातीप चतुष्टयम्।
यो वा सम्यग् विजानाति स गुरु, परि कीर्त्तित, ।।

अर्थात "गुरु वही है जो पिण्ड, पद, रूप और रूपातीत इन चारो की जिन्हें सम्यक् रूप से जानकारी है।

गुरु गीता मे कुण्डलिनी शक्ति, हंस, बिन्दु और निरञ्जन को इन चारो की सज्ञा दी गई है।

पिण्ड कुण्डलिनी शक्ति पद हस प्रकीर्त्तितं।
रूप बिन्दुरिति ज्ञेय रूपातीत निरञ्जनम्।

अर्थात् पिन्ड-कुण्डलिनी शक्ति-परम हंस जो कहा गया है उसका रूप बिन्दु जानना चाहिये। वह रूप से परे और निरञ्जन होता है।

अविद्याहृदय ग्रन्थि बन्ध मोक्षो यतो भवेत्।
तमेव गुरुरित्याहुर्गुरु शब्देन योगिन ।।

(शंकराचार्य)

"जो हृदय की अविद्या ग्रन्थि को छेद कर बन्धन से छुडाकर मोक्ष का मार्ग दिखलावें उन्ही को योगीजन गुरु कहते हैं।"

तत्तद्विवेक वेराज्ययुक्तवेदान्त युक्तिभि ।

सद्गुरु मे दो गुणो का होना आवश्यक माना गया है। एक, इच्छा और दूसरी क्रिया। अनेको विद्वान् देखे जाते हैं, जिनके पास विद्या का भ डार रहता है, परन्तु उनमे स्वार्थपरता का अवगुण विद्यमान रहता है अथवा उसके प्रसार के लिए कुछ उद्यम नही करते। उनका ज्ञान सडता रहता है। ज्ञान-प्रसार के लिए इच्छा का होना आवश्यक है। यह पर्याप्त नही है, उसके साथ शक्ति का समादेश होना आवश्यक है। इच्छा मे क्रिया का योग होने पर सोने मे सुहागे का काम करता है। अत' ज्ञान-गगा का स्रोत प्रवाहित करने के लिय आप्त पुरुष—सद्गुरु मे इच्छा और क्रियाशक्ति होनी चाहिए।

अधिकारी गुरु के लक्षणो पर टिप्पणी करते हुए शास्त्रो मे कहा है—

दर्शनात् स्पशनाच्छब्दात् कृपया शिष्यदेहके।
जनयेद् य समावेश शाम्भव स हि देशिक ॥

—योग वशिष्ठ, निर्वाण प्रकरण १।१२८।१६१

अर्थात् "दर्शन, स्पर्शन, शब्द या कृपा से शिष्य के शरीर मे शिव-भाव का जो आवेश कराने की क्षमता रखते है, वही देशिक अथवा गुरु कहलाए जाने के अधिकारी हैं।"

आवेश का अभिप्राय है कुण्डलिनी जागरण के बाद षट्चक्र भेदन और ब्रह्मरन्ध्र मे परम शिव के साथ मिलन।

विष्णो सपर्क. सम्यक् त्रिविधोत्पादकमणि।
षट् चक्र-भेद कुशल षडध्व - ज्ञान - मारग ॥
पिण्डे पदे तथा रूपे रूपातीते विवेचक.।
सध्यात्रयविशेषज्ञो ह्यध्वषटक - विशोधक, ॥
मन्त्र चैतन्य विज्ञाता गुरुसक्त स्वयभुव'।
मन्त्र तन्त्रार्थ चैतन्य कुण्डलिगति वेदक, ॥
मन्त्र सिद्धान्त विधिवत् गुरुर्भवति न भवति न पर'।

अर्थात् "त्रिविध तापो मे तप्त व्यक्तियों की जो सम्यक् रूप से विष्णु भगवान मे सम्पर्क स्थापित करा देते हैं, जो षट् चक्र भेदन मे कुशल है, जो षडव (वर्ण, पद, मन्त्र, कला, भुवन) और तन्त्र के ज्ञान मे पारगत है, पिंड कुण्डलिनी शक्ति-पद, तत्र-रूप-बिन्दु और रूपातीत ब्रह्म का विवेचन करने की सामर्थ्य रखते है। जो म-त्रा जप मे विशेषज्ञ हैं, जो षट् चक्रो के मार्ग को जानते हैं, मत्र चैतन्य के जानकार हैं, स्वयम्भू ने इन्हें ही गुरु माना है। कुण्डलिनी की गति, मन्त्र, तत्र और उनके चैतन्य भाव से जो परिचित हैं, और जो मन्त्र सिद्धान्त के विधि-विधान को जानते हैं, वही वास्तविक गुरु हैं, दूसरे नही।"

इसकी पुष्टि 'नवचक्रेश्वर' तत्र मे की गई है।

पिण्ड पद तथा रूप रूपातीप चतुष्टयम्।
यो वा सम्यग् विजानाति स गुरु, परि कीर्त्तित, ।।

अर्थात "गुरु वही है जो पिण्ड, पद, रूप और रूपातीत इन चारो की जिन्हें सम्यक् रूप से जानकारी है।

गुरु गीता मे कुण्डलिनी शक्ति, हंस, बिन्दु और निरञ्जन को इन चारो की सज्ञा दी गई है।

पिण्ड कुण्डलिनी शक्ति पद हस प्रकीत्तितं ।
रूप बिन्दुरिति ज्ञेय रूपातीत निरञ्जनम्।

अर्थात् पिन्ड-कुण्डलिनी शक्ति-परम हंस जो कहा गया है उसका रूप बिन्दु जानना चाहिये। वह रूप से परे और निरञ्जन होता है।

अविद्याहृदय ग्रन्थि बन्ध मोक्षो यतो भवेत्।
तमेव गुरुरित्याहुर्गुरु शब्देन योगिन ।।

(शकराचार्य)

"जो हृदय की अविद्या ग्रन्थि को छेद कर बन्धन से छुडाकर मोक्ष का मार्ग दिखलावें उन्ही को योगीजन गुरु कहते हैं।"

तत्तद्विवेक वैराज्ययुक्तवेदान्त युक्तिभि ।

श्री गुरु प्रापयत्येव न पद्ममपि पद्मनाम् ।
प्रापय्य पद्मतामेन प्रबोधयति तत्क्षणात् ॥

अर्थात् श्री गुरुदेव विवेक और वैराग्यमय वेदान्त युक्तियो सहित अपद्म को जो पद्म रूप मे परिवर्तन कर देते है और उसे तत्क्षण जागृत कर देते है।"

य सम सर्वभूतेषु विरागो वीतमत्सर ।
कर्मणा मनसा वाचा भीते चाभयद सदा ।
सम बुद्धि पद प्राप्तस्तत्रापि भगवन्मय ।
पच काल परश्चैव पाचरात्रर्थवित्तथा ।
विष्णु तत्त्व परिज्ञाय एच चानेक भेदनम् ।
दीक्षयेन्मेदिनी सर्वा कि पुनश्चोपसम्भवान ॥

(तत्त्वसार)

"जो समस्त प्राणियो मे समभाव रखते है रागद्वेष हीन है, जिन्हे समत्व की प्राप्ति हो गई है और जो भावन्मय हो गये है, जो नित्य कर्म का पालन करते है और वैष्णव शास्त्र का रहस्य जानते है, वे गुरु एक ही विष्णु तत्व का अनेक रूपो मे जान कर सारी पृथ्वी को दीक्षित कर सकते है, फिर ज्ञान सम्पन्न अधिकारियो की तो बात ही क्या है ?"

श्री मद् वासुदेवानद सरस्वती ने अपने 'वृद्ध शिक्षा' नामक, वेदान्त ग्रन्थ मे लिखा है—

विशारद ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय गुरुमाश्रयेत् ।

गुरु को ब्रह्मनिष्ठ और श्रोत्रिय होना आवश्यक है ।

तत्र दार्शनिक भास्कराचार्य ने ललिता सहस्रनाम के भाष्य(१०) मे लिखा है—

अदोऽपि बोधनानापाद्य श्री गुरु सूर्यो बोधयति' अर्थात्— पदोऽद को भी बोध बनाकर श्रीगुरुदेव रूपी सूर्य उसेप्रबुद्ध बना देते है।'

मातृन, पितृन शुद्ध, शुद्धभावो जितेन्द्रिय ।
सर्वागमाना सारज्ञ सर्व शास्त्राथ तत्त्ववित ।

परोपकार निरतो जप पूजादि तत्पर ।
अमोघ वचन, शान्तोवेद वेदार्थ पारग
योगमार्गानुमन्धायी देवता हृदयङ्गम, ।
इत्यादि गुण सम्पन्नो गुरुरागम सम्मत, ।

—शारदातिलक

"जो अमरी माता-पिता से पैदा हो, सदाचारी हो, शुद्ध भावना वाला हो, इन्द्रियाँ जिसके वश मे हो, जो समस्त शास्त्रो के सार को जानत हो, परोपकारी हो, जप-पूजा आदि उपासनाओ मे संलग्न हो, जिस की वाणी अमोघ हो, शान्त हो, वेद और वेदाथ का पारदर्शी हो, योग-माग मे जिसकी प्रगति हो, जो हृदय मे देवता के समान इस प्रकार के गुण जिसके स्वभाव मे हो वही शास्त्र सम्मत गुरु बनाने योग्य है ।"

सुन्दर सुमुख स्वच्छ सुलभो बहुतन्त्रवित् ।
असशय सशयच्छिन्निरपेक्षो गुरूमत ॥
सौन्दर्यमनवद्यत्व रूपे सुमुखता पुन, ।
स्मरेपूर्वाभिभाषित्व स्वच्छताऽजिह्मवृत्तिता ।
सौलभ्यमप्यगर्वित्व सतोषो बहुतन्त्रता ।
असशयस्तत्त्वबोध, तच्छित्तत्प्रतिपादनात् ॥
नैरपेक्ष्यमवित्तेच्छा गुरत्व हितवेदिता ।
एवविधो गरुर्ज्ञयस्तित्वर, शिष्ययु, उद- ॥

अर्थात् गुरु की विशेषता यह है कि वह देखने मे सुन्दर-सुरम्य मुख वाला-साफ आमानी से प्राप्त किए जाने वाला-बहुत से तन्त्र ग्रन्थो ज्ञाता, स्वय सशय से रोहित सशयो की छेदन करने वाला, किसी भी वस्तु की अपेक्षा न रखने वाला ही मुख वाला मुस्कराते हुए भाषण करने वाला शरीर एव वस्त्रादि से स्वच्छ रहने वाला, सरल, आसानी से प्राप्त होने वाला, अजर्वी सन्तुष्ट, बहुत से यन्त्रो का ज्ञाता, सशय रहित, तत्व बोधवाला जो कि शिष्य के समक्ष तत्वाज्ञान का प्रतिपादन कर सके किसी भी अपेक्षा न रखने वाला, धनेच्छा से रहित, हित की बात जानने वाला इस प्रकार

का व्यक्ति गुरु जानना चाहिए-इन गुणगणो से रहित अन्य तो शिष्यो को दु खदायी ही होता ।

ब्रह्मनिष्ठो वेधक शक्तिपात क्षमश्च गुरु. ।

"गुरु ब्रह्मनिष्ठ वेध करन वाला और शक्तिपात करने की क्षमता वाला होना चाहिए ।"

वेध करने का अभिप्राय—षट्चक्रो के भेदन से है ।

'निग्रहानुग्रहक्षमश्च ।'

"गुरु निग्रह और अनुग्रह की क्षमता वाला होना चाहिए ।"

शक्तिपात करने का नाम अनुगह और उसे रोकने का नाम निग्रह है ।

जब शक्तिपात अधिक वेग से हो जाता है, तो उसके कम करने की आवश्यकता पड जाती है । जैसी व्यवस्था भौतिक यन्त्रो मे रहती है, वैसी आध्यात्मिक क्षेत्र मे भी रहती है । गुरु को शक्तिपात के वेग को कम करने की सामर्थ्य वाला होना चाहिए ।

अन्तर्लक्ष्यो वहिर्दृष्टि सर्वज्ञो देश कालवित् ।
आज्ञासिद्धिस्त्रिकालज्ञो निग्रहानुग्रहक्षम ॥
वेधको वोधक शान्त सव जीव दयाकर ।
स्वाधीनेन्द्रियसञ्चार, षड्वर्गविजयप्रद. ॥
अग्रगण्योऽतिगम्भीर पात्रापात्रविशेषवित् ।
शिवविष्णुसम साधुमनु भूषण भूषित. ॥

विशेषता से परिचित हो, जिसकी विष्णु और शिव में समबुद्धि हो (एक को इष्ट मानकर दूसरे के प्रति द्वेष न रखता हो), साधना के भूषणों से भूषित हो। वही गुरु दीक्षा देने के योग्य कहलाता है।"

स्त्री धनादिष्वनासक्तो दुःसङ्गो व्यसनादिषु।
सर्वाहम्भावसन्तुष्टो निर्द्वन्द्वो नियतव्रतः॥
अलोलुपो ह्यसङ्कल्पश्च पक्षपाता विचक्षणः।
निःसङ्गो निर्विकल्पश्च निर्गुणात्मातिधार्मिकः॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी निरपेक्षो नियामकः।
इत्यादिलक्षणोपेतः श्रीगुरुः कथितः प्रियः॥

अर्थात् "जो स्त्री पुत्र और धनादि में अनासक्त हो, दुःसंग और व्यसनों से दूर हो, जो अपने में ही सन्तुष्ट निर्द्वन्द्व और नियमित रूप से व्रतशील हो, अलोलुप, सकल्प आत्मतत्त्व का साक्षात्कारकर्ता, अति धार्मिक, निन्दा-स्तुति में मौन (एक समान समझने वाला), निरपेक्ष (किसी की अपेक्षा न करने वाला), नियामक (अपने आत्मबल से दूसरों को नियन्त्रित करने वाला) हो, ऐसे लक्षणों से युक्त व्यक्ति ही गुरु होने की योग्यता रखता है।"

निर्भयो नित्यसन्तुष्टः स्वतन्त्रोऽनन्तशक्तिमान्।
सद्भक्तवत्सलो वीरः कृपालुः स्मितपूर्ववाक्॥
नित्यनैमित्तिकेकाम्ये रतः कर्मण्यनिन्दितः।
रागद्वेषभयक्लेशदम्भाहङ्कारवर्जितः॥
स्वविद्यानुष्ठानरतो धर्मज्ञानार्थदर्शकः।
यदृच्छालाभसन्तुष्टो गुणदोषविभेदकः॥

अर्थात् "जो व्यक्ति निर्भय, नित्य सन्तुष्ट स्वतन्त्र अनन्त शक्तिशाली, सद्भक्त वत्सल, वीर, कृपालु हास्यपूर्ण सुख देने वाली वाणी वाला, नित्य, नैमित्तिक और अनिन्दित काम्य-कर्म में रत, राग, द्वेष, भय, क्लेश, दम्भ, अहङ्कार से शून्य, विद्या, अनुष्ठान के कार्य में व्यस्त,

धर्म व ज्ञान के अर्थ का प्रसारक, दैव-इच्छा के लाभ से सन्तुष्ट, गुण-दोष के भेद का जानने वाला है, वही गुरु होने का अधिकारी है।"

'कुलार्णव तन्त्र' सप्तदश उल्लास के अनुसार—

गुशब्दस्त्वन्धकारः स्यात् रुशब्दस्तन्निरोधक ।
अन्धकारनिरोधत्वात् गुरुरित्यभिधीयते ।।७
गकार सिद्धिद प्रोक्तो रेफ पापस्य दाहक ।
उकारा विष्णुरित्युक्तस्त्रितयात्मा गुरु. पर, ।।८

"गु"—यह अन्धकार का वाचक होता है और "रु"—यह उस अन्धकार के निरोध करने के अर्थ का वाचक होता है। मनुष्य के हृदय मे अज्ञान स्वरूप अन्धकार के नाश कर देने से ही 'गुरु'—यह शब्द निष्पन्न होता है। ग-कार सिद्धि देने वाला कहा गया है और रेफ पापो को जला देने वाला होता है। उकार विष्णु भगवान् का वाचक कहा गया है। इन तीनो से निष्पन्न 'गुरु'—यह शब्द त्रितयात्मा सबमे परम प्रधान होता है। गुरु शब्द का महत्व बहुत अधिक इसीलिए है कि यह अज्ञान को तथा पाप को नष्ट कर प्रकाश एव ज्ञान की चमक दिया करता है ।।७-८।।

गृणाति उपदिशति धर्ममिति गुरु ।
"जो धर्म का उपदेश करे उन्हे गुरु कहते है।"
गिरत्यज्ञान मिति गुरु,
"जो अज्ञान को दूर करें, वे गुरु हैं।
अविद्या हृदय ग्रथि बन्ध मोक्षो यतो भवेत् ।
तयेव गुरुरित्याग़ुरु शब्देन योगिन ।

—शङ्कराचार्य

"जो हृदय की अज्ञान ग्रन्थि को खोले, उन्हे गुरु कहते है।"
निषेकादीनि कर्माणि य करोति यथाविधि ।
सभावयति चान्नेन स विप्रो गुरु रुच्यते ।

"जो स्वयं कर्तव्य-कर्मों में संलग्न हो और दूसरों को भी वैसी ही प्रेरणा दे, ऐसे ब्राह्मण को गुरु कहते हैं।"

महेश्वर ने स्वयं गुरु के लक्षणों पर प्रकाश डाला है—

नाना विकल्प विभ्रान्ति नाशन्तु कुरुते च यः ।
सद्गुरुः स तु विज्ञेयो न तु स्वरप्रजल्पकः ॥
अतएव महेशानि सद्गुरुः स शिवोदितः ।
सत्यवादी सत्यशीलो गुरुभक्तो दृढव्रतः ॥
स्वल्पाचाररतात्मानो दानादिशीलसंयुक्तः ।
कापट्यलो भविन्यामी महावंश समुद्भवः ॥
ईदृशं सद्गुरुस्तस्य संगतो यत्नवान् भवेत् ।
तदेव मनसा शान्ति प्राप्नोति परमं पदम् ॥

अर्थात् "नाना विकल्प और भ्रान्तियों को नाश करने वाला ही सद्गुरु होता है। केवल शास्त्र की दुहाई देने वाला ही गुरु नहीं कहलाता। इसलिए हे महेशानि! सद्गुरु वह है जो सत्यवादी, गुरुभक्त, दृढव्रती, सूक्ष्म आचार वाले, आत्मरत, दानादि गुणों व शील से संयुक्त, उत्तम वंश में उत्पन्न, कपट-लोभ से रहित हो। ऐसे लक्षणों से युक्त गुरु की पहिचान करके वरण करना चाहिए। उनके सत्संग और कृपा से ही शान्ति व परम पद की उपलब्धि सम्भव है।"

गुरु ईश्वरीय विभूति—

शास्त्रों का यह मत है कि ईश्वर जीव के उद्धारकर्त्ता होने के नाते गुरु के रूप में स्वयं अवतरित होते हैं और शिष्य के उत्थान की योजना बनाते हैं। ईश्वर गुरुओं के परम गुरु माने गये हैं। वही अनादि आचार्य तत्व है। पातञ्जल ने भी अपने योग-सूत्रों में इस तथ्य को स्वीकार किया है—

तस्यात्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजनं ज्ञान धर्मोपदेशेन कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु संसारिणः उद्धरिष्यामीति ।

अर्थात् 'ईश्वर का अपना कोई प्रयोजन नही होता, फिर भी कल्पप्रलय और महाप्रलय मे ज्ञान और धर्म के उपदेश के माध्यम से ससारी जीवो के उत्थान की दृष्टि से वह आते हैं, यही उनका प्रयोजन रहता है। जीव मे उनके अनुग्रह की योग्यता होती है तभी वह अनुग्रह प्राप्त कर पाता है, यह निश्चित है।"

सच्चे आचार्य का उद्देश्य भी यही रहता है, इसलिए शास्त्रकारो ने उसे शिवतुल्य आसन पर आसीन होने की घोषणायें की है। वे आचार्य को शिव-समान समझते हैं और उसी दृष्टि से उनकी पूजा-अर्चना करने की सलाह देते हैं। शिव से स्वय इसे स्वीकार किया है—

शिवोऽहमाकृतिर्देवि नर दृगगोचरो न हि।
तस्मात् श्रीगुरुरूपेण शिष्यान रक्षति सर्वदा ॥

"मेरी शिवरूपी आकृति मनुष्य नही देख सकते, इसलिए गुरु का रूप धारण करके मैं शिष्यो की सदैव रक्षा किया करता हूँ।"

शास्त्र की भी यही उक्ति है—

यस्मान्महेश्वर साक्षात् कृत्वा मानुषविग्रहम्।
कृपया गुरु रूपेण मग्ना प्रोद्धरति प्रजा ॥

अर्थात् "शिव स्वय ही मानुष विग्रह धारण करते हैं और गुरु रूप मे कृपा करके माया मे लिप्त जीवो का उद्धार करते हैं।"

इसलिये उत्तम साधक शिव के साथ एक्य स्थापित करके अपने गुरु का ध्यान करते हैं—

स्वमूर्द्धानि सहस्रार पकजसीन भव्ययम्।
शुद्ध स्फटिक स काशम् शरच्चन्द्र निभाननम्॥
प्रफुल्लेन्दीवराकार नेत्र द्वय विराजतम्।
शुक्लाम्बर धर शुभ्रगन्धमाल्यानु लेपनम्॥
विभूषित श्वेत माल्यै वराभय कर द्वयम्।
वामागतया शक्त्या सहित स्वप्रकाशया ॥

मुग्क्तोपल धारिण्या ज्ञानैर्मुदित मानसम् ।
शिवेनैक्य ममुन्नीय ध्यायेत्परगुरु धिया ।।

—अनन्तफल तन्त्र

"अपने मस्तक के सहस्रदल कमल मे वैठे हुए अविनाशी स्वच्छ स्फटिक मणि के सदृश्य कान्ति वाले, शरद्कालीन चन्द्रमा के समान मुख वाले विकसित कमल के समान, विशाल नेत्र वाले, श्वेत वस्त्र धारण करने वाले, श्वेत गन्ध तथा श्वेत पुष्प की माला को धारण करने वाले, श्वेत चन्दन धारण करने वाले, दोनो हाथो मे वराभय मुद्रा धारण किये हुए अपने प्रकाशित स्वर्ण के-से तेज से युक्त होकर ज्ञान से प्रसन्न चित्त वाले अपने परम गुरुदेव को सदाशिव के साथ एक्य समझकर उनका ध्यान करता हूँ ।"

क्योकि शास्त्र का अनुमोदन यही है—
शिर परेमे शुक्ले दशशत दले केसरगते ।
पतत्रीणा तुल्ये परम शिवरूप निजगुरुम् ।।

—अन्नदाकल्प

"मस्तक मे स्थित सहस्रदल कमल के पत्रो पर परम शिवरूप अपने गुरु का स्थान जाने ।"

शिर पद्मे महादेदेवैस्तथैव परमोगुरु ।
तत्समो नास्ति देवेशि पूज्यो भुवनत्रये ।।
तदश चिन्तयेद्देवि बाह्य गुरु चतुष्टयम् ।।

—निर्वाण तन्त्र

"मस्तक के सहस्रार पद्म मे महादेव ही सर्वप्रधान गुरु हैं। हे देवि ! उसके समान तीनो लोको मे और कोई नही है। गुरु, परम गुरु, परमेष्ठी गुरु और परात्पर गुरु—ये चारो उसी शिव के अंश हैं ।"

शिवरूप समास्थाय पूजा गृहणाति पार्वति ।
गुरुरूप समादाय भवपाशान्निकृन्तयेत ।।

मुग्वतोपन वारिण्या ज्ञानैर्मुदित मानसम् ।
शिवेनैक्य ममुन्नीय ध्यायेत्परगुरु धिया ॥
—अनन्तफल तन्त्र

"अपने मस्तक के सहस्त्रदल कमल मे बैठे हुए अविनाशी स्वच्छ स्फटिक मणि के सदृश्य कान्ति वाले, शरद्कालीन चन्द्रमा के समान मुख वाले विकसित कमल के समान, विशाल नेत्र वाले, श्वेत वस्त्र धारण करने वाले, श्वेत गन्ध तथा श्वेत पुष्प की माला को धारण करने वाले, श्वेत चन्दन धारण करने वाले, दोनो हाथो मे वराभय मुद्रा धारण किये हुए अपने प्रकाशित स्वर्ण के-से तेज मे युक्त होकर ज्ञान से प्रसन्न चित्त वाले अपने परम गुरुदेव का सदाशिव के साथ ऐक्य समझकर उनका ध्यान करता हूँ ।"

क्योकि शास्त्र का अनुमोदन यही है—
शिर परेमे शुक्ले दशशत दले केसरगते ।
पतत्रीणा तुल्ये परम शिवरूप निजगुरुम् ॥
—अन्नदाकल्प

"मस्तक मे स्थित सहस्रदल कमल के पत्रो पर परम शिवरूप अपने गुरु का स्थान जाने ।"

शिर पद्मे महादेदेवैस्तथैव परमोगुरु ।
तत्समो नास्ति देवेशि पूज्यो भुवनत्रये ॥
तदश चिन्तयेद्देवि वाह्यं गुरु चतुष्टुयम् ॥
—निर्वाण तन्त्र

"मस्तक के सहस्रार पद्म मे महादेव ही सर्वप्रधान गुरु हैं। हे देवि ! उसके समान तीनो लोको मे और कोई नही है । गुरु, परम गुरु, परमेष्ठी गुरु और परात्पर गुरु—ये चारो उसी शिव के अश हैं ।"

शिवरूप समास्थाय पूजा गृहणाति पार्वति ।
गुरुरूप समादाय भवपाशान्निकृन्तयेत ॥

स्वानुग्रहकर्त्ता त्वादीश्वर, करुणानिधि ।
आचार्यरूपमास्थाय दीक्षया म क्षयेत पशून् ॥

हे पार्वती ! शिवरूप मे वह पूजा को ग्रहण करते हैं और गुरु के रूप मे भव-बन्धनो को काटते हैं। सब पर अनुग्रह करने वाले करुणा-निधि ईश्वर ही आचार्य रूप ग्रहण करके दीक्षा देकर जीव को मोक्ष दिलाते हैं।

तभी आन्तर गुरु की श्रेष्ठता को शास्त्र ने स्वीकार किया है। उनका यह विश्वास है कि आन्तर गुरु प्रत्येक जीव के हृदय मे अन्तर्यामी रूप से निवास करता है। इसलिए गुरु के इस स्वरूप को निराकार और चैतन्यमय कहा गया है। उन्हे सच्चिदानन्द स्वरूप भी माना जाता है।

तन्त्र-साधना मे गुरु की परम आवश्यकता का आधार उपरोक्त युक्तियाँ ही है। गुरु बिना तन्त्र-मार्ग मे गति असम्भव ही है। अत तन्त्र-साधक को चाहिए कि वह अधिकारी तान्त्रिक को गुरु वरण करे।

• • •

तंत्र के विभिन्न अर्थ और लक्षण

तन्त्र शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार से है—काशिकावृत्ति मे 'तनु विस्तारे' धातुमे औणादिक ष्ट्रन् (सर्वधातुभ्य, ष्ट्रन, उणादि सूत्र ६०८) के योग से बना है।

तन्यते विस्तायते ज्ञान मनेन इति तन्त्रम ।

"तन्त्र उसे कहते हैं जिसके माध्यम से ज्ञान का प्रसार हो।"

कामिक आगम के अनुसार—

तनोति विपुलानर्थान् तन्त्र मन्त्र समन्वितान् ।
त्राण च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते ।।

'तन्त्र का व्यापक अर्थ शास्त्र, सिद्धात, अनुष्ठान, विज्ञान और विज्ञान सम्बन्धी ग्रन्थो से अभिहित किया गया है।"

सर जान वुडरफ के अनुसार "तन्त्र वह है जो ईश्वरप्राप्ति, दिव्यगति तक पहुँचने के लिए आवश्यक आचार-विचार का प्रतिपादन करे।"

शङ्कराचाय ने साख्य दर्शन को भी तन्त्र नाम से ही सम्बोधित किया है—

स्मृतिश्च तन्त्र ख्या परमर्षि प्रणीता ।

—शाङ्करभाष्य २।१।१

"तन्त्र का अर्थ शिवमुखोक्त शास्त्र भी किया जाता है। यह आगम, यामल और तन्त्र तीन नामो से स्मरण किए जाते हैं।

बराही त त्र तो तन्त्रो को वेद के छ अङ्गो मे से एक 'कल्प' मानता है--

कल्पश्चतुर्विध प्रोक्त आगमो डामरस्तथा।
यामलश्च तथा तेषा भेदा प्रथक् प्रथक्।।

अर्थात्—कल्प चार प्रकार का बताया गया है। आगम तथा डामर है उसी भाँति यामल का है। उनके प्रथक्-प्रथक् भेद होते हैं।

त त्र का अभिप्राय है, वह शास्त्र जिससे सासारिक व पारलौकिक ज्ञान का विस्तार हो, जिससे चतुर्वर्ग की प्राप्ति हो। इन महान् उपलब्धियो के लिए जो यन्त्र-मत्रादि सहित एक विशेष पद्धति का निर्देश करते हैं वे तन्त्र हैं।

वाचस्पति मिश्र के द्वारा 'तत्त्ववैशारदी' १।७ मे इस प्रकार व्याख्या हुई है—

आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्ति यस्माद् अभ्युदयनि श्रेयसोपाया स आगम।

इनके अनुसार तन्त्र उस शास्त्र को कहते हैं, जिनसे भोग और मोक्ष के उपायो का बुद्धि मे अवतरण हो--

तत्र का एक अर्थ है—सबमे रमण करने वाला व्यापक तन्तु या सूत्र। यह ऐसा सूत्र है, जिसमे सभी प्रकार के भाव माला के मनको की तरह एक साथ गुथे हुए हैं—

'सूत्रे मणिगणा इव'

अर्थात् 'जिस प्रकार से धागे मे मणि आदि का पिरो दिया जाता है।"

म० म० डा० गोपीनाथ कविराज ने इसकी इस प्रकार व्याख्या की है—

"वेद की भाँति तत्र-क्रम भी बोधात्मक और वागात्मक ही है। शिव मे समवेता शक्ति के दो रूप हैं—ज्ञान एव क्रिया। ज्ञान रूपिणी शक्ति पर और अपर भेद से द्विविध है। परज्ञान बोधात्मक और

अपर-ज्ञान वागात्मक है। वागात्मक ज्ञान शास्त्ररूप मे प्रतिष्ठित है। बोधात्मक परज्ञान वागात्मक अपरज्ञान शब्द पर आरूढ होकर अर्थ-प्रकाश मे प्रवृत्त होता है। सात्वत-सहिता मे परज्ञान को शिव की साक्षात् शक्ति और अपरज्ञान को तन्त्र कहा है।"

श्री नर्मदाशकर देवशकर मेहता ने इसका इस प्रकार स्पष्टीकरण किया है--

"श्रौतकाल पूर्ण होने के बाद उसके अनुसन्धान में आगम ग्रथो का आविर्भाव हुआ है। छादोग्य उपनिषद् मे पञ्चामृत विद्या का वर्णन है। उसमे सूर्यविम्व को देवमधु सज्ञा दी गई है और वह अपनी पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण चारो दिशाओ की किरणो द्वारा ब्रह्माड मे मधु-रस का प्रसरण करता है। पूर्व दिशा की किरणें ऋग्वेद रूपी पुष्प का रस खीचती हैं और उसमे से जो मधु उत्पन्न होता है उसमे वसु देवता अग्नि द्वारा तृप्त होते हैं। दक्षिण दिशा को किरणें यजुर्वेद के पुष्परस को चूसती हैं और उसमे उत्पन्न अमृत से रुद्र देवता इन्द्र द्वारा पुष्ट होते हैं। पश्चिम दिशा की किरणें सामवेद के पुष्प का रस खीचती हैं और उसके अमृत से आदित्य देवता वरुण द्वारा तृप्त होते हैं और उत्तर दिशा की किरणें अथर्ववेद के पुष्पो के सार को खीचती हैं और उसके अमृत से मरुत देवता सोम द्वारा पुष्ट होते हैं। विद्यारूपी अमृत अथवा मधु के आधार पुष्प ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद म अवस्थित हैं और उनके सार को भगवान् सूर्य अपने विम्ब में खीचकर उससे वसु रुद्र, आदित्य और मरुत--इन देवताओ के गण अनुक्रम से अग्नि, इन्द्र, वरुण और सोम--इन चार अध्यक्षो द्वारा मधुरस भोगकर तृप्त होते हैं। इन चार मुखो के रूपक वाले ब्रह्मदेव को चारो वेदो का प्रवर्तक माना गया है। परन्तु उसी उपनिषद् मे सूर्य के ऊर्ध्वमुख का वर्णन है। उसकी किरणें परोरजा कहलाती हैं, क्योकि उसमे रजस् अर्थात् रजोगुण या राग का स्पर्श नही है। उसकी किरणे 'गुह्य आदेश'

को खींचती हैं और उसे ब्रह्मरन्ध्र के पुष्प में से खींचती है तथा उसका जो मधु होता है उसे प्रणव द्वारा साध्य देवता अर्थात् सिद्धजन भोगते हैं। इस 'गुह्य आदेश को, आगम कहते हैं।"

एक अनुभवी तान्त्रिक विमलानन्द स्वामी का कहना है कि तन्त्र द्वारा ही ब्रह्मविद्या का रहस्योद्घाटन चारो युगो मे हुआ है। सतयुग मे जब देवताओ के लिए सकाम कर्मों का बाहुल्य था, तो हेमवती उमा के रूप मे इन्द्रादि देवताओ के समक्ष प्रकट हुई थी, अम्भृण मुनि की पुत्री को वाक्सूक्त मे अवतरित हुई थी। त्रेता मे जब पशु-यज्ञो का विस्तार हुआ तो परशुराम, जनक, वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि के द्वारा प्रकट हुई। द्वापर मे यह भगवान कृष्ण द्वारा आविर्भाव मे आई। कलि मे तो दुर्गा पूजा व अनेक प्रकार के व्रतो मे तन्त्र का समावेश प्रतीत होता है।

पार्वती से शिव ने कहा—

सप्त सप्त सहस्राणि तन्त्राण्याहुर्वरानने।

अर्थात् "हे वरानने ! सात-सात सहस्र तन्त्र कहे गये हैं।"

साधारणत टोटकों को भी तंत्र माना जाता है। यह तन्त्र-ज्ञान के अभाव का ही कारण है।

तन्त्र उन ग्रन्थो को भी कहते हैं जिनमे साधना के पाँचो अंगो—१ पटल, २ पद्धति, ३ कवच, ४ सहस्रनाम, ५ स्तोत्र का प्रतिपादन हो, जिनमे देवी-देवताओ के स्वरूप, गुण, कर्म आदि के चिन्तन योग्य उद्गार उपलब्ध हो और इन मन्त्रो को हविर्यज्ञ मे अवस्थित करके ध्यान की विधि बताई गई हो।

वाराही तन्त्र के अनुसार -

सृष्टिश्च प्रलयश्चैव देवताना तथार्चनम्।
साधन चैव सर्वेषा पुरश्चरणमेव च॥
षट्कर्म साधन चेव ध्यानयोगश्चतुर्विध।
सप्तभिर्लक्षणैर्युक्तमागम तद्विदुर्बुधा॥

तन्त्र उसे कहते हैं जिनमे सृष्टि, प्रलय, देवपूजन, सर्वसाधन, पुरश्चरण, षट्कर्म साधन और चार प्रकार के ध्यान सहित सात प्रकार के लक्षण हो ।

शास्त्रो मे तन्त्रो के लक्षण इस प्रकार वर्णित किए गए हैं—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च तन्त्रनिर्णय एव च ।
देवतानञ्च सस्थान तीर्थानाञ्चैव वर्णनम् ॥
तथैवाऽऽश्रम धर्मश्च विप्रसस्थान मेव च ।
सस्थान चैव भूताना यन्त्राणाञ्चैव निर्णय ॥
उत्पत्तिविबुधाञ्च तरूणा कल्पसज्ञितम् ।
सस्थान ज्योतिषाञ्चैव पुराणाख्यानमेव च ॥
कोषस्य कथन चैव व्रताना परिभाषणम् ।
शौचाऽशौचस्य चाऽऽख्यान नरकाणाञ्च वर्णनम् ॥
सगुणोपासना दिव्या पञ्चतत्वविभेदत ।
चतुष्टयेन भेदेन ब्रह्मणे ध्यानधारणे ॥
मन्त्रयोगो लयश्चैव राजयोगो हठस्तथा ।
उपासनाविधि सम्यगीश्वरस्य परमात्मन ॥
सप्ताना ज्ञानभूमीना शास्त्रोक्ताना विशेषत ।
ज्ञानस्य चाऽधिकारास्त्रोन्भावतात्पर्य्यलक्ष्यत ॥
तन्त्रेषु च पुराणेषु भाषायात्रिविधा स्मृतिम् ।
वेदस्य षडङ्गानि उपवेदचतुष्टयम् ॥
प्रेततत्व पितृतत्व लोकतत्व वरानने ।
जीवतत्व ज्ञानतत्व कर्म्मतत्व शुभाशुभम् ॥
रसायन रससिद्धि जपसिद्धि तप परम् ।
दैव रहस्य शक्तिश्च निश्शेषदेवपूजिताम् ॥
हरचक्रस्य चाख्यान स्त्रीषु मोक्षोव लक्षणम् ।
राजधर्म्मो दानधर्म्मो युगधर्मस्तथैव च ॥

व्यवहार कथ्यते च तथा चाऽहृध्यात्म वर्णनम् ।
इत्यादिलक्षणैर्युक्त तन्त्रशास्त्र विदुर्बुधा- ।।

सृष्टि, प्रलय, तन्त्र-निर्णय, देवीसृष्टि का प्रसार, तीर्थ, ब्रह्मचर्यादि, आश्रम धर्म, ब्राह्मणादि वर्ण धर्म, जीवसृष्टि का प्रसार, मन्त्र, देवोत्पत्ति, औषधि कल्प, ग्रह-नक्षत्रादि सस्थान, पुराण कथाएँ, कोप, व्रत, शौचाशौच, नरक, आकाशादि पाँच तत्वो के अधिकार के अनुसार पाँच प्रकार की सगुण साधना, चार प्रकार का ध्यान और धारणा, मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग, राजयोग, ईश्वर-प्राप्ति के उपाय सात दर्शनशास्त्रो की सात ज्ञानभूमि का रहस्य, तीन भावो का लक्ष्य, तन्त्र और पुराणो की तीन तरह की भाषा का विवरण, वेद के छ अ ग, चारो उपवेद, प्रेततत्व, पितृतत्व, चतुर्दश लोकतत्व, जीवतत्व, ज्ञानतत्व, शुभाशुभ कर्मतत्व, रसायन शास्त्र, रसायन सिद्धि, जपसिद्धि, उत्कृष्ट तपसिद्धि, दैवी जगत से सम्बन्ध रखने वाले रहस्य, समस्त देवताओ द्वारा पूजित शक्ति का विवेचन, चक्र, स्त्री-पुरुष लक्षण, राजधर्म, दानधम, व्यवहार-नीति, आत्मा-अनात्मा आदि विषयो का विवेचन जिन शास्त्रो मे उपलब्ध होता हो, वे तन्त्रशास्त्र कहे जाते हैं।

भारतीय सस्कृति के प्रमुख अ ग हैं—निगम और आगम। निगम—वेद मे ज्ञान, कर्म और साधना का विवेचन है। आगम—तत्र मे इनकी साधन प्रणाली का दिग्दर्शन प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए अद्वैत वेदान्त मे अद्वैत तत्व के सिद्धात को सिद्ध किया गया है तो शाक्त आगमो मे इसकी व्यवहारिक उपासना का निरूपण है।

स्वच्छन्द तन्त्र पटल श्लोक ३८० मे 'आगम' शब्द की परिभापा करते हुए लिखा है--

आगमो ज्ञानमित्युक्तभनन्ता शास्त्रकोटय ।

अर्थात्—आगम को ज्ञान कहा गया है और शास्त्रो की कोटियाँ तो अनन्त हैं।

गीता के अनुसार--

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥

—२।१४

अर्थात् 'हे कौन्तेय ! तन्मात्राओं का जो स्पर्श अर्थात् सम्पर्क है वह शीत-उष्ण, सुख और दुःख देने वाला होता है । हे भारत ! उन आगमापायियों तथा अनित्यों को सहन करो ।"

वाचस्पति मिश्र ने तत्त्व वैशारदी में कहा है—

आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्ति यस्मादभ्युदयनिःश्रेयसोपायाः स आगमः ॥

अर्थात् "आते हैं अर्थात् बुद्धि का आरोहण करते हैं जिससे अभ्युदय एवं निःश्रेयस के उपाय होते हैं, वह आगम है ।"

शिव के पाँच मुखों में से एक ईशान है । इससे जो गुह्य आदेश निकलते हैं, उन्हें आगम की संज्ञा दी गई है । इसकी साक्षी स्वच्छन्द तन्त्र में है—

मन्त्राख्यं तु महाज्ञानमीशानात्तु विनिर्गतम् ।
सद्योजातस्तु ऋग्वेदो वामदेवो यजुः स्मृतः ।
अघोरः सामवेदस्तु पुरुषोऽथर्व उच्यते ।
ईशानश्च सुरश्रेष्ठः सर्वविद्यात्मकः स्मृतः ।

अर्थात् "मन्त्र नाम वाला महाज्ञान ईशान से ही विनिर्गत हुआ है । ऋग्वेद सद्योजात है और यजु वामदेव कहा गया है । सामवेद अघोर है, अथर्व पुरुष कहा जाता है । ईशान सब सुरों में श्रेष्ठ है और सर्व विद्याओं का स्वरूप कहा गया है ।

इसी बात को रुद्रयामल में इस प्रकार कहा गया है—

आगतं शिववक्त्रेभ्यो गतञ्च गिरिजानने ।
मतञ्च हृदयाम्भोजे तस्मादागम उच्यते ॥

अर्थ—"शिव के मुखों में आया है और गिरिजा के आनन में गया है। हृदय-कमल में निमग्न है, इसी से आगम कहा जाता है।"

ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विवृति विमर्शिनी में आगम का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है—

सर्वथा अनुमाने न आश्वसितव्यम् ।
अपि तु आगम एव, स च यो यस्य हृदये
निरूढिमुपगतः स एव ॥
ननु एवं यस्य न किञ्चिन्निरूढं, तस्य किम् ।
ननु एवं यस्य चक्षुषी न स्तः, तस्य किम् ?

अर्थ—"सर्वथा अनुमान में आश्वासन नहीं करना चाहिए बल्कि आगम में ही करे, और वह योग के हृदय में निरूढि को उपगत हुआ है वही है। क्यों जी, इस प्रकार से जिसका कुछ भी निरूढ नहीं है, उसका क्या है ? क्यों जी, इस प्रकार से जिसके चक्षु नहीं है उसका क्या है ?"

वेद को भी आगम की संज्ञा दी गई है। स्तवचिंतामणि (६९) के अनुसार—

नुमस्त्वा ऋग्यजुःसाम्नां शुक्रतः परतः परम् ।
यस्य वेदात्मिकाज्ञेयमहो गम्भीरसुन्दरी ॥

अर्थ—'ऋक्, यजु और साम का शुक्र से, पर से पर आपको नमस्कार करते हैं। जिसका ज्ञेय वेदात्मक ही है! अहो, गम्भीर सुन्दरी ॥

ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विवृति विमर्शिनी में भी कहा है—

ऋगादीनां शुक्रं सारं वीर्यं वाक्त्रयं पूर्वं व्याख्यातमिच्छादिशक्तित्रयमयं ततो यत्पर परशक्त्यात्मकमानन्दधाम, ततः परं समस्तशक्तिप्रतिष्ठारूपपरमशक्तिविश्रान्तिधाम तत् नुमः । अहो, इति गाम्भीर्यस्य सौन्दर्यस्य च अतिशयं द्योतयन्

अध्यात्माधिभूताधिदेवादि विषयार्थमहस्रगर्भत्वमाचक्षाणा सर्वागमाविसंवादिता वेदागमस्य आह ॥

अर्थ—"आदि का शुक्र मारवीर्य है। वाक्य पूर्व में व्याख्यात हो गया है जो इन्द्रादि शक्तियों से पूर्ण है। इसके पश्चात् जो यह परशक्ति अर्थात्मक आनन्दधाम है। उससे भी पर समस्त शक्ति प्रतिष्ठा रूप परम शक्ति का विश्राम धाम है, उसको प्रणाम करते हैं। अहो! इसमें गाम्भीर्य और सौन्दर्य का अतिशय द्योतित करते हुए अध्यात्म, आधिभूत, आधिदैव आदि विषयों के महत्त्वों का मध्य में रहना कहते हुए समस्त आगमों की अविसंवादिता वेदागम की कहते है।"

ब्रह्मयामल के अनुसार—

तन्त्रकृत्तन्त्रसम्पूज्या तन्त्रेशी तन्त्रसम्मता।
तन्त्रेशा तन्त्रवित्तन्त्रसाध्या तन्त्रस्वरूपिणी॥

अर्थ—तन्त्रों के करने वाली—तन्त्रों के द्वारा सम्पूज्य तन्त्र की स्वामिनी, तन्त्रों से सुसम्मत, तन्त्रेशा, तन्त्र की वेत्ता, तन्त्र से प्रसाध्य और तन्त्र स्वरूप वाली है

प्र० आ० तन्त्रालोक टीका में कहा गया है—

तन्त्र जज्ञे रुद्रशिवभैरवाख्यमिदं त्रिधा।
वस्तुतो हि त्रिधैवेयं ज्ञानसत्ता विजृम्भते।
भेदेन भेदाभेदेन तथैवाभेदभागिना॥

अर्थ—यह तन्त्र रुद्र, शिव और भैरव नाम वाला तीन प्रकार का समुत्पन्न हुआ है। वास्तव में यह तीनों प्रकार से ज्ञातसत्ता विजृम्भित होती है, भेद से—भेदाभेद से और इसी भाँति अभेदभागी होने से तीन भेद हैं।

याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार—

द्वौ दैवे प्राक् त्रयः पित्र्ये उदगेकैकमेव वा।
मातामहानामप्येवं तन्त्रं वा वैश्वदेविकम्॥

अर्थ—देवकर्म मे दो, पितृकर्म मे तीन, अयो को एक-एक ही उदकाञ्जलि होती है। मातामहो की भी इसी प्रकार से होती है अथवा वैश्वदैविक तन्त्र है।

कात्यायन श्रौत-सूत्र (१।७।१) के अनुसार—

कर्मणा युगपद्भाव तन्त्रम्।

अर्थ—कर्मों का जो युगपत् भाव है वह तन्त्र है।

ऋग्वेद मे १०।७१।९ मे तन्त्र का उल्लेख हुआ है—

इमे ये नार्वाङ् न परश्चरन्ति न ब्राह्मणासो न सुतेकरास ।
त एते वाचमभिपद्य पापया सिरीस्तन्त्र तन्वते अप्रजज्ञया।।

अर्थ—इस लोक मे पुरुष वेद के जानने वाले ब्राह्मणो और पारलौकिक देवताओ के सहित यज्ञादि कर्मो को नही करते। जो स्तुति नही करते और न सोम याग की ही इच्छा करते हैं, वे पाप के चगुल मे फँसकर मूर्खों के समान केवल लोक व्यवहार के द्वारा हल चलाने मे चतुर होते हैं।

यजुर्वेद ३८।१२ मे तन्त्र का अर्थ सूय के अर्थ मे हुआ है—

तन्त्रायिणे नमाद्यावापृथ्वीभ्याम ।

"सूर्य और द्यावा पृथ्वी को नमस्कार है।"

यहाँ कालचक्र को तन्त्र माना है, तभी सूर्य को तन्त्रायी शब्द से अभिहित किया गया है—

आश्वलाय श्रौत सूत्र १।१।३ के अनुसार---

दर्शपूर्णमासौ तु पूर्व व्याख्यास्याम तन्त्रस्य तन्त्रम्नातत्वात्।

अथ—दर्श और पौर्णमासो की पूर्व मे व्याख्या करेगे क्योकि तन्त्र का वहाँ पर आम्नात तत्व होता है।

वाचस्पत्यम् पृष्ठ ३२२५ मे तन्त्र के अनेको अर्थ इस प्रकार दिए गये हैं—

१ प्रबन्ध २ राष्ट्र ३ गृह ४ धन ५। कुल ६ हेतु ६ स्वराष्ट्र

चिन्ता ८ प्रधान ९ औषधि १० सिद्धान्त ११ परिवार के पालन-पोषण आदि कार्य १२ परिच्छद १३ तन्तुवाय १४ वेद शाखा भेद १५ वयन साधन १६ इति कर्तव्यता १७ शिवादि शास्त्र भेद १८ उभयार्थक प्रयोग १९ शपथ २० परच्छन्दानुगमन ।

वेद में—

तन्त्रे कालचक्र यदि निरन्तर गच्छति तन्त्रायी तस्मै आदित्याय नमोऽस्तु । 'एष व तन्त्रायी य एष तपत्येष होमाँल्लोकांस्तन्त्र सवानुचरति ।'

अर्थात् तन्त्र में कालचक्र निरन्तर जाता है, उस तन्त्रायी आदित्य के लिए नमस्कार है यह निश्चय ही तन्त्रायी है, जो यह तपता है । यह इन लोकों का तन्त्र की तरह अनुसञ्चरण करता है ।"

कर्काचार्य के अनुसार—

यत्र प्रधान कर्मणा युगपद्भाव सह प्रयोग तत्र आरादुपकारकाणा अङ्गाना तन्त्र सकृदनुष्ठान भवति । न प्रतिप्रधान पृथक्-पृथक्, यदि सकृत्कृत बहुना उपकरोति तत्त त्रमि युच्यते यथा बहूना मध्ये कृत प्रदीपा ।

अर्थात् 'जहाँ पर प्रधान कर्मों का युगपद्भाव है, सहप्रयोग है वहाँ पर समीप में उपकार को अगों का तन्त्र सकृत् अनुष्ठान होता है । प्रतिप्रधान पृथक्-पृथक नहीं है । यदि एक बार किया हुआ बहुतों का उपकार करता है वह तंत्र—यह कहा जाता है । जिस प्रकार से बहुतों के मध्य में किया हुआ प्रदीप है ।

'मंत्र और मातृकाओं का रहस्य' पुस्तक के लेखक ने तंत्र की व्याख्या इस प्रकार की है—

"वस्तुत भावी विश्व की सूक्ष्म रूप-रेखा जहाँ बनती है—तानी जाती है वह सूक्ष्माकृति समष्टि, अभेद रूप वस्तु-तत्त्व ही तन्त्र है । अनन्तर वही वस्तु तत्त्व, जब कुछ पूर्व दशा में उन्मिषित होता है तब भेद और अभेद रूप को प्राप्त करके भावी प्रसार अथवा फैलाव का मध्यावस्थात्मक ठाठ या तन्त्र कहलाया है और भेदात्मक पूर्ण प्रसार तो तन्त्र है ही इस प्रकार तन्त्र की त्रिधा स्थिति ही सम्भव है ।"०००

तंत्र का सिद्धान्त

शक्ति-तत्व की व्याख्या—

ब्रह्म की क्रिया और उसकी सक्रिय अवस्था को शक्ति कहते हैं। ब्रह्म का ब्रह्मत्व उसकी शक्ति है। जड का जडत्व भी उसकी शक्ति है। सत् का सत्पना भी उसकी शक्ति हैं। ससार मे जितने भी जड और चेतन पदार्थ दिखाई देते हैं, उनके अस्तित्व मे शक्ति ही है। शक्ति के कारण ही वे बने रह सकते हैं। इसलिए शक्ति को विश्वमय और विश्व का आधार माना जाता है। चारो ओर हमे शक्ति के ही चमत्कार दिखाई देते है, सृष्टि की सारी क्रियाएँ शक्ति के सहारे होती हैं—हमारे शरीर, इन्द्रियो और मन का सचालन भी शक्ति के कृपा-प्रसाद से होता है। जल, वायु, अग्नि की समस्त क्रियाओ मे भी शक्ति ओत-प्रोत है। जगत् की छोटी-से-छोटी क्रिया मे शक्ति का हाथ है। उसकी आज्ञा के बिना एक पत्ता भी हिल नही सकता। ब्रह्म मे जो सत्, चित् और आनन्द आदि के गुण पाए जाते हैं, उसका मूल-स्रोत भी शक्ति ही है। ब्रह्म तो निर्विकार है, वह कुछ नही करता, क्रियाशीलता का श्रेय तो शक्ति को ही है। वही सर्वस्व है। उसी के बल पर हम सोचते देखते, बोलते व समस्त कार्य करते है। जानने, समझने, सुनने, स्पर्श करने आदि की सारी क्रियायें उसी के कारण होती हैं। इस शरीर के सचालन के लिए जिन वस्तुओ की आवश्यकता रहती है, उनकी उत्पत्ति भी उसी से होती है, प्राणो का सचार भी वही करती है। आकर्षण शक्ति, विद्युतशक्ति और चिन्तन शक्ति आदि सभी को शक्ति का साकार

रूप कहा जा सकता है। चारो ओर शक्ति का ही खेल है, ब्रह्म इसके विना कुछ भी करने मे असमर्थ हैं। शिव शक्ति के विना शव बन जाते हैं। श्री अध्यात्म रामायण मे सीताजी ने हनुमानजी से कहा है कि भगवान राम तो कुछ नही करते, अवतार की समस्त लीलाएँ तो मैंने ही की हैं।

ईश्वर ने यह सकल्प किया कि 'एकोऽहं बहुस्याम्'—मैं एक हूँ, बहुत हो जाऊँ—ब्रह्म के इसी सकल्प अथवा इच्छा को आद्याशक्ति व महाविद्या की सज्ञा दी जाती है। इसी को आदिशक्ति, आदिमाया, महेश्वरी, परमेश्वरी, मूल प्रकृति, जगदीश्वरी, पराशक्ति, माया, महा-माया, कुण्डलिनी कहा जाता है। काली, नवदुर्गा, नवशक्ति, महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती भी उस शक्ति के ही व्यक्त रूप हैं।

मूल प्रकृति अव्यक्त रूप मे रहती हैं जो इस ससार का मूल मानी जाती हैं। इसमे चेतन शक्ति अव्यक्त रूप मे ही निवास करती है। वह जब शरीर के शक्ति-केन्द्रो मे प्रवेश करती है, तो उसके भिन्न-भिन्न रूप हो जाते हैं। मूलाधार चक्र मे आकर वह 'डाकिनी', स्वाधिष्ठान चक्र के 'राकिनी', मणिपुर चक्र मे 'लाकिनी', अनाहत चक्र मे 'काकिनी' और विशुद्ध चक्र मे 'शाकिनी' का रूप ग्रहण करती है।

शक्ति के व्यक्त होने के माध्यम हैं, प्रकृति के तीन गुण—सत्, रज और तम। वह पृथ्वी, जल, वायु, तेज और आकाश को अपना साधन बनाती है। इन पाँच तत्वो में जब मन, बुद्धि और अहकार सम्मिलित हो जाते हैं, तब वह जड अथवा प्रकृति कहलाती है। यह छोटे स्तर की है। ऊँचे स्तर की परा-प्रकृति है, जिसे आत्मा रूप और क्षेत्रज्ञ कहते हैं, यह चैतन्य प्रकृति है। यही ससार के अणु अणु मे व्याप्त है, जीवधारियो के जीवन की आधारशिला यही है।

एक विद्वान् ने इसे बडे सुदर रूप मे व्यक्त किया है—

"भारतीय दर्शन मे शक्ति का स्वरूप बहुत ही दिव्य, बहुत ही उदात्त है। शक्ति ही विश्व का सृजन करती है, शक्ति ही उसका

संचालन करती है और शक्ति ही संहार करती है। शक्ति ही सृष्टि का आदि कारण है। शक्ति ही वह परम तत्त्व है, जिससे इस मिथ्या जगत की उत्पत्ति हुई है। जड़ प्रकृति के पूर्व भी शक्ति थी और शक्ति की इच्छा से ही भौतिक जगत की सृष्टि हुई। इसलिए शक्ति-दर्शन में न तो ईश्वरवाद है, न देवी देवता हैं और न है पञ्चमकार ही। यह तो विशुद्ध अद्वैतवाद है जिसमें आत्मा को प्रकृति के परे माना गया है।"

शक्ति का वास्तविक रूप—

विद्या शक्ति को हिन्दू धर्म में जगज्जननी स्वीकार करके दुर्गा काली, भवानी आदि अलग अलग रूपों और नामों में पूजा जाता है। वही पार्वती हैं। इन्हें हिमालय की पत्नी मनका की पुत्री कहा जाता है। वैदिक कोष निघण्टु में 'मेना' और 'मेनका' का अर्थ 'वाणी और 'पर्वत, 'गिरि' का अर्थ 'मेघ' बताया गया है। माता बच्चे का पालन-पोषण दूध से करती है। जगन्माता जलरूपी दूध से प्राणियों की तृप्ति करती हैं। इस कार्य में मेघ भी सहायता देता है। वह पिता की भूमिका का अभिनय करता है। पार्वती और गिरिजा शब्दों के प्रचलन का भी यही अभिप्राय है। निरुक्त में हिमालय को भी मेघ कहा गया है 'हिमेन उदकेन' (नि० अ० ६)।

दुर्गा दुर्गति का नाश करने वाली बताई जाती है। यह बिना शक्ति के सम्भव नहीं। इसीलिए शक्ति-सम्राट सिंह को उनका वाहन माना गया है। वह स्वयं शक्तिरूपा हैं, वह शक्ति को अपने नियन्त्रण में रखती है, तभी तो आसुरी शक्तियों के विनाश की सामर्थ्य रखती हैं। मार्कण्डेय पुराण के अनुसार जब वह राक्षसों के साथ युद्ध करती हैं, तो मद्यपान करती हैं। मद्य का अर्थ अहंकार है। वह अहंकार शून्य होकर संघर्ष करती हैं। अहंकार शक्ति के लिए घुन और दीमक का काम करता है। शक्ति के निकट अहंकार कैसे आने का साहस कर सकता है? शक्ति की स्थिरता तभी रह सकती है जब अहंकार पर विजय प्राप्त

कर ली जाती है। अतः अहंकार रूपी मदिरा का पान करके ही वह युद्ध में विजय-प्राप्त करती हुई राक्षसों का मदमर्दन करती है।

शक्ति तो सर्वव्यापक है। जड़ और चेतन हर वस्तु में वह सूक्ष्म रूप में विद्यमान है। सभी दिशाएँ उनका निवास हैं। इन दिशाओं को वस्त्र की संज्ञा दी जाती है। इसीलिए उनका 'दिगम्बरा' नाम भी पड़ा।

'सौन्दर्यलहरी' (३५) में कहा गया है "सारा व्यक्त जगत अर्थात् पंचतत्वों का निर्मित यह शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहंकार शिव की प्रधान अर्द्धाङ्गिनी भगवती जगदम्बा के ही रूप हैं। इन्हें शक्ति के चमत्कार के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है?"

मूलाधार चक्र में स्थित साढ़े तीन लपेटे लेकर सर्पाकार में सुप्त कुण्डलिनी विद्यमान है, जो परमात्मा की शक्ति कही जाती है। इसके जागरण से ही शक्ति और सिद्धियों के द्वार खुलते हैं, ब्रह्मविद्या की अनुभूति होती है, मोक्ष का मार्ग प्रशस्त होता है। स्वामी शंकराचार्य ने इस सम्बन्ध में कहा है—

शक्तिः कुण्डलिनीति विश्वजननव्यापारबद्धोद्यमा।
ज्ञात्वेत्थं न पुनर्विशन्ति जननीगर्भेऽर्भकत्वं नरा ॥

"कुण्डलिनी शक्ति ही इस प्रकार जगत की सृष्टि के व्यापार में परिश्रम कर रही है—ऐसा जानकर मनुष्य माता के गर्भ में बाल-भाव को पुनः प्राप्त नहीं होते।"

अतः शक्ति का आह्वान ही पार्वती-दुर्गा का वास्तविक पूजन माना गया है।

शिव-शक्ति दोनों से सृष्टि-रचना का सम्पादन—

शिव का महत्व शक्ति से युक्त होने में ही है, इसका सुन्दर विवेचन भगवान शंकराचार्य ने 'सौन्दर्यलहरी' के आदिम श्लोक में किया है—

शिव शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्त प्रभवितुम् ।
न च देव न खलु कुशल स्पन्दितुमपि ।।

अर्थात् "शक्ति से युक्त शिव सामर्थ्य वाले होते हैं, और यदि शक्ति से रहित होते हैं, तो स्पन्दन के योग्य भी नही रहते ।"

शिव और शक्ति दोनो अभेद हैं, दोनो एक हैं । गोरखनाथ ने 'सिद्ध सिद्धात पद्धति' मे कहा है—

शिवास्याभ्यन्तरे शक्ति शक्तेरभ्यन्तरे शिव ।
अन्तर नैव जानीयात् चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ।।

"शिव के अन्दर शक्ति है और शक्ति के अन्दर शिव हैं । जिस तरह चन्द्रमा और चांदनी मे कोई भेद नही प्रतीत होता, उसी तरह शिव और शक्ति मे भी कोई भेद नही है ।"

यदि सूय और उनकी किरणो मे कोई अन्तर नही तो शिव और शक्ति मे भेद की कल्पना कैसे की जा सकती है ?

योग वशिष्ठ के निर्वाण प्रकरण मे कहा गया है कि जिस तरह वायु और उसका स्पन्दन, अग्नि और उसकी तपश दोनो एक ही हैं, उसी तरह चिति अर्थात् ब्रह्म और स्पन्द-शक्ति अर्थात् माया दोनो एक ही हैं । शक्ति और शक्तिमान में सदा अभेद रहा है बिना शक्ति के शक्तिमान का वर्णन कैसे किया जा सकता है ? जिस तरह धन, बल और बुद्धि होने से ही धनवान, बलवान और बुद्धिमान बनता है, उसी तरह शक्ति होने से शक्तिवान बनता है । दोनो मे एक्य है ।

शिव को अग्नि और शक्ति को सोम की सज्ञा दी गई है । सोम शब्द उमा से ही बना है—'उमया सहित सोम' ।

बृहज्जाबालोपनिषद् ब्राह्मण (२) मे कहा है—

अग्नीषोमात्मक विश्वमित्याग्निराचक्षते ।
रौद्री घोराया तैजसी तनू ।
सोम शक्त्यमृतमय शक्तिकरी तनू ।

अमृत यत्प्रतिष्ठा सा तेजो विद्याकला स्वयम् ।।
स्थूलसूक्ष्मेषु भूतेषु स एव रसतेजसि (सी) ।।१।।
द्विविधा तेजसो वृत्ति' सूर्यात्मा चानलात्मिका ।
तथैव रसशक्तिश्च सामन्माचान (नि)लात्मिका ।।२।।
वैद्युदादिमय तेजो मधुरादिमयो रस ।
तेजो रसविभेदैस्तु वृत्तमेतच्चराचरम् ।।३।।
अग्नेरमृतनिष्पत्तिरमृतेनाग्निरेधते ।
अतएव हवि क्लृप्तमग्नीषोमात्मक जगत् ।।४।।
ऊर्ध्वशक्तिमय(य)सोम अधो(ध)शक्तिमयोऽनल ।
ताभ्या सम्पुटितस्तस्याच्छश्वाद्विश्वमिद जगत् ।।५।।
अग्ने(ाग्नि) रूर्ध्वं भवत्येषा(ष)यावत्सौम्य परामृतम् ।
यावदग्न्यात्मक सौम्यममृत विसृजत्यध ।६।।
अतएव हि कालाग्निरधस्ताच्छक्तिरुर्ध्वगा ।
यावदादहनश्चोर्ध्वमधस्तात्पवन भवेत् ।।७।।
आधारशक्त्यावधृत कालाग्निरयमूर्ध्वग ।
तथैव निम्नग सोम शिवशक्तिपदास्पद ।।८।।
शिवश्चोर्ध्वमय' शक्तिरूर्ध्वशक्तिमय' शिव ।
तदित्थ शिवशक्तिभ्या नाव्याप्तमिह किंचन ।।९।।

इसका भाव यह है कि "अग्नि और सोम इस समस्त जगत के आत्मा हैं। इसे अग्नि रूप भी कहा जाता है। घोर तेज (अग्नि) रुद्र का शरीर है। सोम अमृतमय शक्ति प्रदाता हैं। वह सबकी प्रतिष्ठा हैं। विद्या और कला मे तेज (अग्नि) विद्यमान है। सोम और अग्नि का स्थूल व सूक्ष्म सब भूतो मे निवास है। तेज दो तरह का है—सूर्य और अग्नि। सोम भी दो प्रकार का है--रस (अप) और अनिल (वायु)। तेज के विद्युत आदि और रस के मधुर आदि अनेको भेद हैं। इन दोनो से ही जगत् की सृष्टि हुई है। अग्नि से ही अमृत (सोम) की उत्पत्ति होती है और सोम से अग्नि की वृद्धि। अतः अग्नि और सोम के सम्मि-

लित यज्ञ से ही यह ससार बना है। अग्नि जब ऊपर को जाती है तो सोम-रूप ग्रहण कर लेती है। इन दोनो के परस्पर सम्पुट मे सदैव यह जगत स्थिर है। सोम रूप मे परिवर्तित होने तक अग्नि ऊपर को ही जाती रहती है। सोम जब तक अग्नि रूप न ग्रहण कर ले तब तक नीचे की ओर प्रवृत्त रहता है। अत कालाग्नि रूपी रुद्र नीचे और शक्ति उनके ऊपर निवास करती है। फिर अग्नि ऊपर व पवन सोम नीचे हो जाता है। ऊर्ध्वगामी अग्नि की आधारशक्ति सोम है। नीचे आत हुए सोम को शिव की शक्ति कहते हैं। वह भी शिव पर आधारित है। दोनो एक-दूसरे का आधार हैं। शिव शक्तिमय हैं और शक्ति शिवमय हैं। ऐसा कोई स्थान दृष्टिगोचर नही होता, जहाँ पर दोनो उपस्थित न हो।"

श्री देवी-भागवत मे स्वय देवी ने कहा है--

सदैकत्व न भेदोऽस्ति सर्वदेव ममास्य च।
योऽसौ साहमह यासौ भेदोऽस्ति मतिविभ्रमात्॥

"मैं और ब्रह्म दोनो मे सदैव से एकत्व है, कभी भी भेद नहीं है। जो वह है, सो मैं हूँ और जो मैं हूँ, सो वह है। वास्तव मे भेद नही है, वह भ्राति से कल्पित है।"

श्री र० कृष्णस्वामी अय्यर ने कहा है--"निश्चल और निष्क्रिय तत्व जगत्पिता के रूप मे तथा गतिशील सक्रिय तत्व जगतमाता के रूप मे वर्णित किया जाता है।"

म० म० श्री गोपीनाथ कविराज ने शिव और शक्ति का दाशनिक निरूपण इस प्रकार किया है—

"आगम शास्त्रो मे साधारण दृष्टि से परम शिव की अवस्था ही पूर्णता की परिचायक चरम अवस्था मानी गई है। दूसरी अवस्था मे शिव और शक्ति का सामरस्य या साम्य प्रकट होता है। शिव-भाव अभिव्यक्त-प्रकाश का भाव है, यही वह परम प्रकाश है, जिसके आश्रय

से सब कुछ प्रकाशित होता है एव कुछ भी न रहने पर जो स्वप्रकाश होने से निरन्तर अपने मे ही स्वय प्रकाशमान रहता है। इस प्रकाश की जो आत्म-विश्रान्ति अर्थात् अहन्ता से विमर्शन है, वही शक्ति है। शक्ति के स्फुरण से ही विश्व का उदय होता है। केवल इतना ही नही, विश्व की स्थिति और लय भी शक्ति के स्फुरण से ही होते हैं। इसलिए शक्ति की उन्मेषावस्था मे इस समग्र प्रकाश के अन्दर विश्व का आभास दीख पडता है।"

'भारत की सस्कृति साधना' पुस्तक मे डा० रामजी उपाध्याय का विवेचन इस प्रकार है—

"शिव और शक्ति के सम्बन्ध का दार्शनिक निरूपण किया गया है। सृष्टि के पहले शिव और शक्ति ही थी। शिव प्रकाश रूप मे शक्ति के विमर्श रूप में प्रतिष्ठित होकर बिन्दु-स्वरूप बन जाते हैं। शक्ति भी शिव मे प्रवेश करती है। तभी बिन्दु का विकास होकर नाद बनता है। नाद और बिन्दु के सयोग से काम की उत्पत्ति होती है। काम का श्वेत और रक्त-बिन्दुओ मे सम्पर्क होने पर कला की उत्पत्ति होती है। काम और कला के सयोग से त्रिपुर सुन्दरी-स्वरूप कामकला निष्पन्न होती है। इसी से अखिल विश्वात्मक सृष्टि का प्रादुर्भाव होता है और पद एव पदार्थ उत्पन्न होते हैं।"

शिव और शक्ति अलग-अलग कोई भी सृष्टि की रचना करने मे असमर्थ हैं, क्योकि उनमे क्रिया का अभाव है। ईश्वर के सकाश मे जब प्रकृति में स्पन्दन होता है, तभी सृष्टि का निर्माण होता है। प्रकृति और परमात्मा के सयोग से ही यह कार्य हो पाता है। भगवान कृष्ण ने भी गीता मे कहा है—'हे अर्जुन! मेरी शक्तिरूपी योनि गर्भाधान का स्थान है और मैं उस योनि में चेतन रूप बीजो की स्थापना करता हूं। इन दोनो के सयोग से ही जगत की उत्पत्ति होती है। अनेक प्रकार की योनियों मे जितने शरीर के आकार वाले पदार्थ उत्पन्न होते हैं,

यहाँ भी शिव और शक्ति दोनों का निवास है। हर मानव में इस दिव्य सत्ता और शक्ति के दर्शन किए जा सकते है। जैसे शक्ति के सुप्त रहने से शिव मे भी कुछ करने की सामर्थ्य नही रहती, वैसे ही मानव पिंड मे शक्ति के निष्क्रिय बने रहने पर शिव के दर्शन की आशा धूलि मे मिल जाती है। भौतिक जीवन की चकाचौंध से यह शक्ति सोई रहती है। जिस तरह भस्म अग्नि को दबाए रहती है, उस तरह भौतिक जीवन की कामनाएँ और भोग मानव जीवन मे व्याप्त शक्ति को दबाए रखती हैं, यह उसे उठने का अवसर ही नही देतीं। वह तो शिव से युक्त होने को व्याकुल रहती है, परन्तु माया जाल मे फँसकर हम उस पवित्र मिलन मे बाधाएँ उपस्थित करते रहते हैं। तन्त्र कहते हैं कि आवरणों को दूर करो और सोई हुई शक्ति को अपना काम करने दो। तन्त्र यह आश्वासन देते हैं कि शिव और शक्ति को अपने अन्तर मे खोज निकालना सम्भव है। दोनों का मिलन तो स्वाभाविक है। केवल बाधाओं को दूर करना मात्र है। शक्ति की ज्वालाएँ हमारे अन्दर धधक रही हैं। ऊपर जमी भस्म को दूर करने से हर कोई इसका स्वयं अनुभव कर सकता है। जो शक्ति विश्व का सृजन और निर्माण करती है, वही शक्ति मानव-देह मे विद्यमान है। आवश्यकता है केवल अनुभवात्मक जागरण की। तन्त्र ने ऐसे मार्गों का निर्देशन किया है जिससे यह जागरण सम्भव हो सके। जब बन्द मार्ग खुल जाते हैं, तो उसे ही अज्ञानजन्य बन्धनों से मुक्ति, मोक्ष और आनन्दमय स्थिति की संज्ञा दी जाती है। यही तन्त्र-साधना का उद्देश्य है।

• • •

तांत्रिक भाव

भावना शक्तियों का भण्डार होती है। भावना से ही शक्तियों का उदय होता है। इसलिए जो जैसी भावना करता है वह वैसी ही शक्तियों को प्राप्त करता है, वैसा ही बन जाता है। स्थूल की गति का कारण सूक्ष्म है—शरीर स्थूल है भावना सूक्ष्म। जैसी भावना होगी, वैसे ही कार्य मे शरीर प्रवृत्त रहेगा। भावना का निर्मल, पवित्र, प्रबल और परमार्थमय होना ही आध्यात्मिक क्षेत्र में ऊँचा उठने का अथवा स्थूल से सूक्ष्म की ओर गति करने का चिन्ह है। वह व्यक्तिगत रूप मे ही नही, वरन् हर क्षेत्र, हर कार्य मे प्रबल और पवित्र भावना सफलता लाने मे समर्थ होती है। भावना सोई हुई शक्तियों को जगा देती है। उनमें गति उत्पन्न करती है। भावना से फलीभूत होने का तात्पर्य शक्तियों का गतिवान् होना ही है।

भावना पारसमणि है। लोहे को सोना बनाती है। इस विषय मे कुछ विचारको के अनुभव देखिये—

चार्ल्स डिक्सन कहते हैं—"जिस मनुष्य की जैसी आतरिक भावनायें होगी, उसकी बाह्य रूपरेखा वैसी ही बन जायेगी।" बक्सटन का कथन है—"विश्वासो के आधार पर जीवन का स्थूल रूप तैयार होता है।" महर्षि वशिष्ठ का मत—"बीज की जाति का ही पौधा उगता है और सकल्पो की जाति की परिस्थितियाँ पैदा होती हैं—आत्मा जैसी-जैसी भावना करती है, वह शीघ्र वैसी ही हो जाती है और

ओर उसी प्रकार शक्ति से पूर्ण हो जाती है।' हम देखते हैं कि जिसकी भावना भीतर से भलाई, सच्चाई प्रेम, सहानुभूति, करुणाशील, वात्सल्य और सद्भावो से ओत-प्रोत होती है वह सदा सुखी रहता है, क्योंकि प्रतिक्रिया से उसमे दैवी गुणो का बाहुल्य हो जाता है।

जो सदा स्वार्थ ईर्ष्या, धोखेबाजी, लोभ, छल, कपट, काम, क्रोध, अहङ्कार, दूसरो को हानि पहुँचाने के भाव रखता है, उसमे यह दुर्गुण दिनो दिन बढते जाते हैं और पाप अत्याचार की ओर उसकी प्रवृत्ति भी बढती जाती है, जिसके परिणामस्वरूप वह नाना प्रकार के कष्ट उठाता है। सुख-दुःख, उन्नति-अवनति, बन्ध-मोक्ष हमारी भावनाओ पर आधारित है जो अपने को अयोग्य असमर्थ, अभागा व अशक्त मानता है वह वैसा ही बन जाता है। इसके विपरीत जो अपने को योग्य, समर्थ, भाग्यवान और शक्तिवान समझता है, वह भी वैसा ही बनता जाता है। अपने आपको नीच या महान, सुखी या दुःखी, साधारण या असाधारण, पवित्र या अपवित्र, सदाचारी या दुराचारी, पापी या पुण्यात्मा, चतुर या मूर्ख, निर्बल या शक्तिवान, भाग्यहीन या भाग्यवान बनाना भावना के ही खेल हैं, जो जैसी भावना करता है वह वैसा ही बन जाता है।

महात्मा गांधी ने कहा है—"अपने को निर्बल समझने वाला ही निर्बल है।' जीवन-रेखा को लिखना भावना के अधिकार मे है। भाग्य को बनाना भावना-शक्ति के हाथ मे है। वह इसको जिधर चाहे मोड लेती है। होमियोपैथिक विज्ञान के जन्मदाता डा० हैनीमैन ने अपनी पुस्तक, आर्गेनन् आफ मैडीसन' म लिखा है "कि भावनाओ से रोग उत्पन्न भी किये जा सकते हैं और अच्छे भी।" यदि किसी को आप विश्वास दिलाते रहे कि वह निर्बल होता जा रहा है, तो वस्तुतः थोडे दिनो मे वह निर्बल होता चला जायगा। यदि किसी को उसके स्वास्थ्य निखरने का आश्वासन दिलायें तो उसका स्वास्थ्य और निखरेगा। किसी को निबल, असमर्थ और नालायक कहना पाप है अथवा शक्तिवान बनाना या प्रशसा करना (खुशामद नही) और योग्य बताना पुण्य।

सार यह है कि शक्ति महान् है। इस भावना-शक्ति ने मीरा को दिए हुए विष को अमृत में बदल दिया था। उसी भावना शक्ति ने धन्ना भक्त ने पत्थर को भगवान बनाया था। यह भावना शक्ति ही थी कि "रुकमिणी ने एक तुलसी दल से तौला प्रभु गिरधर को।" सुदामा के कच्चे चावलो में भावना का समावेश होने से उनमे इतनी मिठास आ गई थी कि भगवान कृष्ण ने उनको बडे चाव से खाया था। शबरी के भावनामय बेरो का क्या ठिकाना है।

साधना में भावना का होना आवश्यक है, अन्यथा पूर्ण लाभ की आशा नही की जा सकती

न काष्ठे विद्यते देवो न पाषाणे न मृन्मयो।
भावे हि विद्यते देवस्तस्माद्भावस्तु कारणम् ॥

"काष्ठ पाषाण और मिट्टी की मूर्तियो मे देवता नही होते, वे तो मानसिक भावो मे ही रहते हैं और वही उनका कारण है।"

शास्त्र भी भावना की महत्ता का प्रतिपादन करते हैं—

भावेन लभते सर्व भावेन देव दर्शनम्।
भावेन परम ज्ञान तस्माद भावावलम्बनम् ॥

—रुद्रयामल

"भाव से ही सब कुछ प्राप्त होता है, भावना की दृढता से ही देव-दर्शन होते हैं, भावना से ही ज्ञान प्राप्त होता है। इसलिए भावना का ही अवलम्बन करना चाहिए।

यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।

"जिसकी जैसी भावना होती है, उसे वैसी ही सिद्धि मिला करती है।"

बहुजायात् तथा होमात् काम क्लेशादिविस्तरै।
न भावेन विना देव यन्त्रमन्त्रा फलप्रदा ॥

—भावचूडामणि

"बहुत जप और हवन करने से काम-क्लेश की ही वृद्धि होती है। बिना सच्चे भाव के यन्त्र, मन्त्र और देवता कोई फलदायक नही होता।"

सदा सुखदायिनी विभाति शुद्ध भावना,
सदैव दु'खदायिनी भवेच्च दुष्ट भावना।
न निष्फला भवेद्यत कदापि काऽपि भावना,
यथा मतिस्तथा गतिर्वदन्ति वेदवादिन ।।

"शुद्ध भावना सदैव सुख प्रदायक होती है, उसी प्रकार दुष्ट भावना का फल अवश्य दु खदायी निकलता है। किसी की भावना कभी भी निष्फल नही जाती। वेदवादियो के कथनानुसार जिसकी जैसी मति होती है, वैसी गति को वह प्राप्त होता है।"

किं न्यासविस्तरेणैव किं भूतशुद्धिविस्तरै।
किं वृथा पूजनेनैव यदि भावो न जायते ।।
फला भावश्च नियत भावाभावात् प्रजायते।

—कन्कावली तन्त्र

"न्यास के विस्तार और शुद्धि से क्या प्रयोजन है और पूजन आदि से भी क्या फायदा है, यदि हृदय मे सच्ची भावना मौजूद नही है। फल तो कर्म के अनुसार ही मिलेगा।"

तज्जपस्तदर्थ भावनम्। — योगसूत्र

"जप एव जपमन्त्र से जिस पदार्थ का बोध हो, उसकी भावना (ध्यान) करना, यही सिद्धि का मार्ग है।"

शास्त्र का कथन है—

भावस्तु मनसो धर्म'।

अर्थात् "भाव मन का धर्म है।

मन मे ही इसकी उत्पत्ति होती है और मन मे ही इसका लय होता है। अत मन के विषय को शब्दो मे व्यक्त करना कठिन होता है। इसे अनुभव ही किया जा सकता है—

यथेक्षुगुडमाधुर्य रसना ज्ञायते प्रभो ।
तथा भावो महादेव मनसा परिभाव्यते ॥

अर्थात् "जिस प्रकार से गुड का मीठापन जिह्वा को ही ज्ञात हो सकता है, उसी प्रकार भाव भी मन को ही ज्ञात होना सम्भव है ।"

मन का विषय होने पर ही इसमे अपार शक्ति का अनुभव किया गया है । तन्त्र शक्ति-विकास की वैज्ञानिक प्रणाली है । इसीलिए विधि-विधान मे इसका उपयोग किया जाता है । 'ज्ञानार्णव तन्त्र' मे अन्तर्याग के विधान मे इसके प्रयोग की विधि का निर्देश इस प्रकार दिया गया है—

मूलाधारादाब्रह्मबिल विलसन्ती बिसतन्तुतनीयसी विद्युत्पुञ्जपिञ्जरा विवस्वदयुतभास्वत्प्रकाशा परश्शतसुधामयूखशीतलतेजोदण्डरूपा परचिति भावयेदिति । अथ हृदि श्रीचक्र विभाव्य तत्र तामेव स्वोकृतप्रागुक्तरूपा श्रीदेवी ध्यात्वा वक्ष्यमाणै गन्धादिताम्बूलान्तै षडुपचारैर्मन्त्रै उपचर्य ता पुनस्तेजोरूपेण परिणता परमशिवज्योतिरभिन्नप्रकाशात्मिका विगदाद्विश्वकारणा सर्वावभासिका स्वात्माभिन्ना परिचिति सुषुम्नापथेन उद्गमय्य विनिर्भिन्नविधिबिलविलसदमलशशतदलकमलाद्ब्रह्मनासापुटेन निर्गता त्रिखण्डामुद्रामण्डितशिखण्डे कुसुमगर्भिते अञ्जलौ समानीय ऐं ह्रीं श्रीं ह्रीं श्रीं सौ श्रीललितायाः अमृतचैतन्यमूर्ति कल्पयामि नमः इति मन्त्रमुच्चारयन् निजलीलाऽङ्गीकृतललितवपुष विचिन्त्य—ऐ ह्रीं श्रीं ह्स्त्र ह्स्क्लरी ह्स्त्रौ ।

महापद्मवनान्तस्थे कारणानन्दविग्रहे ।
सर्वभूतहिते मातरेह्येहि परमेश्वरि ॥

इति मन्त्रेण बिन्दुपीठगतनिर्विशेषब्रह्मात्मकश्रीमत्कामेश्वराङ्के परदेवतामावाहयेत् ॥

अथ नित्याऽऽदिकमणिमाऽन्त श्रीकामेश्वराङ्कोपवेशन विना श्रीदेवीसमानाकृतिवेषभूषणायुधशक्तिचक्र ओघत्रयगुरुमण्डल च वक्ष्यमाणेषु आवरणेषु निजस्वामिन्यभिमुखोपविष्टमवमृश्य मूलेन आवाहनसस्थापनसन्निधापनसन्निरोधनसम्मुखीकरणाव-गुण्ठनवन्दनधेनुयोनिमुद्रा प्रदर्शयस्तदखिल भावयेत् ।।

अर्थात् 'मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र तक विलमित विष तन्तु के समान बारीक, विद्युत् के समूह के सदृश, दस हजार सूर्यों के प्रकाश वाली सैकडो सुधा किरणो से शीतल तेजमयी, परिचिति की भावना करे। हृदय मे श्रीचक्र की भावना कर उसमे पहले वतलाये हुए स्वरूप वाली श्रीदेवी का ध्यान कर गन्धादि ताम्बूलपर्यन्त छ उपचारो के मन्त्रो द्वारा उपचारण कर पुन तेजोरूप से परिणत, परम शिव को ज्योति से अभिन्न प्रकाशात्मक तथा अपने से भी अभिन्न उन परिचिति को सुषुम्ना मार्ग से उत्पन्न कराकर नासापुट से निकली हुई को पुष्पगर्भित अञ्जलि लाकर "ए ह्री श्री ह्री श्री सौ श्रीललिताया अमृत चैतन्य मूर्ति कल्पयामि नम" इस मन्त्र का उच्चारण करे और निज लीला से सुन्दर शरीर स्वीकार करने वाली का ध्यान कर ऐ ह्री हूस्त्रै हू स्क्लरी हूस्त्रौ"—महापद्मवनान्त स्थे कारणानन्द विग्रहे, सर्वहिते-मातृरेह्येहि परमेश्वरि" इन मन्त्रो से बिन्दुपीठगत कामेश्वराक में पर-देवता का आवाहन करना चाहिए, साथ ही निज स्वामिनी के परिचारक वृन्द को भी श्रीदेवी के सम्मुख उपविष्ट हैं—ऐसी भावना करे तथा सस्थापनादि समस्त मुद्राएँ भी करनी चाहिए।"

यह वासनारूप श्रीदेवी के साथ पारस्परिक अभेदात्मक पूजा का विधान महान् फलप्रद होता है। इसे श्री गुरु-मुख से भलीभाँति जान लेना चाहिए।"

अथ श्री परदेवताया चतुष्षष्टयुपचारानाचरेत् । तेषु अशक्ताना भावनया सामान्यार्घ्योदकात् किंचित्कि चिदम्बा-

चरणाम्बुजे अर्पणबुद्ध्या पात्रान्तरे निक्षिपेत् । पुष्पाक्षतान्वा समर्पयेत्, भूपात्रारोहणाभ्यङ्गोपचारद्वयमपि मण्डपान्तरे एव भावनीयम् मज्जनादिषु तथा दर्शनात्, औचित्याच्च । अनयो मण्डपादिशब्दस्य मन्त्रावयवत्वेन प्रवेशो न सम्भवति, अनुक्तत्वात् । मज्जनमण्डपप्रवेशादिषु मध्यमार्गे पाठे च मृदुवस्त्रास्तृतिश्च भावयितुमुचितम् । श्रीचक्रारोहणमपि उक्तभूपारोहणकथनात् अभ्यङ्गादिषु यवनिकाभावनं च । उपचारमन्त्रस्य तु अत्रादौ त्रितारी ततश्चतुर्थ्यन्तं ललितेति पदं अथामुकं कल्पयामि नम इति । ललिता कामेश्वरी त्रिपुरसुन्दरी इति देवतानामपर्यायेषु सत्स्वपि सूत्रकारेण ललितापदग्रहणात् ललितापदप्रयोगः कार्यः । यथा --

अर्थात् "श्री परदेवता के ये चौंसठ उपचार है, इनसे अभ्यर्चन करे। यदि इनके करने मे असमर्थता हो तो केवल भावना से ही सामान्य अर्घ्योदक से अम्बा के चरणाम्बुज पे अर्पण करने की बुद्धि लेकर पात्रान्तर मे डाल देवे अथवा समस्त उपचारो के बदले पुष्पाक्षत समर्पित कर देवे, भूपात्ररोहण और अभ्यंग इन दोनो उपचारो को भी मण्डप के दूसरे भाग मे ही भावित करना उचित है। अभ्यागादि उपचारो के लिए यवनिका की भी भावना करनी चाहिए। प्रत्येक उपचार के समर्पण करने मे—'ऐं ह्रीं श्रीं ललितायै पाद्यं कल्पयामि' इसी क्रम से बोलना चाहिए। यद्यपि ललिता—कामेश्वर तथा त्रिपुर-सुन्दरी आदि अनेक नाम है, तो भी "ललिता" इसी नाम का प्रयोग करना चाहिए क्योंकि सूत्रकार ने यही ग्रहण किया है। आदि मे तीनो बीज अर्थात् त्रितारी बोलकर चतुर्थ्यन्त ललिता—यह फिर 'अमुक कल्पयामि' द्वारा अर्पण करे। मज्जन मण्डप मे प्रवेशादि करने के मार्ग मे कोमल वस्त्र की आस्तृति की भावना भी करनी चाहिए।

करपात्री स्वामी ने पूजा के विभिन्न अङ्गो मे भावना के समावेश करने का निर्देश दिया है। यथा—

"नामरूपात्मक जगत् मे सच्चिदानन्द की भावना ही अम्बा को पाद्यसमर्पण है। सूक्ष्म जगत् मे ब्रह्म भावना ही अर्घ्यसमर्पण है। भावनाओ मे ब्रह्म-भावना ही आचमन है। सवत्र सत्वादि गुणो मे चिदानन्द भावना ही स्नान है। चिद्रूपा कामेश्वरी में वृत्यविपयता का चिन्तन करना ही प्रोञ्छन है। निरजनत्व, अजरत्व, अशोकत्व, अमृतत्व आदि की भावना ही विविध आभूषणो का अपण है। आकाश मे चिन्मात्रत्व की भावना करनी पुष्पसमपण है। तेज मे चिन्मात्रत्व की भावना दीप-समर्पण है। अमृतत्व भावना नैवेद्यार्पण है।"

आधुनिक विज्ञान ने भी भावना की महानता को स्वीकार किया है और इसे आधुनिक रूप देकर अनेको प्रकार के प्रयोगो मे सफलता प्राप्त की है। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिको ने प्राथना मे इसका उपयोग किया है और आशाजनक लाभ उठाए हैं।

नोबल पुरस्कार विजेता प्रसिद्ध वैज्ञानिक डा० अलेक्सिस कैरेल ने अपनी पुस्तक 'मैन दी अननोन' मे लिखा है—भावना से कुछ ही क्षणो में मुँह के घाव, शरीर के अन्य घाव, कैंसर, मूत्राशय के रोग और यक्ष्मा आदि के रोगियो के यह रोग मिट गए हैं। कोढ़ के रोगी स्वस्थ्य हुए हैं। कैनेडा निवासी डा० सी० अलवर्ट ई० विल्फ भावना के माध्यम से ही चिकित्सा करते थे। 'थियालाजिया जर्मनकी' पुस्तक के अनुसार विश्वास रखकर ईश्वर से भावनापूर्वक प्रार्थना करने पर बडी से-बडी तथा भयङ्कर बीमारी स मनुष्य छूट जाता है।

वैज्ञानिक पद्धति—

भावना से आरोग्य व अन्य प्रकार के लाभ उठाने की भी एक वैज्ञानिक पद्धति है। अभाव की पूर्ति के लिए गिडगिडाना उचित नही है। उससे से आत्म-हीनता की भावना उत्पन्न होती हैं और आशाजनक

लाभ भी नही होता है। भावना के समय अशुभ के स्थान पर शुभ के, रोग के स्थान पर निरोगता के, अभाव के स्थान पर वैभव और ऐश्वर्य के संकेत मन को देने चाहिए। जिस इष्ट की पूर्ति करने की इच्छा है उसे अपने भावना-नेत्रोमे पूरा होता देखे। यह संकेत जितना तीव्र और सुदृढ विश्वासपर आधारित होगा, सफलता उतनी ही शीघ्रतासे प्राप्तहोगी।

अलबर्ट विल्फ ने अपनी पुस्तक 'लेसन्स इन लिविंग' मे लिखा है—"परमात्मा से हमे यह कामना नही करनी चाहिए कि वह हमे स्वास्थ्य प्रदान करें। उसका ढग यह होना चाहिए कि कल के लिए उन्होने आज मुझे पूर्ण स्वस्थ कर दिया।" श्री रिवेका वीयर्ड ने अपनी पुस्तक 'एवरी मैन सच' मे इस विषय का स्पष्ट प्रतिपादन करते हुए लिखा है—"शक्ति की धारा को विपरीत शुभ दिशा मे प्रवाहित करने के लिए आवश्यक है कि जिस परिणाम को हम उपस्थित देखना चाहते है, उस परिस्थिति को हम निर्मित करें और अपनी चिता के विपरीत भाव का चिन्तन करें।"

धन के अभाव को दूर करने के लिए यह नही कहना चाहिए कि मैं अत्यन्त सकट मे हूँ उसे दूर करो। वरन् मानस नेत्रो से अपने प्रभु के सर्व-समर्थ, शक्तिशाली और महान ऐश्वर्यो के रूप को निहारना चाहिए और भावना करनी चाहिए कि उनके उत्तराधिकारी और पुत्र होने के नाते इन ऐश्वर्यो पर हमारा स्वाभाविक अधिकार है, अत इस अधिकार को मान्यता देते हुए प्रभु स्वय हमारे रिक्त स्थान की पूर्ति कर रहे हैं, हमारे भडारो को भर रहे हैं और हम भी ऐश्वर्यशाली हो रहे है। इस शुभ भावना से शक्ति का प्रवाह हमारी ओर परिवर्तित होगा, यह निश्चित है।

सकेत द्वारा आत्म-कल्याण—

आत्म-कल्याण के लिए भावना करते समय इसी क्रिया का अनुकरण करना चाहिए कि मैं शरीर नही आत्मा हूँ, निर्बल नही शक्तिशाली हूँ, मैं स्वस्थ और प्रसन्न हूँ, मुझे कोई चिता और परेशानी

नही है, मेरा जीवन आनन्दमय है, सासारिक विपत्तियो और कठिनाइयो का मुझ पर कोई प्रभाव नही होता। क्रोध, लोभ, आसुरी शक्तियाँ मुझ पर आक्रमण करती हैं, परन्तु वह अपने प्रयत्नो मे असफल रहती हैं। मैं प्रगति-पथ पर निरन्तर बढता चला जा रहा हूँ, मुझे रोकने की सामर्थ्य किसी मे नही है। मेरा शरीर सीमित नही है, असीम है। सारी सृष्टि मुझमे समाई हुई है और हर प्राणी मे मेरा निवास है, मैं सबमे हूँ और सब मुझमें हैं। मेरी आत्मा मे प्रचण्ड तेज है। जो भी पाप और अवगुण मुझे भ्रष्ट करने आते हैं, वह इस अग्नि मे जलकर भस्म हो जाते हैं और मैं सूर्य की तरह चमक रहा हूँ। मेरे चारो ओर प्रकाश-ही-प्रकाश है, मेरे अज्ञान की समस्त ग्रन्थियाँ टूट गई हैं और मैं निरन्तर सत्य-शिव-सुन्दर के दर्शन करता हूँ व आनन्द के समुद्र मे गोते लगाता हूँ, मैं परिवार का पालन-पोषण करते हुए भी उससे अलिप्त हूँ, ससार मे रहते हुए भी उससे अलग हूँ, शरीर मे रहते हुए भी जीवन-मुक्त हूँ। मैं सब ओर अपने को ही बिखरा हुआ पाता हूँ। यहाँ मेरे अतिरिक्त कोई है ही नही, सब ओर मुझे अपने ही दर्शन होते हैं।" इस प्रकार की भावना से साधक शक्ति का पुज बन जाता है और आत्म-कल्याण के पथ पर बढता ही जाता है। मनोविज्ञान के अनुसार इस प्रकार की भावना एक प्रकार का आत्म-सकेत या 'आटो सजेस्शन' है।

नई सृष्टि की रचना—

भावना मे शुभ सकेतो द्वारा अभीष्ट लाभ की सिद्धि मे कुछ भी सन्देह की गुजायश नहीं है। यह प्रमाणित व अनुभव-सिद्ध सिद्धान्त व पद्धति है। ईश्वर ने सकल्प किया कि मैं एक हूँ, बहुत हो जाऊँ। इस सकल्प के परिणामस्वरूप हम इतनी विशाल सृष्टि की रचना का विस्तार देख रहे हैं। हम भी उस ईश्वर के अश हैं। हम मे भी चिन्तन द्वारा निर्माण करने की शक्ति विद्यमान है। हम जैसा चिन्तन करते हैं, बाह्य-ससार में उसके अनुरूप ही आकृतियाँ व मूर्तियाँ बनने लगती हैं अर्थात्

हम भावना के प्रयोग मे मन को जैसे संकेत करते हैं, हमारा बाहरी संसार भी वैसे ही बनता चला जाता है और हम उसी साँचे मे ढलते जाते हैं। ये निर्माण-कार्य हमारा संकेत ही करते हैं।

इन शुभ संकेतो का सीधा प्रभाव हमारे गुप्त मन पर पडता है। गुप्त मन ईश्वरप्रदत्त शक्ति का भंडार है, दैवी शक्तियो का वह मूल स्रोत है। ईश्वर से उत्तराधिकार मे मिली समस्त शक्तियाँ वही सोई पडी हैं। उन्हें प्राप्त करने के लिए उन्हें जगाना होगा। इसका उपाय शुभ संकेत ही हैं। यह हमारे गुप्त मन का नव-निर्माण करते हैं और हमारे चारो ओर का संसार वैसा ही बनता चला जाता है। इसी इच्छा की पूर्ति और सिद्धि करते हैं। भावना का यह मनोवैज्ञानिक आधार है।

अत भावना एक ऐसी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है जिससे गुप्त मन सतेज होता है, अन्दर से बाहर की ओर एक आध्यात्मिक प्रवाह चलता है, शक्तियो का सृजन होता है, बिखरी शक्तियाँ एकाग्र होकर दिव्यताओ व महानताओ का नव-निर्माण करती है, जिनसे इच्छानुसार लौकिक व पारलौकिक लाभ प्राप्त होते हैं।

तन्त्र मे तीन प्रकार के भाव व्यक्त किये गये हैं—

१ पशु-भाव, २ वीर-भाव, ३. दिव्य भाव।

पशु-भाव—

जीवात्मा या क्षेत्रज्ञ का नाम ही पशु है। जाबाल्युपनिषद् (११-१५) मे कहा है—'अहंकार से युक्त पशुपति ही संसारी जीव होकर पशु हो जाता है। पैप्पलादि ने फिर जाबालि से जिज्ञासा की कि पशु कौन है? उन्होने उत्तर दिया—जीव को ही पशु कहा जाता है।" शिव-पुराण ने भी जीव को पशु स्वीकार किया है। वायु संहिता (पूर्व भाग) मे कहा गया है कि "ब्रह्मा से स्थावर तक सबकी संज्ञा

पशु है। यह पाशों से बँधता और सुख-दुःख भोगता है। इसलिए पशु कहा गया है।

शिव पुराण (वायु संहिता पूर्व भाग) में कहा है—"अक्षर का नाम है पशु, वही जीव है तथा ब्रह्मज्ञान से पाश प्रकृति का क्षरण होने से उसे क्षर कहा गया है।"

पशु—पश् धातु से बना है, जिसका अर्थ है—बाँधना। जो पाशों से बँधा है, वही पशु कहलाता है—

पाशनच्च पशव।

जीव भी पाशों से बंधा रहता है। इसलिए उसे पशु कहते हैं।

सार यह कि तामसिक प्रवृत्ति के व्यक्ति को पशु कहा जाता है, जो अपनी इच्छाओं और वासनाओं के नियन्त्रण में रहता है। गीता में इसके परिणामों पर अच्छा प्रकाश डाला है—

"हमको काम अर्थात् विषय चाहिए और इस काम की तृप्ति होने में विघ्न होने से उस काम से ही क्रोध की उत्पत्ति होती है। क्रोध से अविवेक होता है, अविवेक से स्मृति-भ्रंश, स्मृति भ्रंश से बुद्धि-नाश, बुद्धिनाश से पुरुष का सर्वस्व नाश हो जाता है।" आगे फिर कहा है "विषयों में संचार अर्थात् व्यवहार करने वाले इन्द्रियों के पीछे-पीछे मन जो जाने लगता है, वही पुरुष की बुद्धि को ऐसे हरण किया करता है, जैसे कि पानी में नौका को वायु खींचती है।"

गीता के मत से तो सभी विकारों और बन्धनों का मूल कारण यही विषय-वासनायें है। यही पाशविक बन्धन हैं। इससे छुटकारा पाये बिना पशु संज्ञा से मुक्ति मिलना सम्भव नहीं है।

कुलार्णव तन्त्र में आठ प्रकार के पाशों का वर्णन आता है, जो इस प्रकार हैं—

दया, मोह, भय, लज्जा, घृणा, कुल, शील और वर्ण।

६७ पाशों तक का वर्णन तन्त्रों में आता है, परन्तु वह इन्हीं के भेद विभेद मात्र हैं।

साधारणतः तन्त्रों में तीन प्रकार के पाशों का ही वर्णन आता है—मल, कर्म और माया। इनमें मल ही प्रमुख है। मल के निवृत्त न होने तक पशुत्व दूर नहीं हो सकता।

अविद्या, आवरण और मृत्यु आदि मल के ही नाम हैं।

मल-निवृत्ति के लिए स्वायम्भुव आगम में दीक्षा को उत्तम साधन बताया गया है—

दीक्षैव मोचयत्यूर्ध्वं शैवं धाम नयत्यपि।

अर्थात् "दीक्षा ही मल को निवृत्त करती है और ऊपर की तरफ शिवलोक को ले जाती है।"

अतः इस मल के पाश को काटना आवश्यक है, क्योंकि इसके रहते हुए पूर्ण विवेक की जागृति सम्भव नहीं है।

कर्म के बन्धन से निवृत्त होना भी आवश्यक है। कोई भी व्यक्ति कर्म के बिना जीवित नहीं रह सकता। पग-पग पर उसे कर्म का सहारा लेना पड़ता है। यह तीन प्रकार के होते हैं—तामसिक, राजसिक और सात्विक। जीव की प्रगति का मापदण्ड यही है कि वह तामसिक कर्मों से छुटकारा प्राप्त करता हुआ क्रमशः राजसिक और सात्विक कर्मों की ओर प्रवृत्त होता है। सात्विकता की वृद्धि ही उन्नति के चिन्ह माने जाते हैं परन्तु कर्म-बन्धन से निवृत्त होने के लिए गीता में भगवान ने उत्तम निर्देश दिए हैं—

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्।

—२।५१

अर्थात् "समन्वय बुद्धि से युक्त जो ज्ञानी पुरुष कर्मफल का त्याग करते हैं, वे जन्म के बन्ध से मुक्त होकर परमेश्वर के दुःख विरहित पद को जा पहुँचते हैं।"

योगस्थ कुरु कर्माणि सग त्यक्त्वा धनजय ।

—२।४८

"हे धनञ्जय ! आसक्ति छोडकर और कर्म की सिद्धि हो या असिद्धि दोनो को समान ही मानकर, योगस्थ होकर के कर्म कर।"

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥

—२।४५

"हे अर्जुन ! (कर्मकाण्डात्मक) वेद (इस रीति से) त्रैगुण्य की बातो से ओत-प्रोत है। इसलिए तू त्रिगुणो से अतीत, नित्यसत्त्वस्थ और सुख-दु ख आ दि द्वन्द्वो से अलिप्त हो एव योग-क्षेम आदि स्वार्थों मे न पडकर आत्मनिष्ठ हो।"

तीसरा पाश माया नाम का है, जो माया तत्व से भिन्न है।

जो आत्मा इन तीन पाशो से बँधी हुई है, उसे 'सकल' कहते हैं। जिसका माया-मल क्षीण हो चुका है, उसे 'प्रलयाकल' और जिसके कर्म और माया नाम के दोनो मल नष्ट हो जाते हैं, उसे 'विज्ञानाकल' कहा जाता है।

पशु-भाव मे तामसिकता व्यापक रूप से विद्यमान रहती है। आलस्य और विचारो की जडता उसकी विशेषतायें मानी जाती है। तत्र-दार्शनिक भास्कराचार्य के मत से 'यह बहिर्मुखी होते हैं और वस्तुओ के आन्तरिक सत्य को न देखकर बाहरी रूप को ही देखते हैं।' इन पर अविद्या का आवरण चढा रहता है और अद्वै० का कुछ भी ज्ञान नही होता।

कुब्जिका तत्र मे कहा है—"जो पशु-भाव से सम्बन्ध रखते हैं, वह पशु ही होते हैं। पशु मत्र का स्पर्श नही करता, रात्रि को मत्र का जप नही करता। तत्र और बलि के सम्बन्ध मे जिसे सन्देह रहता है, मत्रो को जो केवल अक्षर मानता है, गुरु मे जिसका विश्वास नही होता,

देवता को जो केवल पत्थर मानता है, जो दूसरो की निन्दा करता है—ऐसा पशु सबसे बुरा व्यक्ति है।"

ससार-मोह मे जो चारो ओर से फँसा रहता है, उसे 'अधम' पशु कहते हैं। जो अपने पशुत्व को अनुभव करता है और जिसकी सत्कर्मों की ओर प्रेरणा और प्रवृत्ति होने लगती है, उसे 'उत्तम पशु' कहा जाता है।

वीर भाव—

जिनकी प्रकृति मे चचलता, उग्रता और राजसिकता रहती है, वह 'वीर भाव' की सज्ञा मे आते हैं। अहिंसक, परमार्थी, जितेन्द्रिय, सुख-दु,ख मे समज्ञान रखने वाला और काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि पर विजय प्राप्त करने वाला साधक ही वीर कहलाता है। एक विद्वान् के अनुसार 'जो मानव अद्वैत ज्ञान रूपी अमृत ह्रद की कणिका मात्र का भी आस्वादन कर अज्ञान रज्जु के काटने म कुछ मात्रा मे भी कृतकाय होते हैं, वे वीर कहलाते हैं।' सर जान वुडरफ के अनु-सार 'वीर वह है, जो काम, क्रोध, राग, द्वेप आदि से मुक्त हैं और तम व रज से परे है।'

वीर साधक दो प्रकार के होते हैं—१ सभाव वीर, और २ विभाव वीर। एक मे सात्विकता और दूसरे मे राजसिकता रहती है। जिन्हे तत्र के अर्थों और तत्वज्ञान की उपलब्धि हो गई है परन्तु विषय-वासनाये पूरी तरह क्षीण नही हो पाई हैं, उन्हे सभाव' वीर कहते हैं। जिनमे पशु भाव की समाप्ति तो हो चुकी है परन्तु 'सभाव-वीर' की तरह तत्वज्ञान का उदय नही हो पाया है, वे 'विभाव वीर' कहलाते हैं।

पचमकारो के उपयोग का अधिकार केवल वीर साधक को ही दिया गया है, जिसकी इन्द्रियां अपने नियन्त्रण मे रहती हैं, जो विषय-

वासनाओं से मुक्त होता है, उत्तेजक कारण उपस्थित होने पर भी जिसके मन मे लेशमात्र भी विकार उत्पन्न नही होते ।

वीर-भाव, पशु-भाव से ऊँचा है परन्तु दिव्य-भाव से नीचा है ।

दिव्य भाव—

सात्विक प्रकृति के साधक 'दिव्य भाव' वाले कहलाते है । इनके दृष्टिकोण मे सन्तुलन, बुद्धि मे निर्मलता, स्वभाव मे गम्भीरता और सूक्ष्मता रहती है । महानिर्वाण तन्त्र के प्रथम उल्लास मे स्पष्ट कहा गया है—

दिव्यश्च देवताप्रायो शुद्धान्त करण सदा ।
द्वन्द्वातीतो वीतराग सर्वभूत सम क्षमो ।।

अर्थात् "जिन मनुष्यो का अन्त करण शुद्ध होता है, वे सदा दिव्य और देवता के ही समान है । द्वन्द्वो से परे, राग से रहित, सब प्राणियो मे समभाव वाले और क्षमाशील होते है ।"

कुब्जिका तन्त्र मे दिव्य भाव के लक्षणो का दिग्दर्शन कराते हुए कहा गया है—"स्त्री को देखते ही उनके मन मे गुरु-भाव का जागरण होता है । नारी जाति को वह शक्ति की प्रतिमा और पुरुषमात्र को शिव का साक्षात् विग्रह समझता है, जिसके मन मे, जगत और देवता मे भेद-भाव नही रहता । जिसके मन मे शत्रु व मित्र एक समान होते हैं, देव-निन्दक के साथ वह एक क्षण भी बात नही करना चाहता, वेद, शास्त्र, देवता और गुरु में जिनका दृढ विश्वास रहता है ।"

जिन साधको मे द्वैतभाव की समाप्ति हो जाती है और जो अपने इष्टदेव के साथ एकत्व स्थापित करने मे समर्थ हो जाते हैं, वही 'दिव्य-भाव' सम्पन्न कहलाते हैं । निर्वाण तन्त्र के अनुसार— दिव्यभावयुतानां तु तत्वज्ञान सदा भवेत' अर्थात् दिव्यभाव वालो को तत्वज्ञान की उप-लब्धि होती है ।

दिव्य भाव तीन प्रकार के होते हैं—

त्रिविधं दिव्यभावञ्च वेदागमविवेकजम् ।
वेदार्थमधमं प्रोक्तं मध्यमञ्चागमोद्भवम् ।
उत्तमं सकलं प्रोक्तं विवेकोल्लास सम्भवम् ।।

—रुद्रयामल ११

"केवल वेद पाठ करने के बाद जो दिव्य भाव उत्पन्न हो जाता है, वह अधम है। आगम शास्त्र का अध्ययन-मनन करने पर जो दिव्य भाव पैदा होता है, वह मध्यम है और साधन करते-करते विवेक उत्पन्न होकर जो दिव्य भाव प्रकट होता है, वह उत्तम है।"

इस प्रकार से तंत्रों में तीन प्रकार के भावों का वर्णन है—पशु भाव, वीर-भाव और दिव्य भाव। ये तीन तम, रज और सत का प्रतिनिधित्व करते हैं। साधक की सफलता इसी में है कि वह तम से रज की ओर और रज से सत की ओर प्रवृत्त हो, यही पशु भाव से मुक्त होकर वीर भाव ग्रहण करना और वीर भाव से ऊँचा उठकर दिव्य भाव की सीमा में प्रवेश करना है। रुद्रयामल तंत्र में कहा भी गया है—

आदौ भावं पशुं कृत्वा पश्चात् कुर्यादवश्यकम्।
वीर भावो महाभावं सर्वभावोत्तमोत्तम ।।
तत्पश्चाच्छ्रेयसं स्थानं दिव्यभावो महाफलं ।।

"आदि में पशु भाव को ग्रहण करके अवश्य वीर भाव को धारण करे और तत्पश्चात् दिव्य भाव को ग्रहण करे। उत्तम वीर भाव का श्रेयस्कर स्थान दिव्य भाव महाफल है।"

इस प्रकार की क्रमशः उन्नति ही तंत्र का उद्देश्य है। जिस भाव को जो अपनाना चाहता है, उसे अपने भावना-क्षेत्र का वातावरण उसी के अनुरूप बनाना पड़ता है। जिस भाव को वह दृढ़तापूर्वक ग्रहण करेगा, वह वैसा ही बनता चला जाएगा।

• • •

तान्त्रिक आचार

भारतीय संस्कृति मे आचार का विशेष महत्व है। यहाँ सदाचार को ब्राह्मणत्व का कारण माना जाता है—

न योनि नापि संस्कारो न श्रुत न च सन्तति'।
कारणानि द्विजत्वस्य वृत्तमेव तु कारणम्॥

—महाभारत, वनपर्व ३१३।१०८

"ब्राह्मणत्व का कारण न जन्म है, न संस्कार, न वेदाध्ययन और न कुल। उसका कारण केवल सदाचार है।"

तभी आचार के आधार परत्र वर्णों में परिवतन हो जाता था। ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि जब क्षत्रियो और शूद्रो ने ब्राह्मणत्व प्राप्त किया। शास्त्र भी इसकी साक्षी हैं—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैव शूद्रताम्।
क्षत्रियात् जातमेव तु विद्याद् वैश्यात् तथैव च॥

—मनुस्मृति १०।६५

"आचार के कारण शूद्र ब्राह्मण हो जाता है और ब्राह्मण शूद्र हो जाता है। यही बात क्षत्रिय और वैश्य के सम्बन्ध मे है।"

आचारहीन की निन्दा भी की गई है—

आचारहीन न पुनन्ति वेदा।

—वसिष्ठ स्मृति ६।३

"आचारहीन पुरुष को वेद पवित्र नही करते।"

तन्त्र-शास्त्रो मे आचारो की विशेष व्यवस्था है। यहाँ सप्त आचारो का वर्णन आता है। उनके नाम इस प्रकार हैं—वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार, दक्षिणाचार,वामाचार,सिद्धान्ताचार और कौला चार। इन आचारो का वर्णन महानिर्वाण, कुलार्णव, नित्या, आचार भेद, समयाचार, विश्वाचार, सर्वोल्लास महाचीनाचार आदि तन्त्रो मे आता है। 'कुलार्णव' के द्वितीय उल्लास मे कहा है--

> सर्वेभ्यश्चोत्तमा वेदा वेदेभ्यो वैष्णव परम्।
> वैष्णवादुत्तम शैव शैवाद्दक्षिणमुत्तमम् ॥
> दक्षिणादुत्तम वाय वामात् सिद्धान्त मुत्तमम्।
> सिद्धान्तादुत्तम कौल कौलात परतर नाहि ॥

अर्थात् "सबसे उत्तम वेद हैं। वेदो से उत्तम परम वैष्णव हैं। वैष्णव से उत्तम शैव हैं। शैव से दक्षिण उत्तम है। दक्षिण मार्ग से उत्तम वाम है और वाम सिद्धान्त से कौल उत्तम होता है।"

उपरोक्त सप्त आचारो मे से पहले चार पशुभाव से सम्बन्धित हैं, वामाचार और सिद्धान्ताचार वीर भाव से और कौलाचार दिव्य भाव से जुडा हुआ है।

योगवशिष्ठ रामायण (उत्पत्ति प्रकरण, ११८) मे सप्त ज्ञान-भूमिकाओ का वर्णन आता है—१ विविदिषा, २ विचारणा, ३. तनु-मानसा, ४ सत्त्वापति, ५ असंसक्ति, ६ पदार्थाभाविनी ७ तुरीया।

तन्त्र के आचार और योगवशिष्ठ की ज्ञान-भूमिकाएँ एक-दूसरे से मिलती-जुलती हैं। अन्तर केवल इतना है कि तन्त्र मे ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को प्राथमिकता दी गई है और योग वशिष्ठ मे ज्ञान की प्रमुखता प्रदान की गई है।

तन्त्र-आचारो का विस्तृत वर्णन विश्वसार तन्त्र' के २४ पटल मे आता है। प्रथम वेदाचार के लक्षण इस प्रकार हैं--

वेदाचार—

इसका उद्देश्य साधक की बाह्य शुद्धि है। उसके लिये उसे वेद-विहित कर्मों की जानकारी रखनी पड़ती है। वेद का अध्ययन करके वेद के आदेशों को मानस-पटल पर बैठाना पड़ता है। वेद भारतीय संस्कृति का शिरमौर शास्त्र हैं। उनमे जीवन के उत्थान के लिए सभी सूत्र और सिद्धान्तो का निर्देश किया गया है। जिन लोगो की यह धारणा है कि तन्त्रो मे वेद-विरोधी बातें भरी पड़ी हैं, उनके लिए व्यवहारिक रूप मे यह अच्छा उत्तर है कि साधना में ही वेद के अनुकूल आचरण करने का आदेश दिया गया है। साधना का आरम्भ ही वेद मे वर्णित आदेशो पर निर्भर करता है। इससे उत्तम प्रमाण और क्या मिल सकता है कि वेद के बिना तन्त्र की साधना ही नही चल सकती। इससे सिद्ध है कि तन्त्र वेदो का सम्मान करते हैं, उनके अनुकूल हैं और उन्हें अपना पथ-प्रदर्शक मानते हैं। इससे स्पष्ट है कि जो वेद-ज्ञान से शून्य है, वह तन्त्र-साधना में परिपक्व नही हो सकता।

वेद की आज्ञा है—

अनुव्रत: पितु: पुत्रो मात्रा भवतु संमना:।

—अथर्व० ३।३०।२

"माता-पिता के आज्ञाकारी तथा प्रिय बनो।"

न स्तेय मद्मि।

—अथर्व० १४।१।५७

"चोरी का धन न खाओ।"

प्र पतेत पापि लक्ष्मि। —अथर्व० ७।११५।१

"पाप की कमाई छोड़ दो।"

उपप्रयन्तो अध्वर। —ऋग्वेद १।७४।१

"वह कार्य करो, जिससे दूसरो को कष्ट न हो।"

अपैतु सर्वं यत् पापम् । —अथर्व० १०।१।१०

'सब प्रकार के दुष्कर्मों से बचो ।"

आपेहि मनस्येतऽपक्राम परश्चर ।

--अथर्व० २०।६६।२४

"मानसिक पापो का परित्याग करो ।"

इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि । —यजु० १।५

"असत्य को त्याग कर सत्य ही ग्रहण करना चाहिये ।"

पिपेश नाक स्तृभिर्दनूना, ।

--ऋग्वेद १।६८।१०

"स यमी मनुष्य स्वर्ग को भी जीत लेता है ।"

प्रसुव यज्ञम् । —यजु० ३०

"सत्कर्म ही किया करो ।"

ब्रह्मभ्य, कृणुता प्रियम् । --अथर्व० १२।२।३४

"बुजुर्गों से शिष्टाचार बरतो ।"

दैव्याय कर्मणे शुन्ध्यध्वम् । —यजु० ११।१३

"पवित्र बनो और शुभ कर्म करो ।"

अन्यो अन्य मभि हर्यत्त । अथव० ३।३०।१

"एक-दूसरे से प्यार करो ।"

विश्वा द्वेषासि प्रमुमुग्ध्यस्यत् । —यजु० २१।३

"स सार मे किसी से द्वेष मत करो ।"

भूयास मधुसद्दश' । —यजु० ३७

"मधुरता की मूर्तिमान प्रतिमा बनो ।"

भद्र कर्णेभि श्रृणुयाम । —यजु० ३०

"कानो से अच्छे विचार ही सुनो ।"

साय प्रात सौमनसो वो अस्तु । —अथव० ३।३०।७

'प्रात'-साय आत्म-चिन्तन करना चाहिए ।"

पुनन्तु मा देवजना पुनन्तु मनसा धिय ।
पुनन्तु विश्वा भूतानि जानतवेद, पुनीत मा ॥
—यजु० १६।३६

"देवताओ के अनुगामी पुरुष मुझे पवित्र करे। मन से सुसगत बुद्धि मुझे पवित्र करे। सम्पूर्ण प्राणिगण और पृथ्वी जल, अग्नि, वायु तथा आकाश आदि पञ्चभूत मुझे पवित्र करें। परमेश्वर भी मुझे पवित्र करें।"

वेद की इन जीवन-निर्माण की शिक्षाओ और आदेशो का वेदाचार का साधक पूर्ण निष्ठा के साथ पालन करता है तभी वह अगले वैष्णवाचार के लिए उपयुक्त पात्र बनता है।

नियमानुसार वेदाचार के साधक को ब्राह्म-मुहूर्त मे उठकर गुरुदेव को प्रणाम करने के उपरान्त सहस्रार पद्म मे ध्यान करना चाहिए और पञ्चोपचार से पूजन करना चाहिए। परमकला कुण्डलिनी शक्ति के ध्यान के पूर्व वाग्भव (ऐ) का जप करने का विधान है। सध्या अथवा रात्रि को देव-पूजन आवश्यक है। उसे सयम का पालन करना पडता है। स्त्री-समागम का पूर्ण निषेध तो नही है, परन्तु ऋतुकाल मे ही उसकी आज्ञा है। इसके अतिरिक्त नियम का उल्लघन माना जाता है।

तन्त्रो पर निराधार आरोप लगाने वालो के लिए प्रथम आचार का वर्णन ही पर्याप्त है। इसमे विदित है कि तन्त्र-साधक को कितने सयम से रहना पडता है। उसे तो अद्वैत सिद्धि के लक्ष्य तक पहुँचना है। यदि वह विविध प्रकार के असयमो मे अपनी शक्तियो को क्षीण करता रहा तो मार्ग अवरुद्ध हो जाएगा और लक्ष्य-सिद्धि मे बाधा पडेगी। साधक को आत्मोत्थान के लिए जो उच्च साधनायें करनी हैं, उनकी नीव को दृढ करने वाला यही आचार है।

वैष्णवाचार—

जब वेदाचार मे साधक परिपक्व हो जाता है, तो उसका वैष्णवाचार मे प्रवेश होता है। इसमे भी वेदाचार के समस्त नियमो का उसे पालन करना ही पड़ता है। इसके अतिरिक्त भगवान विष्णु की पूजा-अर्चना भी इसमे सम्मिलित है। इसमे विश्व के अणु-अणु मे विष्णु के सर्वव्यापक होने की भावना करनी पडती है। वास्तव मे विष्णु सर्वव्यापक शक्ति है, जो पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्लोक म फैली हुई है। विष्णु तीन पगो मे सारी सृष्टि को घेर लेते हैं। त्रिविक्रम तो वह प्रसिद्ध हो हैं। उनकी जगमगाहट तीनो लोको के अणु अणु मे दृष्टिगोचर होती है। प्राणीमात्र म वह समाया हुआ है। विष्णु तीन पगो मे सारी सृष्टि को नाप लेते हैं। यह चलना उनकी गति, क्रियाशीलता और सनकता की ओर इगित करता है। वह सदा जागरूक रहते हैं।

विष्णु वामन थे। वामन छोटा था, बौना था। परन्तु तीनो लोको मे, सारी सृष्टि मे, फैल गया। अणु महान हो गया। इस हमारे छोटे-से शरीर-पिंड वामन मे ही सारा ब्रह्माण्ड समाया हुआ है। यह पिंड—ब्रह्मांड का सक्षिप्त सस्करण है।" इसी मे वह विराट निहित है। इस पिण्ड और ब्रह्मांड, वामन और विष्णु मे कोई अन्तर नही है, दोनो एक हैं। वैष्णवाचार साधक विराट-दर्शन करता है। वह आत्मा को सब भूतो मे और सब भूतो को आत्मा मे देखता है। सच्चा विष्णु-भक्त मनुष्य के अतिरिक्त पशु, पक्षी और वनस्पति लताओ मे भी अपने इष्टदेव को व्याप्त अनुभव करता है। वह विश्व की हर वस्तु मे उस एक मूल तत्व को समाया हुआ व्याप्त मानता है।

विष्णु शेष शैय्या पर विश्राम करते हैं। इस रूपक मे शेष अनन्त का प्रतीक है। जिसका कभी अन्त न हो, उसे अनन्त कहते हैं। शेष के हजार फण माने गये हैं। सहस्र अनन्त का ही प्रतीक है। अनन्त

शेप सूर्य और आकाश दोनोको भी कहते हैं। आकाशका हम अन्त नही पा सकते इसलिए उसे अनन्त कहते हैं। विष्णु का आधार यही अनन्त है।

विष्णु की नाभि मे कमल उत्पन्न हुआ। कमलसे ब्रह्माजी आविर्भूत हुए। उन्हें सृष्टि रचना का आदेश दिया गया। ब्रह्मा ने अपनी असमर्थता प्रकट की। तब उन्हे तप करने के लिए कहा गया और वह समर्थ हुए। यह भी एक अटल नियम है—तप से सृजन होता है, शक्ति का विकास होता है। विष्णु साधक इसी नियम का पालन करता है।

"यज्ञो वै विष्णु" यज्ञ को विष्णु की सज्ञा दी जाती है। वेद मे यज्ञ को विश्व ब्रह्माण्ड को नियन्त्रण मे रखने वाला कहा गया है। ऐतरेय ब्राह्मण मे यज्ञ की अग्नि को ही विष्णु कहा गया है। "अग्निर्वे देवानाम वयो विष्णु परम। तद—तरेव सर्वा अन्या देवता।' ऋग्वेद (२।१।३) मे कहा है" हे अग्ने! तुम विष्णु रूप हो। ऋग्वेद (४।५८।३) अग्नि के चार सीग बताए गए हैं जिनका अर्थ चार दिशाएँ अथवा चार वेद माना जाता है। विष्णु की भी चार भुजाएँ दिखाई जाती हैं। इनका अभिप्राय भी यही लिया जाता है कि विष्णु विश्व व्यापी वेद हैं। विष्णु का वाहन गरुड है। भागवत १२।११।१६ मे तीनो वेदो को गरुड कहा गया है। उसे ही यज्ञ-रूप विष्णु वाहनकरते हैं। देवमयी रूप गरुड ही यज्ञ स्वरूप भगवान के वाहन हैं। ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद से ही यज्ञ की समाप्ति मानी जाती है। अत वेदात्मा ही गरुड है और भगवान विष्णु उन पर विराजते हैं।

विष्णु का वर्ण श्याम है। काले रग की यह विशेपता है कि उस पर कोई भी दूसरा रग नही चढ सकता और जब काला रग किसी वस्तु पर चढ जाता है तो वह उतरता भी नहीं। इसमे सभी तरह के रग समा जाते हैं और यह सब पर अपना प्रभुत्व रखता है। भगवान के गुण जिन्हें प्राकृतिक नियम भी कहा जाता है, काले रग की तरह ही हैं जो बदल नही सकते। अनेको परिवर्तन होने पर भी प्राकृतिक नियमो मा

भगवान के गुणों में अन्तर नहीं आ सकता। साधक को भी ऐसा ही बनना होगा।

विष्णु पुराण (१।२२।७१) के अनुसार अपने वेग से पवन को भी पराजित करने वाला अत्यन्त चंचल मन श्री विष्णु भगवान के कर-कमलों में स्थिति चक्र का रूप धारण करता है।"

विष्णु के हाथ में कमल संसार में रहते हुए उससे अलिप्त रहने की प्रेरणा देता है। शंख ज्ञान, पसारका प्रतीक है (विष्णु पुराण १।२२।६६) इस जगत के निर्लेप निर्गुण और निर्मल आत्मा को अर्थात् शुद्ध क्षेत्रज्ञ स्वरूप को भगवान विष्णु कौस्तुभ मणि के रूपमें धारण करते हैं। विष्णु पुराण (१।२।६८)। वैजयन्तीमाला का अभिप्राय पंचमहाभूतों से है (१।२। ६२) श्री वत्स का चित्त प्रकृति का प्रतिरूप है (१।२२।-६६)। भागवत ११।११ के अनुसार वह प्रणव को यज्ञोपवीत रूप में धारण करते हैं। उनका शारङ्ग धनुष–अहंकार है (विष्णु पुराण १।-२२।६०)। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ वाण रूप से भगवान विष्णु के आयुधों में विराजती हैं (१।२२।६३)। खड्ग अविद्यामय कोश से आच्छादित विद्यामय ज्ञान ही है। (१।२२।६४) इनके पति विष्णु त्याग और बलि दान की पवित्र भावनाओं में ओत प्रोत हैं।

वैष्णवाचार साधक को विष्णु के इन गुणों को ध्यान में रखना होगा और उन्हें अपने व्यावहारिक जीवन में उतारना होगा। प्रेरणा के साधक के लिए जो तान्त्रोक्त नियम बनाये गये हैं। उनके अनुसार भी उसे अश्लील वार्ता, मांसाहार, निन्दा चुगली, हिंसा आदि से दूर रहना पड़ता है। रात्रि पूजन, भी उसके लिए निषिद्ध है।

शैवाचार:—

इसमें पिछले सब आचारों का पालन तो करना ही पड़ता है। इस आचार में प्रविष्ट साधक को पशुवध की भी मनाही है वह अपने गुरु से जिज्ञासा की निवृत्ति का अधिकारी है। गुरु भी उसके अधिकार के अनुसार उसे ज्ञान प्रदान करते हैं।

इस आचार की विशेषता यह है कि सदैव सभी कार्यों में शिव के तात्विक स्वरूप की भावना करनी होती है। शिव श्वेत वर्ण के हैं। श्वेत रग ईश्वर की सज्ञा है। यही प्राणी का अन्तिम लक्ष्य है। सब-रग मिलने पर ही यह बन पाता है। एक भी इनसे अलग हो जाय तो सफेदी मे अन्तर आ जाता है अत सब प्राणी बाह्य दृष्टि से ही अलग अलग दृष्टिगोचर होते हैं। वास्तव मे सब एक इकाई हैं। श्वेत रग की तब उत्पत्ति हो पाती हैं, जब सब रग क्रियाशील होते हैं। शिव को प्रत्यक्ष करने के लिए क्रियाशीलता आवश्यक है। शास्त्रो मे इसी को तप सज्ञा दी गई है। श्वेतरग मे स्वाभाविकता है। शिव का रूप भी स्वाभाविक है कृत्रिमता उन से दूर रहती है। श्वेतरग ज्ञान का प्रतीक है। शकर की श्वेत भूमि मे हम ज्ञान आह्वान करते हैं। श्वेत रग सात्विकता का प्रतिनिधित्व करता है। श्वेतगर अद्वैत के लिए प्रेरित करता है। शिव सर्व व्यापी देव हैं। उन्हें अणु-अणु मे व्यापक जानना ही सच्चा ज्ञान है। प्राणीमात्र मे समाया हुआ मानना और तत्वत व्यवहार ही उनकी सच्ची उपासना है और सारे जगत से अभिन्नता का अनुभव करना ही शिव के श्वेत वर्ण की प्रेरणा है।

'अथव शिरोपनिषद्' मे शिवने स्वय कहा है मैं एक हूँ मैं भूत भविष्य और वर्तमान काल मे हूँ। मेरे अतिरिक्त कही कुछ भी नही है। जो अन्तर के भी अन्तर मे है, जो सब दिशाओ मे प्रविष्ट है वह मैं हूँ। मैं ही नित्य और अनित्य हूँ, मैं ही व्यक्त और अव्यक्त हूँ, मैं ही ब्रह्म और अब्रह्म हूँ। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व, अधो दिशारूप प्रतिदिशा रूप, पुमान अपुमान, स्त्री मैं ही हूँ। मुझे सब मे व्याप्त जानो। मुझे जानने वाला सब वेदो को जानता है और अ ग सहित वेदो को जानता है।"

शिव के गले मे सर्प लटके रहते हैं। सप तमोगुण, व क्रोध का प्रतीक है। वह उन्हे अपने नियत्रण मे रखते हैं। इनके रहते हुए इनमे अप्रभावित रहते हैं। सप सहारक शक्ति है। वह काल का प्रतीक है।

काल किसी को नही छोडता, परन्तु जो साधक शरीर-भाव से ऊपर उठ गये हो, वह इसमे अलिप्त रहते है। शिवके तो गले मे काल लटका रहता है, परन्तु उन्हे स्पर्श करने का साहस नही कर सकता। सर्प मनुष्य जाति का शत्रु है। शिव शत्रुओ को भी गले लगाते है और उसकी हिंसा वृत्ति को बदल देते हैं।

शिव की जटाओ मे गगा पवित्रता और शान्ति की प्रतीक है। शिव का उग्र व सहारक-रूप प्रसिद्ध है। उग्रता तो मस्तिष्क मे रहती है, वही गगा प्रवाहित होती है। यही उनकी विशेषता है। विष और अमृत दोनो ईश्वर क शरीर मे ही रहते हैं। विष के रहते हुए भी उनकी जटाओ मे मस्तक मे अमृत की धारा प्रवाहित होती रहती है।

शिव का त्रिनेत्र विवेक और नीर क्षीर सात्विक बुद्धि का प्रतीक है। जब तम सिर उठाता है, वह उग्र रूप धारण कर उसे जला डालते है। शिव को जब समस्याओ का समाधान करना पडता है तो वह विचलित नही होते, शातिपूवक उन्ह सुलझाते हैं। उनके सिर पर अर्द्ध चन्द्र इस तथ्य का प्रतीक है कि शिव की शात गङ्गा मे कभी ज्वार-भाटा नही आता। आवेश रूपी लहरें शिव रूपी समुद्र मे उत्पन्न हो ही नही सकती।

शकर शरीर पर भस्म लपेटे रहते हैं। भस्म को जगत् का मूल तत्व माना गया है। वे सब जगत् को भस्म कर अन्त मे उसकी भस्म को शरीर पर लगा लेते हैं। भस्म नाश का चिन्ह है, यह जगत के सहार का प्रतीक है। यह विश्व की निस्सारता का प्रतीक है। यह विश्व की निस्सारता का बोध कराती है, शिव को भी नश्वरता और अनित्यता का का स्मरण दिलाती है। इसीलिए वह स्वय श्मशान मे निवास करते हैं, जहाँ नाश की लीला हर समय प्रत्यक्ष दिखाई देती रहती है। वह इसे भूलते नही।*

---

* मुण्ड भी वह इसी लिए धारण करते हैं। यह उनका आभूषण है जो मृतकावस्था का बोध कराता है।

शङ्कर त्रिशूलधारी हैं। त्रिशूल शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक त्रिविध शक्तियों का प्रतीक है। त्रिशूलधारी में आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों शूलों को नष्ट करने की शक्ति होती हैं।

शिव व्याघ्र-चर्म ओढे रहते हैं। शेर सबसे शक्तिशाली पशु है। उसे मारकर वह अपना ओढना बनाते हैं। शिव काल व संहार के प्रतीक हैं। बडी-से-बडी शक्ति उनसे बच नहीं सकती। इसका यह भी भाव है कि वह शक्ति के स्रोत व नियन्त्रक हैं।

शिव के चार हाथों में मृग, परशु, वर और अभय रहते हैं। मृग यज्ञ का प्रतीक है। परशु संहार करता है। वर से अभिप्राय है कि वह सर्वशक्तिमान और सर्वसमर्थ हैं। अभय मुद्रा में भक्तों को भयों से बचाने का आश्वासन देते हैं।

शिव का वाहन वृषभ है, जो धर्म का रूप है। उसे कामनाओं और इच्छाओं की वर्षा करने वाला कहते हैं। वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का प्रतीक भी माना जाता है। अथर्ववेद ४।११।१०८ में वृषभ को पृथ्वी का पोषक, धारक, उत्पादक, प्रकाशक, प्रेरक, विजेता और फलदाता की उपाधियों से विभूषित करते हुए अन्त में ब्रह्म और विराट के समान बताया गया है।

शैवाचार साधक को शिव के इस रूप को समझना आवश्यक है। यही शिव की सच्ची उपासना है। इस आचार में वह विशिष्टता तभी प्राप्त कर सकेगा जब शिव के व्यक्तित्व से प्राप्त शिक्षाओं व प्रेरणाओं को व्यवहारिक जीवन में उतारता है।

दक्षिणाचार—

दक्षिण शब्द का अर्थ है—अनुकूल। अनुकूल आचार को ही दक्षिणाचार कहा गया है। पहले के तीन आचारों में जो साधक ने

ज्ञानार्जन किया है, उन्हें दृढ करने के लिए ही यह आचार बनाया गया। इसकी भावना सर्वप्रथम दक्षिणमूर्ति ऋषि ने की थी, इसलिये इसका नाम उनके आधार पर पड गया। उसके अनुसार शिवालय, श्मशान, चौराहे या किसी निर्जन स्थान मे महाशङ्खमाला जप करना चाहिए और देवी का पूजन करना चाहिए।

वास्तव में ईश्वर का कोई लिंग नहीं है। श्वेताश्वतरोपनिषद् (४।३) मे कहा है "तू स्त्री है, पुरुष भी तू ही है, तू भी कुमार और कुमारी है।"

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।

अत कुछ लोग ईश्वर को पुरुष-रूप मे और कुछ स्त्री-रूप म पूजते हैं दोनो ही रूप उपदेय हैं। कोई छोटा-बडा नही है। जिस तरह देवताओ और अवतारो की उपासना प्रचलित है उसी तरह देवी की पूजा भी व्यापक रूप रूप मे होती है। नारीमात्र मे ईश्वर को व्यापक जानना ही इसका मूल उद्देश्य है। नारी के प्रति मातृत्व भावना के विस्तार के लिए इस पूजन का प्रचलन हुआ है। इससे समाज मे नैतिकता की विचारधारा की स्थापना होती है, नारी जाति के प्रति सम्मान की भावना जाग्रत होती है। उसे केवल भोग की सामग्री ही नही, वरन् एक शक्ति के रूप म बढावा मिलता है। आधुनिक काल म म तो यह उपासना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि अब लोग नारी का गलत मूल्याकन करने लगे हैं। इस भ्रष्ट दृष्टिकोण को परिष्कृत करना आवश्यक है। वह तभी सम्भव है जब नारी को उच्च आसन पर अवस्थित किया जायगा। दक्षिणाचार का यही उद्देश्य है।

समन्वयात्मक पद्धति—

इन चार आचारो को 'पश्वाचार' कहते हैं। यह पशु-भाव के अन्तर्गत आते हैं।

उपरोक्त चार आचारों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि तन्त्र का दृष्टिकोण समन्वयात्मक है। सर्वप्रथम वह भारतीय संस्कृति के मूलाधार वेद-ज्ञान के प्रति सम्मान की भावना जाग्रत करता है और उनकी शिक्षाओं के अनुसार जीवन निर्माण करने का संकल्प करने का नियम बनाता है। विभिन्न प्रकार के सम्प्रदायों में आपसी खींचतान की समस्या का भी समाधान कर दिया गया है। हर साधक को विष्णु की और फिर शिव की उपासना करनी होगी और उनके तत्वज्ञान को सच्चे अर्थों में समझना होगा। फिर देवी की उपासना का भी विधान बनाया गया है। तन्त्र में सर्वदेव पूजा को प्रोत्साहन दिया है। वह सभी के प्रति सम्मान की शिक्षा देता है। किसी के प्रति ऊँच-नीच की भावना को इसमें स्थान नहीं है। आरम्भिक साधक के लिए यह आवश्यक है अन्यथा वह भटक जाता है और अपने इष्टदेव के अतिरिक्त शेष सब देवी देवताओं को हीन समझता है। यह विचारधारा उसकी आत्मिक प्रगति में बाधक सिद्ध होती है। तन्त्र-साधना साधक को एक व्यापक दृष्टिकोण देती है, जिससे संकुचित भावना का उसके अन्तःकरण में लेशमात्र भी प्रवेश न हो। यह एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है, जो तन्त्र की महान् विशेषता को ही प्रदर्शित करती है।

वामाचार—

दक्षिणाचार की परिधि का अतिक्रमण करके साधक का वामाचार में प्रवेश होता है। इसके लक्षणों में—दिन में ब्रह्मचर्य का पालन, रात्रि को पञ्चतत्त्वों के माध्यम से भगवती की पूजा और चक्रानुष्ठान करके मन्त्र, जाप आदि सम्मिलित है। इसे अत्यन्त गुप्त माना जाता है। कहा भी है—

> प्रकाशात् सिद्धिहानिः स्याद्वामाचारगतौ प्रिये।
> अतो वामपथं देवि गोपयेन्मातृजारवत्॥

अर्थात् "हे प्रिये! वामाचार गति में प्रकाश से सिद्धि की हानि

होती है। इसलिए हे देवि! मातृजार की भाँति वाम पक्ष को गुप्त ही रखना चाहिए।"

इसे अत्यन्त कठिन और योगियों के लिए भी अगम्य बताया गया है—

वामो मार्गः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः।

वाममार्ग जितेन्द्रिय के लिए ही प्रशस्त है, इन्द्रिय-लोलुप के लिए वाममार्ग में गति असम्भव है। शिव ने कहा भी है—

लोलुपो नरकं व्रजेत्।

"लोलुप नरक को जाता है।"

वाममार्ग का अधिकार उच्च भौतिक स्तर के साधकों को ही दिया गया है—

परद्रव्येषु योऽन्धश्च परस्त्रीषु नपुंसकः।
परापवादे यो मूकः सर्वदा विजितेन्द्रियः॥
तस्यैव ब्राह्मणस्यात्र वामे स्यादधिकारिता।

—मेरु तन्त्र

अर्थात् "जो पर-द्रव्य के लिए अन्धा है, पर-स्त्री के लिए नपुंसक है, जो पर-निन्दा के लिए गूंगा है और जो इन्द्रियों को सदा वश में रखता है, ऐसा ब्राह्मण वाममार्ग का अधिकारी होता है।"

तन्त्राणामतिगूढत्वात्तद्भावोऽप्यतिगोपितः।
ब्राह्मणो वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो बुद्धिमान् वशी॥
गूढतन्त्रार्थभावस्य निर्मथ्योद्धरणे क्षमः।
वाम मार्गेऽधिकारी स्यादितरो दुःखभाग् भवेत्॥

—भावचूडामणि

अर्थात् "तन्त्र अत्यन्त गहन हैं, इसलिए उनका भाव भी गुप्त है। वाममार्ग का अधिकारी वही हो सकता है, जो वेद-शास्त्रों का तत्त्वज्ञ,

बुद्धिमान् साधक गूढ तन्त्रार्थ भाव का मथन करके उनका उद्धार कर सके। इसके अतिरिक्त दूसरे दुःख के ही भागी होगे।"

अय सर्वोत्तमो धर्मः शिवोक्तः सर्व सिद्धिदः।
जितेन्द्रियस्य सुलभो नान्यस्यानन्तजन्मभिः॥

—पुरश्चर्यार्णव

अर्थात् "सर्वोत्तम और सर्वसिद्धिदाता शिवोक्त वाममार्ग जितेन्द्रिय के लिए ही सुलभ है। अनेको जन्म ग्रहण करने पर भी यह लोलुप के लिए सुलभ नही है।"

उपरोक्त उदाहरणो से विदित होगा कि वाममार्ग से सम्बन्ध मे जो लोक मे धारणाये हैं कि यह व्यभिचार को प्रोत्साहन देने वाला मार्ग है, कुछ भी सार नही है। शास्त्र का विधान तो यही है, परन्तु यदि कुछ स्वार्थी व्यक्ति थोडा-सा सहारा मिलने पर उनका दुरुपयोग करते है, तो उससे शास्त्र और उसके प्रतिपादित मार्ग को दोषी नही ठहराया जा सकता। ऋग्विधान मे ही कहा है—

अस्य वामस्य सूक्तं तु जपेच्चान्यत्र वा जले।
ब्रह्महत्यादिकं दग्ध्वा विष्णुलोकं स गच्छति॥

अर्थात् 'इस वाम के सूक्त को अन्य स्थान मे अथवा जल मे जपना चाहिए। वह पुरुष ब्रह्महत्या आदि महापाप को दग्ध करके विष्णुलोक को चला जाता है।"

वामाचार का अर्थ व्यभिचार नही है, प्रतिकूलाचार है। अभी तक दक्षिणाचार तक जिन चार आचारो की वह साधना करता रहा है, वह संसार मे रहकर ही होते रहे थे। अब इस आचार से उस सासारिक बन्धनो को खोलना पड़ता है, इसलिए उसे प्रतिकूलाचार अथवा वामाचार कहते है। निरुक्त मे वाम का अर्थ इस प्रकार लिखा है—

आम्नेयः अनेनः अनेद्यः अनवद्यः अनभिशापः उक्थ्यः सुनीथः पाकः वामः वयुनमिति दश प्रशस्यनामानि।

अर्थात् उपरोक्त दस नाम प्रशस्य अर्थात् श्रेष्ठ के वाचक है।

युगाचार्य ने प्रज्ञावान को ही प्रशम्य कहा है—

य एव हि प्रज्ञावन्तस्त एवहि प्रशम्य भवन्ति ।

इसमे प्रशस्य का अर्थ प्रज्ञावान किया गया है। ऐसे ही योगी का नाम वाम है।

अत वाम-पथ उत्तम मार्ग का निर्देशक है, न कि भ्रष्ट-पथ की ओर ले जाने वाला, जैसी कि लोक-मानस मे भावनायें व्याप्त हैं। अन्य मार्गों की अपेक्षा तो यह कठिन मार्ग है, क्योकि इसमे जितेन्द्रियता एक आवश्यक शर्त है।

सिद्धान्ताचार—

वामाचार मे परिपक्व होन पर साधक अगली कक्षा—सिद्धाताचार मे प्रविष्ट होता है। इसमे वह रुद्राक्ष और अस्थिमाला धारण करता है और भैरव-वेश भी धारण करता है। अब तक साधक अनुकूल तथा प्रतिकूल दोनो प्रकार की साधनायें कर चुका है। इस आचार मे प्रविष्ट होने पर साधक के मन की चचलता क्षीण होने लगती है और वह आत्मिक आनन्द का रसास्वादन करने की स्थिति मे आ जाता है। तन्त्र म कहा है—

देव पूजारतो नित्य तथा विष्णुपरो दिवा ।
नक्त द्रव्यादिक सर्वं यथालाभेन चोत्तमम् ।
विधिवत् क्रियते भक्तया स सर्वं च फल लभेत् ॥

अर्थात् "देवो की पूजा मे रत तथा दिन मे विष्णु परायण को नित्य ही तथा रात्रि मे ही यथालाभ मत्र द्रव्य आदि का सग्रह करे यही उत्तम है। जो इस प्रकार भक्ति-भाव क्रियापूर्वक करता है, वह सब फल प्राप्त किया करता है।"

वामाचार और सिद्धान्ताचार वीर-भाव के अन्तर्गत आते हैं।

कुलाचार—

सिद्धान्ताचार मे सिद्धि प्राप्त हो जाने पर कुलाचार में प्रविष्टि

होती है। यह तन्त्र का अन्तिम आचार है। इसलिए अत्यन्त कठिन है—

कौलो धर्म परम गहनो योगिनामप्यगम्य ।

अर्थात् "कौल धम अत्यन्त गहन है, जो योगियो के लिये भी गहन है।"

आत्मिक भूमिका मे यह स्थिति अत्यन्त उच्च मानी जाती है, जबकि विकार उत्पन्न करने वाली व पतन की ओर ले जाने वाली कोई भी वस्तु उसका स्पश तक नही कर सकती।

कहा भी है—

अहो पीत महद्द्रव्य मोहयेत्त्रिदशानपि ।
तन्मद्य कौलिक पीत्वा विकार नाप्नुयात्तु य ।
मद्ध्यानैकपरो भूयात् स भक्त स च कौलिक ।।

—परानन्द मत (गायकवाड ओरियण्टल सीरीज पृष्ठ १७)

अर्थात् "इसलिए पिया हुआ महद्द्रव्य देवो को भी मोह उत्पन्न कर देता है। उस मद्य को पीकर यदि विकार को प्राप्त नही होता है और मेरे ध्यान मे तत्पर रहता है वह भक्त है और कौलिक है।"

इसलिए जिसे कौल धर्म का अधिकार नही है, वह यदि इसे अपनाता है, तो वह हास्यास्पद ही लगेगा।

कुलधर्ममजानन् य. ससारान्मोक्षमिच्छति ।
पारावारमपार स पाणिभ्या तत्तुमिच्छति ।।

—कुलाणव २।४७

अर्थात् "कुल-धम को न जानते हुए जो ससार मे मोक्ष की इच्छा करता है, वह अपार पारावार को हाथो से ही तैरने की इच्छा किया करता है।"

वास्तविकता यह है कि कौल धर्म उच्च स्थिति का वाचक है, परन्तु भ्रष्टाचारियो ने उसे बदनाम कर दिया है। [illegible] के [illegible] की ओर यदि हम ध्यान दें, तो स्थिति स्पष्ट हो

अगम्यागमनश्चैव धूर्तमुन्मत्तवञ्चकम् ।
अनृत पापगोष्ठी च वर्जयेत् कौलिकोत्तमे ॥

अर्थात् "अगम्यागमन, धूर्त, उन्मत्त, चुगल, झूठ, पाप वार्ता को उत्तम कौल छोड दे।"

शैववैष्णवदौर्गार्कगाणपत्यादिकै क्रमात् ।
मन्त्रैर्विशुद्धचित्तस्य कौलज्ञान प्रकाशते ॥

अर्थात् "शिव, वैष्णव, शक्ति, सौर गाणपत्य आदि सिद्धातो के मन्त्रो द्वारा चित्त की शुद्धि हो लेने के पश्चात् कौलज्ञान (ब्रह्मज्ञान) की प्राप्ति होती है।"

शक्तिश्च शक्तिमद्रूपाद व्यतिरेक न वाञ्छति ।
तादात्म्यनयोर्नित्य वान्हदहिकयोरिव ॥
शक्तिशक्तिमतोर्यद्वदभेद सर्वदा स्थित ।
अतस्तद्धर्मधर्मित्वात् पराशक्ति परात्मन ॥
न वन्हेर्दाहिका शक्ति व्यतिरिक्ता विभाव्यते ।
केवल ज्ञानसत्ताय प्रारम्भोऽया प्रवेशने ॥
शक्त्यवस्थाप्रविष्टस्य निर्विभागेन भावना ।
तदसौ शिवरूप स्याच्छैवीमुखमिहोच्यते ॥

—अभिनवगुप्ताचार्य

अर्थात् "शक्ति और शक्तिमान के रूप मे जो व्यतिरेक नही चाहता है, उन दोनो का वह्नि और दाहिक की भाँति नित्य ही तादात्म्य होता है। शक्ति और शक्तिमान का सर्वदा जिस प्रकार से अभेद स्थित है, अतएव तद्धर्म और धर्मी होने से परमात्मा की पराशक्ति है। वह्नि की दाह करने वाली शक्ति व्यतिरिक्त अवभासित नही हुआ करती है। केवल ज्ञान की सत्ता मे प्रवेश करने मे ही यह प्रारम्भ है। शक्ति की अवस्था मे प्रविष्ट हुए की भावना तो निर्विभाजन होती है। उस समय

मे यह शिवरूप ही होता है। अतएव यहाँ पर शैवी मुख भी कहा जाता है।"

तन्त्र दार्शनिक भास्करराय ने 'कुल' शब्द के अनेको अर्थ किए हैं। 'कलामृतंकरसिका' के "सौभाग्य-भास्कर" भाष्य मे वह लिखते है—

कुल सजातीय समूह । स च एक विज्ञान विषयत्वरूप-साजात्यापन्न-ज्ञातृज्ञेय ज्ञानरूप त्रयात्मक । तत सा त्रिपुटी-कुलम् ।

अर्थात् "कुल सजातीय समूह है और वह एक विज्ञान विषयत्व रूप सजात्यापान्न-ज्ञातृज्ञेय ज्ञानरूप त्रयात्मक है। इसी से त्रिपुट कुल है।"

इस अर्थ में कालिदास रचित 'चिद्गगनचन्द्रिका' का प्रमाण भी दिया गया है—

मेयमातृमितिलक्षण कुल प्रान्ततो व्रजति यत्र विश्रमम् ।

अर्थात् "जिस साधक की अद्वैत भावना पूर्ण और विशुद्ध हो चुकी है, वही सच्चे रूप मे कौल पद का अधिकारी है।"

तभी तो विश्वसार तन्त्र मे कहा है—

कर्दमे चन्दने देवि पुत्रो शत्रौ प्रियाप्रिये ।
श्मशाने भवने देवि तथैव तृणकाञ्चने ॥
न भेदो यस्य देवेशि स एव कौलिकोत्तम ।
चिन्तयेदात्मनाऽऽत्मन सर्वत्र समदृष्टिमान् ॥

"श्रेष्ठ कौल वही है जिसको कर्दम और चन्दन मे, पुत्र और शत्रु मे, श्मशान और भवन मे, काञ्चन तथा तृण में कोई भेदज्ञान नही रह जाता और सब वस्तुओ मे साम्यभाव उत्पन्न हो जाता है। वह सब भूतो मे अपने आत्मा का और अपने आत्मा मे सब भूतो का दर्शन करता है।"

कुल शब्द के अर्थ से कौल का अर्थ और स्पष्ट हो जाएगा—

कु पृथ्वी तत्व लीयते यत्र तत्कुल—आधार चक्रं तत्स-म्बन्धात्लक्षणया सुषुम्णामार्गोऽपि ।

"पृथ्वी तत्व जिसमे लीन हो जाता है, उसे कुल और आधार चक्र कहते हैं और उसके सम्बन्ध मे सुषम्णामार्गको कुल कहा जाता है ।"

अथ, स्थित रक्त सहस्रदलकमलमपि कुल, तत्कर्णि-काया कुल देविदलेषु कुलशक्तय सन्तीति स्वच्छन्द तन्त्रेऽस्य विस्तरः ।

"ब्रह्मरन्ध्र रक्तवर्ण के सहस्रदल कमल को भी कहा जाता है । उसकी कर्णिका के ऊपर कुलदेविदलो मे कुलशक्तियाँ निवास करती हैं, जिसको विस्तृत रूप मे स्वच्छन्द तंत्र मे वर्णित किया गया है ।"

कुल शक्ति दिति प्रोक्तयोकुल शिव उच्यते ।
कुलेऽकुलस्य सम्बन्ध कौल मित्यभिधीयते ।।

अर्थात् "कुल शब्द शक्ति का वाचक है और अकुल शब्द शिव का बोधक है । कुल और अकुल के सम्बन्ध को कौल कहते हैं ।"

भविष्य पुराण मे आचार को कुल कहा है—

"आचार कुल मुच्यते"

अर्थात् "आचार ही कुल कहा जाता है ।"

विश्वकोष के अनुसार—

जनपदे ग्रहे सजातीयगणे गोत्रे देहेऽपि कुल कथितम् ।

"देश, घर सजातीय पुरुष, गोत्र और शरीर को भी कुल कहा जाता है ।"

कुलार्णव तंत्र के अनुसार—

अन्यास्तु सकला विद्या प्रकटा गणिका इव ।
इय तु शाम्भवी विद्या गुप्ता कुलवधू रिव ।।

अर्थात् "अन्य तो सभी विद्याये गणिका की भांति प्रकट हैं । यह तो शाम्भवी विद्या है, जो एक कुलवधू की भांति गुप्त होती है ।"

चिन्तामणिस्तव मे कहा है--

कुलाङ्गनेषाऽप्यथ राजवीथि ।
प्रविश्य सङ्केतगृहान्तरेषु ॥
विश्रम्य विश्रम्य वरेण पुंसा ।
सगम्य सगम्य रस प्रसूते ॥
कुल नाम पातिव्रत्यादिगुणराशिशीलो वश ॥

अर्थात् "यह एक कुलागना है अथवा यह राजवीथी है, जिसमे प्रवेश करके स केतगृहो के अन्दर विश्राम कर-करके पुरुष वर के साथ सङ्गम प्राप्त कर-करके रस का प्रसव करता है। कुल का अर्थ है—पातिव्रत्य आदि गुणराशि के स्वभाव वाला वश ।"

कुल गोत्रमिति ख्यात तच्च शक्तिशिवोद्भवम् ।
यो न मोक्षमिति ज्ञान कौलिक. परिकीर्तित ॥

अर्थात् "कुल नाम गोत्र का है। गोत्र शिव-शक्ति से उत्पन्न है। कौल वह कहलाते हैं जो शिव-शक्ति मे अभेद मानता है।"

अत कुलाचार उच्चकोटि की साधना है। इसकी आलोचना करना तान्त्रिक ज्ञान के अभाव का परिचायक है।

यह सप्ताचार निश्चय ही नैतिक व आध्यात्मिक धरातल पर स्थित हैं। इसके नियमो का दृढतापूर्वक पालन करने वाला साधक क्रमश प्रगति-पथ पर बढता जाता है और अन्तिम सीढी तक पहुँच सकता है, इसमे कुछ भी स शय नही है।

• • •

तान्त्रिक-पूजा का रहस्य

परिभाषा—

तन्त्र एक व्यवस्थित उपासना प्रणाली है जिसके माध्यम से मानव-जीवन के उच्चतम लक्ष्य की प्राप्ति की जा सकती है। साधारणतः तो तन्त्र को जादू और चमत्कार दिखाने वाली पद्धति ही समझा जाता है। इससे भौतिक उपलब्धियाँ भी होती हैं। परन्तु तन्त्र-उपासना का वास्तविक लक्ष्य तो अद्वैत भावना का विकास है। उत्तम उपासना का यही अर्थ समझा जाता है। उपासना के शास्त्रों में विभिन्न नाम आते हैं—पूजा, वन्दना, अर्चना, भजन, आराधना आदि।

तन्त्र के अनुसार सच्ची पूजा वह है जो पुनर्जन्म को समाप्त करती है। जन्म और मृत्यु के चक्र को रोकती है और सम्पूर्ण फल प्रदान करती है। अर्चना इसलिए कहते हैं, क्योंकि यह अभीष्ट फल देने वाली है। तान्त्रिक शास्त्रियों के अनुसार "समस्त ज्ञेय पदार्थों की चिद्भूमि में विश्रांति ही पूजा कहलाती है। ऋजुविमर्शिनी के इस लक्षण के साथ ही गुरु को अपने आत्मरूप में भावना करना ही पूजा है अथवा निर्विकल्पक महाकाल में आदरपूर्वक लय होना ही पूजा है।"

तान्त्रिक पूजा का अभिप्राय किसी देवी देवता से सम्बन्धित नहीं है वरन् उस ईश्वर की पूजा का निर्देश दिया जाता है जो समस्त जगत की उत्पत्ति, स्थिति और लय की पूर्ण सामर्थ्य रखता है। इसे ही भगवती, परब्रह्म, भगवान और परमात्मा आदि विभिन्न नामों से अभिहित किया जाता है।

तन्त्र का सिद्धात यह है कि शिव और शक्ति के सयोग से सृष्टि की रचना होती है। शिव शक्ति के बिना शव बन जाते हैं। शक्ति मे क्रियाशीलता है। तात्रिक भाषा मे इसे 'विमर्श' नाम दिया जाता है। शिव प्रकाश स्वरूप है क्योकि सारा ससार उनसे प्रकाशित होता है, परन्तु विमर्श के अभाव मे वह स्वय प्रकाश नही हो सकते। प्रकाश और विमर्श दोनो अभिन्न रूप से रहते है। बिना शक्ति की उपासना के कुछ भी करना सम्भव नही है—

शक्त्या विना परे शिवे नाम धाम न विद्यते।

जब शक्ति की उपेक्षा की जाती है तो परम शिव मे नाम आदि भावो का सम्बन्ध टूट जाता है। वास्तव मे पूजा इस विमर्श शक्ति की ही हुआ करती है जो ईश्वर की स्वरूपभूता कहलाती है इसी को ईश्वर की पूजा कहते है।

प्रकार—

तात्रिक भावनाओ के अनुसार पूजा के भी चार अलग-अलग प्रकार हैं। यह अनुभव करना कि जीवात्मा और परमात्मा एक हैं, हर वस्तु ब्रह्ममय है, इस सृष्टि मे ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नही है, ब्रह्म-भाव कहलाता है। यह साधक की उच्चतम स्थिति है। जप और प्रार्थना, स्तवन उससे भी नीचे वाली श्रेणी की पूजा है। हृदय मे योग-साधना के माध्यम से इष्ट देवता का अटूट ध्यान निम्न श्रेणी की किन्तु मध्यम है,चौथी पूजा पूजा बाह्य-जगतमे दृष्टिगोचर होनेवाले पदार्थों की है। साधक और देवता मे जब पूजा करने और ग्रहण करनेका भाव विद्यमान रहता है तो स्वाभाविक रूप से इससे द्वैत भावना का ही पोषण होता है। ब्रह्मभाव के अतिरिक्त सभी स्थितियो मे द्वैत-भावना रहती है। जिसने अद्वैत तत्व का अनुभव कर लिया है और जो जानता है कि सब कुछ ब्रह्म ही है, जब साधना करने वाले और जिसकी पूजा की जा रही है, इसका कोई भान नही होता और न ही जप, तप, पूजा, व्रत, ध्यान, धारणा आदि योगागो का ही ध्यान रहता है, तभी पूजा की

अंतिम स्थिति मानी जाती है। जब तक यह स्थिति न आए, समझना चाहिए कि अभी पूजा अधूरी है और प्रयत्न करना शेष है।

'चिद्गगनचन्द्रिका' नामक आगम ग्रन्थ मे चार प्रकार की पूजा का विधान बताया गया है—१ चार, २ राव, ३ चरु, ४ मुद्रा। 'राव' ही इनमे प्रमुख है। आत्मशक्ति के साक्षात्कार को ही राव' कहा जाता है। चार आचार से, चरु द्रव्य से और मुद्रा से सम्बन्धित है। ठीक भी है आरम्भिक साधक को पहले बाह्य उपकरणो का सहारा लेना पडता है फिर धीरे-धीरे वह आगे बढता है। उन्नति की कसौटी यही है कि उसे फिर बाह्यपूजा की अपेक्षा नही रहती। साधक के लिए आतरिक पूजा के द्वार खुल जाते है। तन्त्र की भाषा मे बहिर्याग से अन्तर्याग की ओर पग बढाना है। बहिर्याग के मुख्यत पाँच अङ्ग हैं—जप, होम, तर्पण, मार्जन और ब्रह्मयोजना। अन्तर्याग के भी पाँच अङ्ग हैं—पटल, पद्धति, वर्म, स्तोत्र और नामसहस्र। पटल का अभिप्राय है -षट्चक्रो और सहस्रदल कमल मे देवी के स्वरूप की भावना करना। उस मन्त्र पटल मे पाँच या सोलह उपचारो से हृदयादि पीठ मे देवी पूजन पद्धति कहलाता है। इष्ट मन्त्र के अक्षरो से स्थूल शरीर पर कवच बनाना, देवी के विभिन्न नामो से शरीर की सुरक्षा की भावना करना वर्म कहलाता है। स्मृति जागृत रखने के लिए देवी के रहस्यमय स्तोत्रो का स्तवन और उनके सहस्र नामो मे से विशेष गुणपरक नामो का ध्यान करके आतरिक रूप से प्रणाम करना होता है।

अन्तर्याग की व्याख्या इस प्रकार से की गई है—

पृथिव्यात्मकगन्ध स्यादाकाशात्मकपुष्पकम् ।
धूपो वाय्वात्मक प्रोक्तो दीपो वन्ह्यात्मक पर ॥
रसात्मक च नैवेद्य पूजा पञ्चोपचारिका।

"पृथ्वी तत्व को गन्ध, आकाश तत्व को फूल, वायु तत्व को धूप, तेजस्तत्व को दीप, रसात्मक जल तत्व को नैवेद्य के रूप में भावना करके पञ्चोपचार पूजा की जाती है। इसे ही अन्तर्याग कहते हैं।"

समझने की सुविधा के लिए तन्त्र मे तीन प्रकार की पूजा मानी जाती है—उत्तम, मध्यम और अधम, जिसे 'परा', 'परापरा' और 'अपरा' भी कहा जाता है। इन तीन के अतिरिक्त एक अध्याधम पूजा भी है। तान्त्रिक शास्त्रियो का विचार है कि भौतिक युग मे लोक-मानस का आत्मिक स्तर इतना गिर गया है कि साधारण व्यक्तियो को तन्त्र की अधम पूजा का भी अधिकार नहीं है।

तन्त्र की परम पूजा का स्पष्टीकरण करते हुए 'सकेत पद्धति' मे कहा गया है—

न पूजा बाह्यपुष्पादिद्रव्यैर्या प्रथिताऽनिशम्।
स्वे महिम्न्यद्वये धाम्नि सा पूजा या परा स्थिति ॥

बाह्य पुष्पादि द्रव्यो से जो पूजा की जाती है, वह श्रेष्ठ पूजा नहीं है। विश्व मे इसी का विस्तार है परन्तु जब अपनी स्वरूप-महिमा मे साधक की स्थिति दृढ हो जाती है तभी वह परा पूजा कहलाने योग्य है, क्योकि इसमे द्वैतभाव का अभाव हो जाता है और अद्वैत भावना की स्थापना। इस अद्वैत भाव का विकास ही परा-पूजा कहलाती है। मध्यम पूजा शिव के साथ अभेद की अनुभूति नही होती। परन्तु वह इसके द्वार पर अवश्य खडा होता है क्योकि उसे यह ज्ञान हो जाता है कि जड पदार्थों का अद्वैत में लय हो रहा है। समय पाकर मध्यम श्रेणी का साधक परा-पूजा का अधिकारी बन जाता है, जैसे कि वह अधम पूजा से मध्यम में आया था। आरम्भ मे तो साधक को साधारण पूजा का ही सहारा लेना पडता है। साधारण पूजा में बाह्य उपकरणो का प्रयोग होता है। तन्त्र मे ६४ उपचार, १८ उपचार, १६ उपचार, १० उपचार फिर ५ उपचारो से पूजा का विधान बनाया गया है।

इन उपचारो की सक्षिप्त सूची इस प्रकार है—

६४ उपचार—

पाद्यम्, अर्घ्यम्, आसनम्, सुगन्धितैलाभ्यङ्गम्, मज्जनशालाप्रवेशनम्,

मज्जनमणिपीठोपवेशनम् दिव्यस्नानीयम्, उद्वर्तनम्, उष्णोदकस्नानम्, कनककलशस्थितसर्वतीर्थाभिषेकम् धौतवस्त्रपरिमार्जनम्, अरुणदुकूलपरिधानम्, अरुणदुकूलोत्तरीयम् आलेपमण्डपप्रवेशनम्, आलेपमणिपीठोपवेशनम्, चन्दनागुरुकुंकुममृगमदकर्पूर कस्तूरीगोरोचना दिव्यगन्धसर्वांगानुलेपनम्, केशभारस्य कालागुरुधूपमल्लिकामालतीजाती चम्पकाशोकशतपत्रपूगकुहरी पुन्नागकल्हारयूथीसर्वर्तुकसुममालाभूषणम्, भूषणमण्डपप्रवेशनम्, भूषणमणिपीठोपवेशनम् नवरत्नमुकुटम् चन्द्रशकलम्, सीमन्तसिन्दूरम्, तिलकरत्नम्, कालाञ्जनम्, कर्णपालीयुगलम्, नासाभरणम् अधरयावकम् ग्रथनभूषणम्, कनकचित्रपदकम् महापदकम्, मुक्तावलीम्, एकावलीम्, देवाच्छन्दकम्, केयूरयुगलचतुष्टम्, वलयावलीम् ऊर्मिकावलीम्, काञ्चीदामकटिसूत्रम्, शोभाख्याभरणम् पादकटकयुगलम् रत्ननूपुरम् पादाङ्गुलीयकम्, एककरे पाशम्, अन्यकरे अंकुशम्, इतरकरेषु पुण्ड्रेक्षुचापम्, अपरकरे पुष्पबाणान्, श्रीमन्माणिक्यपादुकाम् स्वसमानवेशाभिरावरणदेवताभि सह सिंहासनारोहणम् कामेश्वरपर्यङ्कोपवेशनम्, अमृताशनम्, आचमनीयम्, कर्पूरवटिकाम्, आनन्दोल्लासविलासहासम्, मंगलारात्रिकम्, श्वेतच्छत्रम्, चामरयुगलम्, दर्पणम्, तालवृन्तम्, गन्धम्, पुष्पम् धूपम्, दीपम्, नैवेद्यम्, पानम्, पुनराचमनीयम = ६४

१८ उपचार—

अष्टादशोपचार ये हैं—आसन, स्वागत पाद्य अर्घ्य, आचमनीय, स्नानीय, वस्त्र, यज्ञोपवीत, भूषण, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, अन्न, दर्पण, माल्य, अनुलेपन और नमस्कार = १८

१६ उपचार—

षोडशोपचार ये हैं—पाद्य, अर्घ्यं, आचमनीय, स्नानीय, वस्त्र, आभूषण, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, आचमनीय, ताम्बूल, स्तवपाठ, तर्पण और नमस्कार ।=१६

१० उपचार—

दशोपचार ये हैं—

पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय, मधुपर्क, आचमनीय, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य=१०

५ उपचार—

पञ्चोपचार ये हैं—

गन्ध, पुष्प धूप, दीप और नैवेद्य=५

पूजा का रहस्य—

पूजा के विभिन्न प्रकारो और माध्यमो का तान्त्रिक शास्त्रियों ने इस प्रकार निरूपण किया है—

आवाहन—ईश्वर सर्वव्यापी है। इसलिए उसका आवाहन व्यर्थ है, यह धारणा निर्मूल है। यह तो साधना की सुविधा के लिए किया जाता है। इससे विश्वास की दृढता होती है। साधक यह धारणा करता है कि उसका इष्टदेव सामने उपस्थित है। आरम्भिक साधना मे यह आवश्यक है।

आसन हृदय में पवित्र भाव से इष्टदेव की प्रतिष्ठापना करना।

पाद्य—पञ्च तत्वों से निर्मित जगत मे उत्पन्न मल को ईश्वर से एकात्मक भावना रूपी जल से प्रक्षालन करना।

स्नान—जल से पञ्चभौतिक शरीर को पवित्र करना स्नान कहलाता है। सत् चित्-आनन्दरूपी ब्रह्म से अपनी अन्तरात्मा को पवित्र करना आध्यात्मिक स्नान है।

नैवेद्य—मे अमृताश की भावना है।

आचमन—वाणी, मन और अन्तरात्मा मे पवित्रता अनुभव करने तथा भविष्य मे इन तीनो को अधिक पवित्र बनाने की भावना के साथ तीन बार आचमन किया जाता है। पहले आचमन के साथ वाणी

को स्नान कराके पवित्र किया माना जाता है। दूसरे से मन को और तीसरे से आत्मा को। अपनी बाह्य और आतरिक पवित्रता देव-उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आवश्यक है। इस तथ्य को अपने आपको स्मरण दिलाने के लिए तीन आचमन किए जाते हैं। जल ब्रह्म का रूप है, उसमे एकीकरण का भाव है--आचमन।

प्रदक्षिणा--जो विचार और भाव-साधना तथा अध्ययनकाल मे प्राप्त हुए है, उन्हे क्रियारूप मे परिणत करने के लिए कदम बढाना प्रदक्षिणा का उद्देश्य है। धर्म, अर्थ, काम मोक्ष की चतुर्विध जीवन-साधना के लिए चार परिक्रमा की जाती हैं।

गन्ध--दुर्भाग्य की सम्भावना को नष्ट करने और धर्म का ज्ञान प्रदान करने के कारण गन्ध नाम पड़ा।

अक्षत--अक्षत अन्न का साधन है, पापो की निवृत्ति करते हैं और परम सत्य से परिचय कराते हैं।

पुष्प--धन, सम्पत्ति, पुण्य की वृद्धि करने और पापो के समूह को नष्ट करने के कारण पुष्प कहलाते हैं।

धूप--धूप बदबू को दूर करती है और परमानन्द प्रदान करती है।

दीप--दीर्घा, अज्ञानता, गहरे अन्धकार को दूर करके परम सत्य--परातत्व को प्रकाशित करता है।

बलि--बलि का अभिप्राय पापो और दुष्प्रवृत्तियो का नाश है।

पान--पान पाशो को खोलता है, नरक से बचाता है और पवित्र भावो का उदय करता है।

अर्घ्य--धन की वृद्धि करने और पाप की निवृत्ति करने के कारण अर्घ्य कहलाता है।

प्रसाद--प्रकाश के रूप मे आनन्द प्रदान करने और परम सत्य के दर्शन कराने के कारण प्रसाद कहलाता है। तन्त्र मे अद्वैतभाव के ग्रहण को गुरुप्रसाद कहते हैं--

स्वप्रकाशवपुषा गुरु. शिवो,
य प्रसीदति पदार्थमस्तके ।
तत्प्रसादमिह तत्वशोधन
प्राप्य मोदमुपयाति भावुक ॥

स्वप्रकाश रूपी शिव गुरु जब पदार्थ मस्तक मे प्रसन्न होते हैं, तब सभी तत्वो की शुद्धि हो जाती है और स्वाभाविक रूप से परमानन्द की प्राप्ति होती है।

गुरु-प्रसाद की महिमा का वर्णन करते हुए कहा गया है—

ईश्वराराधनधिया स्वधर्माचरणात्सताम् ।
ईशप्रसादस्तद्रूप सुलभश्चात्र सदगुरु ॥

अर्थात् "ईश्वर की आराधना करने की बुद्धि से सत्पुरुषो को अपने धर्म का आचरण करने से उसी स्वरूप वाला ईश्वर का प्रसाद होता है, इसकी प्राप्ति के लिए सद्गुरु की सुलभता होनी चाहिए।"

सदगुरो सम्प्रसादेऽस्य प्रतिबन्धक्षयस्तत. ।
दुर्भावनातिरस्काराद्विज्ञान मुक्तिद क्षणात् ॥

अर्थात् "सद्गुरु के भलीभाँति प्रसाद के होने पर इसके प्रतिबन्धों का क्षय हो जाया करता है। बुरी भावनाओ के तिरस्कार से क्षणमात्र मे मुक्ति के प्रदान करने वाला विज्ञान प्राप्त होता है।"

प्रणाम—चित्त को विषय-वासनाओ से दूर करके ब्रह्म मे लीन करने की क्रिया को प्रणाम कहते हैं।"

विसर्जन—पूजा की समाप्ति पर इष्टदेव का भावनापूर्ण विसर्जन किया जाता है, क्योंकि सर्वप्रथम आवाहन भी किया गया था। जब पूजा सम्बन्धी कोई काम करना शेष नही रहता, तभी विसर्जन होता है। आध्यात्मिक भाषा मे इसे ज्ञान का स्तर मानते हैं। पूर्ण सन्तोष होने पर ही यह भावना उत्पन्न होती है कि अब कोई कार्य करना शेष नही रहा है। साधना की सफलता का भी यह चिन्ह है।

मानस-पूजन —

बाह्य पदार्थों और उपचारों से जब भावना मे परिपक्वता होने लगती है तो इन पदार्थों के माध्यम की अपेक्षा नहीं रहती, इनकी मानसिक रूप से भावना ही पर्याप्त रहती है। श्री पूर्व आगम शास्त्र मे कहा है—

द्रवद्रव्यसमायोगात् स्नपन तस्य जायते ।
गन्ध पुष्पादिगन्धस्य ग्रहण यजन स्मृतम् ॥
षड रसास्वादन तस्य नैवेद्याय प्रजायते ।
यमेत्रोच्चारयेद् वर्ण स जप परिकीर्तित ॥

अर्थात् "द्रव पदार्थ के स्पर्श को स्नान कहते हैं। गन्ध-पुष्पादि की गन्ध ग्रहण करना अर्चना कहलाती है। षड्रसों का आस्वादन नैवेद्य है और वर्णों का उच्चारण जप कहा जाता है।"

भावोपनिषद् (३) मे मानस-पूजन का विस्तृत निरूपण है—

सलिल सौहित्यकारण सत्व कर्तव्यमकर्तव्यमिति भावनायुक्त उपचार । आस्ति नास्तीति कर्तव्यता उपाचर । बाह्याभ्यन्त करणाना रूपग्रहणयोग्यताऽस्त्वित्यावाहनम् । तस्य वाह्याभ्यन्त कारणनामेकरूपविषय ग्रहणमासनम् । रक्तशुक्ल-पदैकीकरण पाद्यम् । उज्ज्वलदामोदानन्दासन दानमर्घ्यम स्वच्छ स्वत.—सिद्धमित्याचमनीयम् । चिच्चन्द्रमयासर्वाङ्गस्रवण स्नानम् । चिदग्निस्वरूपपरमानन्दशक्तिस्फुरण वस्त्रम् । प्रत्येक सप्तविंशतिधाभिन्न-त्वेनेच्छाज्ञानक्रियाऽऽत्मकब्रह्मग्रन्थिमद्रसतन्तुब्रह्म-नाडी ब्रह्मसूत्रम् । स्वव्यतिरिक्तवस्तुसङ्गरहितस्मरण विभूषणम् । स्वच्छस्वपरिपूरणानुस्मरण गन्ध । समस्तविषयाणा मनस स्थैर्येणानुसधान कुसुमम् । तेषामेव सवदा स्वीकरण धूप । पवनावच्छिन्नो र्ध्वज्वलनसच्चिदुल्काऽऽकाशदेहो दीप । समस्त-यातायातवर्ज्यं नैवेद्यम् । अवस्थात्रयैकीकरण ताम्बूलम् ।

मूलाधारादाब्रह्मरन्ध्रपर्यंत ब्रह्मरन्ध्रादामूलाधारपर्यन्त गतागत-रूपेणप्रादक्षिण्यम्। तुर्यावस्था नमस्कार। देहशून्यप्रमातृतानिमज्जन बलिहरणम। सत्यमस्ति कर्तव्यमकर्तव्यमौदासीन्यनित्यात्मविलापन होम.। स्वय तत्पादुका निमज्जन परिपूर्ण ध्यानम्।

अर्थात् "मन्त्र तथा गुरुमन्त्रात्मक देवताओ का एकीकरण ध्यान जो सत्व ही कर्तव्य है, इस भावना से युक्त ही इसका उपचार (पूजा) है। ब्रह्म ही है, ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं है, यह जो कर्तव्यता है, यह भी उपचार है। ब्रह्म तथा आभ्यन्तर के कारणो की रूप ग्रहण की योग्यता ही यही आवाहन है। उसका बाह्य तथा आभ्यन्तर कारणो का एक रूप विषयो का ग्रहण करना ही आसन है। केवल कुम्भक से सुषुम्ना प्रवेश के अनन्तर मूलाधार तथा भौंहो के मध्य मे स्थित प्रत्येक ओर परनाम के लाल तथा सफेद पदो का एकीकरण ही पाद्य है। अपने शिष्यो को यह उपदेश करना कि ब्रह्माभिन्न सदोज्वल दामोदरानन्द रूप से स्थिति हमेशा करनी चाहिए, यह अर्घ्य है। स्वय स्वच्छ तथा स्वत सिद्ध ही आचमनीय है। चिद्रूप चन्द्रमयी के सर्वाङ्गो का स्मरण ही स्नान है। चिद् अग्नि स्वरूप परम तिमक शक्ति का स्फुरण ही (प्रकाशित होना) वस्त्र है। इच्छा आदि तीन शक्तियो के त्रिगुणात्मक होने से प्रत्येक के जो २७ भेद तथा इच्छा ज्ञान तथा क्रिया-शक्ति स्वरूप ब्रह्मग्रन्थि, मन्द्रस नाडी सुषुम्ना, यही ब्रह्मसूत्र है क्योकि यही ब्रह्म की द्योतिका है। अपने से भिन्न वस्तु का स्मरण न करना ही आभूषण है। स्वच्छ स्वरूप जो ब्रह्म उससे कुछ भिन्न नहीं है यही स्मरण करना गंध है। सब विषयो का मन की स्थिरता से अनुसधान ही फूल है और उन्ही को स्वीकार करना ही धूप है। वात्वा पक वायु युक्त) योग के समय प्राण अपान की एकता से सुषुम्ना मे सत, चित्, आनन्द उल्कारूप जो (प्रकाश है) आकाश देह है, वही दीप है। अपने से भिन्न सभी विषयो मे मन की गति का जाना आना रुक जाना (न लाना) ही नैवेद्य है। तीनो अवस्थाओ का एकीकरण ही पान है। मूलाधार बार-बार गतागत करना

(आना-जाना) ही प्रदक्षिणा है। चतुर्थी अवस्था मे स्थित रहना ही नमस्कार है। देह की जडता मे डूबना (अर्थात् आत्मा को चैतन्य मानकर, देह को जड मानकर स्थित रहना ही)बलि है। अपनी आत्मा सत्व स्वरूप है, यह निश्चित करके कर्तव्य, अकर्तव्य, उदासीनता, नित्यात्मक, विलापन (आत्म-चिन्तनासक्ति) ही यज्ञ-होम है तथा उस परब्रह्म की पादुकाओ मे डूबे रहना ही परिपूर्ण ध्यान है। साराश यह हुआ कि जैसे पूजा के लिए धूप, दीप, नैवेद्य, दक्षिणा, नमस्कार, प्रदक्षिणादि अपेक्षित होती है, वैसे ही परब्रह्म की प्राप्ति के लिये ऊपर बताई गई वस्तुओ का साधन कर लेना ही तद् तद् धूप, दीप आदि हैं। इन्ही से वह ब्रह्म दृष्टिगोचर हो जाता है।"

भगवान् शङ्कराचार्य "शिवमनास पूजा स्तोत्र" से भी यही ध्वनि निकलती है—

आत्मा त्व गिरजा मति, सहचरा, प्राणा शरीर गृह ।
पूजा ते विषयोप भोगरचना निद्रा समाधिस्थिति ।।
सचार पदयो प्रदक्षिणविधि स्तोत्राणि सर्वा गिरो ।
यद्यत् कर्म करोमि तत्तदखिल शम्भो तवाराधनम् ।।

शिव को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि "तुम्ही मेरी आत्मा हो, गिरिजा बुद्धि हैं, प्राण सहचर हैं, मेरा शरीर तुम्हारा घर है। विषय-भोग के लिए मेरे इन्द्रिय-व्यापार ही पूजा है, निद्रा समाधि-स्थिति है। मेरे पद-सचार तुम्हारी प्रदक्षिणा और बोलना तुम्हारा स्तोत्र है। मेरे समस्त कर्म तुम्हारी आराधना है।"

भक्ति-सुधा (प्रथम खण्ड) मे स्वामी श्री हरिहरानन्द सरस्वती ने मानस पूजा का विवेचन इस प्रकार किया है—

"नामरूपात्मक जगत् मे सच्चिदानन्द की भावना ही अम्बा को पाद्यसमर्पण है। सूक्ष्म जगत् मे ब्रह्म-भावना ही अर्घ्यसमर्पण है। भावनाओ मे ब्रह्म-भावना ही आचमन है। सर्वत्र सत्वादि गुणो मे

चिदानन्द भावना ही स्नान है। चिद्रूपा कामेश्वरी मे कृत्यविषयता का चिन्तन करना ही प्रोञ्छन है। निरञ्जन तत्व, अजरत्व, अशोकत्व, अमृतत्व आदि की भावना ही विविध आभूषणो का अर्पण है। स्वशरीर घटक पार्थिवप्रपञ्च मे चिन्मात्र भावना ही गन्धसमर्पण है। आकाश मे चिन्मात्रत्व की भावना करनी पुष्प-समर्पण है। वायु की चिन्मात्र भावना धूप-समर्पण है, तेज मे चिन्मात्रत्व की भावना दीपसमर्पण है। अमृतत्व की भावना नैवेद्यार्पण है। विश्व मे सच्चिदानन्द भावना करनी ही ताम्बूल समर्पण है। वाणियो का ब्रह्म मे उपसंहार ही स्तुति है। वृत्ति-विषय के जडत्व का निराकरण ही आरार्त्तिक्य है। वृत्तियो को ब्रह्म मे लय करना ही प्रणाम है।"

आदर्श पूजन का एक और रूप शास्त्र मे प्रस्तुत किया गया है—

शिवशक्तिपरा पूजा योगेनैव समाचरेत् ।
मन्त्रोदकैर्विना सन्ध्या पूजाहोमैर्विना जपन् ।
उपाचारैर्विनायाग योगी नित्य समाचरेत् ।।
यमादि नियमै पुष्प आत्मैकादशभि परै ।
दशदिक्षु तथा मध्ये यजेत परमेश्वरम् ।।
ध्यानिना हि वपु सूक्ष्म भवेप्रत्यक्षमैश्वरम् ।
ध्यान यज्ञरतास्तस्मात् देवान् पाषाणमृण्मयान् ।
नाद्रियन्त प्रजिपद्यन्ते शिवयाथात्म्यवेदनात् ।।

अर्थात् "जो साधक योग के माध्यम से शिव शक्ति की पूजा करते है, उनकी बिना मन्त्र और जल के सन्ध्या होती है, उनका जप बिना पूजा और होम के होता है। उनका नित्ययज्ञ बिना सामग्री के होता है। उनके लिए पाँच यम, पाँच नियम और ग्यारहवाँ मन पुष्प रूप होते है, जिनसे दसो दिशाओ और शरीर के मध्य मे ईश्वर का पूजन करते है। इस तरह से परमेश्वर की आराधना करने वाले साधको के समक्ष परमेश्वर का ज्योतिमय सूक्ष्म शरीर प्रकट होता है। ध्यान यज्ञ मे रत साधक जिसे शिव के ज्योतिर्मय रूप के दर्शन हो जाते है, उन्हे पाषाण

श्रीर मृत्तिका के बने देवताश्रो की पूजा करने की श्रावश्यकता नहीं रहती।"

मूर्ति-पूजा का यहां खण्डन किया गया हो, ऐसी बात नही है। यहां तो उपासना के स्तर का विवेचन किया गया है कि जब साधक ऊर्ध्व भूमिकाश्रो मे प्रवेश करता है, तो उसे श्रारम्भिक साधनाश्रो के माध्यमो को छोड देना पडता है। तन्त्र ने भी इस विचारधारा का समर्थन किया है श्रौर कहा है कि श्रारम्भ मे तो पूजा के लिए वाह्य उपचारो की श्रपेक्षा रहती है, परन्तु जब साधक प्रगति-पथ पर श्रारूढ होता है तो यह माध्यम स्वत छूट जाते हैं। वह स्वय इसकी श्रावश्यकता श्रनुभव नही करता। पहले तो वह पाषाण या मृतिका निर्मित मूर्ति को ही ईश्वर समझता था परन्तु जब उसकी भावना विकसित होती है, तो वह प्रत्येक मानव पिंड में पशु-पक्षी श्रौर कीट-पतग मे तथा फिर सृष्टि के श्रणु श्रणु मे श्रपने इष्टदेव के दर्शन करता है। उसमे श्रद्वैत भाव की जाग्रति होती है। यही तत्र परापूजा श्रर्थात् उत्तम पूजा कहलाती है, जिसकी श्रोर बढने के लिए सभी तन्त्र साधनाश्रों का विधान बनाया गया है।

• • •

पंचमकार रहस्य

तन्त्र-ग्रथो मे पचमकारो की बहुत चर्चा आती है। उनके लम्बे-चौडे माहात्म्य भो वर्णन किए गए है। आध्यात्मिक मकारो की प्रशसा करते हुए कहा गया है—

मद्य मासञ्च मीनञ्च मुद्रा मैथुनमेव च।
मकार पञ्चक प्राहुर्योगिना मुक्ति दायकम्॥

अर्थात् "मद्य, मांस, मीन, मुद्रा और मैथुन—यह पांच आध्यात्मिक मकार ही योगीजनो को मोक्ष प्रदान करने वाले हैं।"

साधारणत यह समझा जाता है कि मद्य, मांस, मीन और मैथुन आदि का प्रत्यक्ष प्रयोग का विधि-विधान है। इसीलिए तन्त्र के विधि-विधानो पर सर्वाधिक आक्रोश प्रकट किया जाता है और इसे निम्न वर्ग की साधन-प्रणाली घोषित किया जाता है। स्पष्ट है कि मद्य, मांस का उपयोग करने वाले तामसिक अथवा राजसिक प्रकृति के ही व्यक्ति हो सकते हैं, सात्विक प्रकृति के व्यक्ति उनका उपयोग तो अलग रहा, उनका नाम सुनना भी पसन्द नही करते। लोक मे भी आध्यात्मिक दृष्टि से शराबी और मांसाहारियो को हेय दृष्टि से देखा जाता है क्योकि निश्चय ही इनका उपयोग तमोगुण की वृद्धि करता है। अध्यात्म-शास्त्रो मे सर्वत्र इनकी निन्दा की गई है और इनके त्याग के आदेश दिए गए हैं।

सुरापान मे व्यक्ति इतना सज्ञाशून्य हो जाता है कि विष्णु पुराण मे

अवतारी पुरुष बलरामजी द्वारा कथावाचक सूतजी की हत्या का उल्लेख मिलता है, जबकि वह मद्यपान किए हुए थे। ऐसे महान् व्यक्तित्वो से जब इतने अन्यायपूर्ण कार्य हो जाते हैं, तो साधारण व्यक्तियो मे तो और भी जघन्य कार्य होने सम्भव हैं। विष्णु पुराण में ही कहा है कि स्यमन्तक मणि को अपने पास रखने वाले का जीवन पवित्र होना आवश्यक है। श्रीकृष्ण ने स्वय कहा है—

आर्यबलभद्रेणापि मदिरापानाद्यशेषोपभोगपरित्याग कार्य

(४।१३।१५७)

"अर्थात् "यदि आर्य बलरामजी इसे अपने पास रखते हैं, तो उन्हे अपने मदिरापान आदि सभी भोगो को छोडना पडेगा।"

महाभारत मे स्पष्ट रूप से निषेध किया गया है—

सुरा मत्सया मधु मास मासव कृशरौदनम्।
धूर्तैं प्रवर्तित ह्येतन्नैतद्वेदेषु कल्पितम् ॥१०
मानान्मोहाच्च लोभाच्च लोलेयमेतत्प्रकल्पितम्।
विष्णुमेवाभिजनान्तिसर्वं यज्ञेषु ब्राह्मण ॥११
पायसैं सुमनोभिवश्च तस्यपि भजन स्मृतम्।
यज्ञियाश्वैव ये वृक्षा वेदेषु परिकल्पिता ॥१२

—महाभारत शाति०

"सुरा, मत्स्य, शराब, माँस, आसव आदि सब व्यवहार धूर्तों का चलाया हुआ है। उसका वेदो मे कोई प्रमाण नही है। मान, मोह, लोभ और जिह्वा की लोलुपता के कारण यह बनाया गया है। वास्तव मे सच्चे ब्राह्मण सभी यज्ञो मे उस कण-कण मे व्याप्त प्रभु का ही भजन-पूजन करते हैं और वेदो में दिये हुए आदेश के अनुसार यज्ञ मे काम आने वाली वृक्षों की समिधाओ का उपयोग करते हैं।"

शराब और माँस मे रुचि रखने वालो को दैत्य की सज्ञा दी गई है—

मधुमांस प्रिया दैत्यास्तेषां गत्वात्द्रवन्ति च ।

—स्कन्दपुराण, अध्याय ६

नारद ने एक स्थान पर कहा है—"जिस धर्म में मांस गार मद्य सेवन का विधान है, वह धर्म केवल नरक के लिए होता है।"

विष्णुपुराण में इनसे दूर रहने वालों की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है—"जो जीवनपर्यन्त किसी प्रकार का मांस नहीं खाता, उसे स्वर्ग में विपुल स्थान प्राप्त होता है। यदि वह मांस खाता है तो सारे जाप, होम, नियम, तीर्थस्नान व्यर्थ हैं।'

शास्त्रों में मांसाहार पर दोषारोपण करते हुए उसके त्याग की प्रबल प्रेरणायें दी गई हैं—

"मांस से हिंसा की प्रवृत्ति बढ़ती है, अधर्म की वृद्धि होती है, दुःख की उत्पत्ति होती है। इसलिए मांसका त्याग करना ही उपयुक्त है।

—शांतिपर्व

चूँकि मांस से शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक उन्नति में बाधा पड़ती है, इसलिए अपने जीवन-क्रम को शांतिपूर्वक चलाने का उपदेश करते हुए भीष्म युधिष्ठिर से कहते हैं—

य इच्छेत् पुरुषोत्यन्तमात्मानं निरुपद्रवम्।
स वर्जयेत मांसानि प्राणिनामिह सर्वथा ॥

—महा० अनुशासन पर्व

"जो मनुष्य अपनी जीवन-यात्रा शांति से चलाना चाहे, उसके लिए आवश्यक है कि वह मांस-भक्षण कभी न करे।"

मांस भक्षण रसनाका विषय है। एक बार खा लेने से वह सहज में ही नहीं छूट पाता, इसलिए पहले से ही सावधान करते हुए भीष्म पितामह कहते हैं—

दुष्करहि रसज्ञाने मांसस्य परिवर्जनम्।
चतुर्वृतमिदं श्रेष्ठं सर्वप्राणाय भयप्रदम् ॥

"मांस के रस के स्वाद मे आसक्ति हो जाने पर मांस का छूटना कठिन है। मांस-भक्षण करने वाला कभी भी श्रेष्ठ अहिंसा व्रत का पालन नही कर सकता।"

अनुमन्ता विशसिता नीहन्ता क्रयविक्रयी ।
संस्कर्त्तायोपहर्त्ता चरवादश्चेती घातक ।।

—मनु० ५।५१

"पशु-वध के लिए सम्मति देने वाला, मांस को काटने, पशु आदि को मारने, उनका मारने के लिए लेने और बेचने, मांस के पकाने, परसने और खाने वाले यह आठ मनुष्य घातक हैं।"

नाकृत्वा प्राणिना हिंसा मासमुत्पद्यते क्वचित् ।
न च प्राणिवध स्वर्गयस्तस्यान्मास विवर्जयेत् ।।

"प्राणियो के वध के बिना मांस प्राप्त नही हो सकता, प्राणो की हिंसा से स्वर्ग उपलब्ध नही होता, इसलिए मास का त्याग करना चाहिए।"

शास्त्रो मे मांस न खाने वालो की प्रशसा इन शब्दो में की गई है—

वष वर्षेऽमेधने यो यजेन शत समा ।
मासानि चन खादेद्यस्तयो पुण्यफल समम् ।।

—मनु० ४।५३

"मांस-भक्षण न करने वाले और सौ वर्ष तक अश्वमेध यज्ञ करने वाले को समान फल की प्राप्ति होती है।"

याज्ञवल्क्य स्मृति में मांस न खाने वाले की प्रशसा की है। यथा—

सर्वान्कामानवप्नोति तयमेधफल तथा ।
गृहेपि निवसन्तिद्रो मुनि मास विर्वजनात् ।।

—आचार्य प्रकरण ७, श्लोक १८०

"विद्वान सभी इच्छाओ तथा अश्वमेध के फल को पाता है, वह गृहस्थ मुनि है, जो मांस-भक्षण नहीं करता।"

मैथुन काम-वासना की तृप्ति का साधन है। उससे काम का वेग बढता है, जो अध्यात्म-मार्ग की महान् बाधा है। गीताकार ने तो काम से सवस्व-नाश की घोषणा की है—

ध्यायतो विपयान्पु स मगस्तेपूपजायते।
सगात्सञ्जायते काम कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति सम्मोह सम्मोहात्स्मृतिविभ्रम ।
स्मृतिभ्र शाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥
रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥

—गीता २।६२-६४

अर्थात् "विषयो का चिन्तन करने से इनमे सग बढता है। सग से वासना की उत्पत्ति होती है कि हमे काम चाहिए। जब काम की तृप्ति नही हो पाती है, तो क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से समोह अर्थात् अविवेक होता है, समोह से स्मृति भ्र श, स्मृति भ्र श से बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से सर्वस्वनाश हो जाता है।"

इन्द्रियाणा हि चरता यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञा वायुर्नावमिवाम्भसि ॥

—गीता २।६७

अर्थात् "विषयो में सचार अर्थात् व्यवहार करने वाले इन्द्रियो के पीछे पीछे मन जो जाने लगता है, वही व्यक्ति की बुद्धि को ऐसे हरण करता है जैसे कि जल मे नाव को वायु खीचती है।"

शास्त्र सुरा, मांस और मैथुन आदि का विरोध करते हैं। तन्त्र वेदादि शास्त्रो के अनुकूल हैं, विरोधी नही। जो आध्यात्मिक विचार-धारा इन शास्त्रो में वर्णित की गई है, उनकी साधन-प्रणाली का प्रति-

पादन तन्त्रो मे किया गया है। सभी शास्त्र एक स्तर से मद्य, मांस और मैथुन आदि को आत्मिक उत्थान मे बाधक समझते हैं, तो तन्त्र उनके प्रत्यक्ष प्रयोग की आज्ञा कैसे दे सकते हैं? वास्तव मे तन्त्रो की भाषा साकेतिक है, उन्हे उसी रूप मे समझना उपयुक्त रहेगा। तन्त्रो मे इन सकेतो को दो रूपो मे व्यक्त किया गया है—अनुकल्प और दिव्य। उनका विचार सभी मकारो मे किया जाएगा।

मद्य—

मद्य का अनुकल्प नारियल का पानी है। 'कुलार्णव तन्त्र' मे नारियल का पानी और दूध दोनो का वर्णन आता है। योगिनी तन्त्र मे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के लिए अलग अलग अनुकल्प दिए गये हैं—

तेषा विधि शृणुष्वाद्य मत्तस्त्व कुलनायिके।
गुडद्रिकरसेनैव सुरा तु ब्राह्मणस्य च॥

अर्थात् "हे कुल-नायिके! उसकी विधि का श्रवण करो। गुड और अदरक का रस मिलाने से ब्राह्मण की सुरा बनती है।"

नारिकेलोदक कास्ये क्षत्रियस्य वरानने।
वैश्यस्य माक्षिक प्रोक्त कास्यस्थ वरवर्णिनि॥

अर्थात् "कासी के पात्र मे नारियल का जल क्षत्रिय की और कांसी के पात्र मे मधु वैश्य की सुरा कही गई है।"

जहां सुरा का विधान है, वहां पूजा मे इन वस्तुओं का प्रयोग अभीष्ट है। सुरा के दिव्य रूप का अभिप्राय इस प्रकार है।

अन्तर्योग मे कुण्डलिनी शक्ति को ही सुरा कहते हैं—

न मद्य माधवी मद्य शक्तिरसोद्भवम्।
सामरस्यामृतोल्लास मथुन तत्सदाशिवम्॥

'मद्य से मदिरा का तात्पर्य नही है वरन् शिव-शक्ति के सयोग से जो महान् अमृतत्व उत्पन्न है, वही वास्तविक शक्तिप्रदायक रस है।"

व्योम पंकजानिष्यन्द सुधापानरतो भवेत् ।
मद्यपानमिद प्रोक्तमितरे मद्यपायिन ॥

"ब्रह्मरन्ध्र सहस्र दल से जो स्रवित होता है, उसका पान करना ही मद्यपान है । इसके अतिरिक्त पीने वाला मद्यप है ।"

ब्रह्मस्थान सरोजपात्रलसिता ब्रह्माण्डतृप्तिप्रदा ।
या शुभ्राशुक्ला सुधाविगलिता सा पानयोग्या सुरा ।
सा हाला पिवतामनर्थ फलदा श्रीदिव्यभावाश्रिता ।
यामित्या मुनय परार्थकुशला निर्वाणमुक्ति गता ॥

—तन्त्रतत्त्व प्रकाश

"जो सहस्रार कमलरूपी पात्र मे भरी है और चन्द्रमा कलासुधा से स्रवित है वही पीने योग्य सुरा है । इसका प्रभाव ऐसा होता है कि वह सब प्रकार के अशुभ कर्मों को व्यर्थ कर देती है । इसीके प्रभावसे परमार्थ कुशल मुनियो ने मुक्ति रूपी फल को प्राप्त किया है ।"

यदुक्त परम ब्रह्म निर्विकार निरजनम् ।
तस्मिन् प्रमदनज्ञान तन्मद्य परिकीर्तितम् ॥

"निर्विकार, निरजन, परब्रह्म के विषय मे योग-साधना द्वारा जो प्रमदन-ज्ञान उत्पन्न होता है, उसको मद्य कहते है ।"

मार्कण्डेय पुराण मे लिखा है कि देवी जब युद्ध मे रत रहती थी, तो सुरा का पान करती थी । यहाँ मद्य का अभिप्राय अभिमान और उन्मत्त आचरण से है । देवी इससे शून्य होकर सघर्ष मे कूदती थी । नारद भक्तिसूत्र मे ईश्वर का यही गुण बताया गया है—

ईश्वरस्याभिमानद्वेषित्वाद्दैन्यप्रियत्वाच्च ।

वह दीनो का बन्धु और अभिमान का द्वेषी है । अहकारी को गीता मे अज्ञानी कहा गया है—

तत्रैव सति कर्तारमात्मान केवल तु य ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मति. ॥ १८।१६

अर्थात् "जो संस्कृत-बुद्धि न होने के कारण यह समझे कि मैं अकेला ही कर्त्ता हूँ, समझना चाहिए कि वह दुर्मति कुछ नही जानता।"

इसलिए भगवान परामर्श देते हैं कि—

मच्चित्त सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनक्ष्यसि ॥
१८।५८

"यदि तू मुझमे चित्त रखेगा, तो मेरी कृपा से संकटों को पार कर लेगा। परन्तु अहंकार के वशीभूत होकर मेरी ओर ध्यान न देगा, तो नाश को प्राप्त होगा।"

प्रश्नोपनिषद् ३।१।४ मे लिखा है कि ईश्वर को जानने वाले मे अहंकार का अभाव रहता है—

प्राणो ह्येष य सर्वभूतैर्विभाति
विजानन् विद्वान भवते नातिवादी।

"यह परमेश्वर ही प्राण है, जो सब प्राणियो के द्वारा प्रकाशित हो रहा है। इसको जानने वाला ज्ञानी अभिमानपूर्वक बढ-बढकर बातें, करने वाला नही होता।"

अत तन्त्र-साधक को देवी की तरह इसी सुरा का पान करना चाहिए, तभी उसकी आत्मा शक्तिशाली होगी और वह आत्म-साक्षात्कार के योग्य हो सकेगा। यदि इस सुरा का पान नही किया जाता अर्थात् अहंकार का नाश नही किया जाता तो सौ कल्पो मे भी ईश्वर-दर्शन करना असम्भव है।

मांस—

मांस का अनुकल्प है लवण, अदरक, लहसुन, तिल और गेहूँ की बालें। योगिनी तन्त्र मे कहा है—

मास मत्स्यन्तु सर्वेषा लवणार्द्रक मोरितम्।

अर्थात् 'मयका मांस और मत्स्य लवण तथा अदरक बताया गया है।"

कुलार्णव तन्त्र में भी मांस के स्थान पर लवण, अदरक गेहूँ या लहसुन से पूजा विधान बताया गया है। मांस के लिए दिव्य रूप है—समस्त वस्तुओं को अन्तर्यामी ईश्वर को समर्पित करना।

—कौलिकार्चन तन्त्र

मांसाहार का प्रतीकात्मक स्पष्टीकरण करते हुए शास्त्रों में कहा है—

माशब्दाद्रसना ज्ञेया तदंशान रसनाप्रिये।
सदा यो भक्षयेद्देवि स एव मांस साधक ॥

"हे रसनाप्रिये! मां रसना—शब्द का नामान्तर है, वाक्य उसका अंश है। जो सदा सर्वदा उस वाक्य की भक्षणा करता है अर्थात् जो वाक् संयम करके मौन रहता है, वही वास्तव में मांस-साधक है।"

पुण्यापुण्य पशु हत्वा ज्ञान खड्गेन योगवित्।
परे लयं नयेत् चित्तम् मांसाशी स निगद्यते॥

"पुण्य पापरूपी पशु को ज्ञानरूपी खड्ग से मारकर जो योगी मन को ब्रह्म में लीन करता है, वही सच्चा मांसाशी (मांसाहारी) है।"

काम क्रोध सुलोभमोहपशुकाश्छित्त्वा विवेकासिना।
मांसनिर्विषयं परमात्मसुखदं खादन्ति तेषां बुधा॥
ते विज्ञान परा धरातल सुरास्ते पुण्यवन्तो नरा।
नाश्नीयात्पशुमांसमात्मविमतेर्हिंसापर सज्जन॥

—तन्त्रतत्त्व प्रकाश

"काम, क्रोध लोभ, मोह आदि पशुओं को विवेक रूपी तलवार से मारकर उसको भक्षण करे और दूसरों को सुख पहुँचावे, वही सच्चा बुद्धिमान है। ऐसे ही ज्ञानी और पुण्यशील जन पृथ्वी के देवता कहे जाते हैं। ऐसे सज्जन कभी पशु मांस का प्रयोग करके पापी नहीं बनते।"

पशु वध से माँस की प्राप्ति होती है। माँस-लोलुपों ने उपासन के अतिरिक्त हवन-यज्ञों में भी अर्थका अनर्थ करके पशु-वध करना आरंभ किया था उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

उपनिषद् के अनुसार—

काम क्रोध लोभादय पशव' ।

अर्थात् "काम, क्रोध, लोभ, मोह —यह पशु हैं इन्हीं को मारकर यज्ञ में हवन करना चाहिए।"

'महानिर्वाण तन्त्र' मे भी इसी आशय का श्लोक आया है—

काम क्रोध सुलोभ मोह पशु काच्छित्वा विवेकासिना।
मास निर्विपय परात्म सुखद भुञ्जति तेपा बुधा ॥

—भैरव यामल

अर्थात् 'विवेकी पुरुप काम क्रोध, लोभ और मोह रूपी पशुओं को विवेकरूपी तलवार से काटकर दूसरे प्राणियों को सुख देने वाले निर्विषय रूप मास का भक्षण करते हैं।"

कामक्रोधौ द्वौ पशु इमावेव मनसा वलिमर्पयेत् ।
कामक्रोधौ विघ्नकृतौ वलि दत्त्वा जप चरेत् ।

"काम और क्रोध रूपी दोनो विघ्नकारी पशुओं का वलिदान करके उपासना करनी चाहिए, यही शास्त्रोक्त वलिदान का रहस्य है।"

अलङ्कारिक रूप से यह आत्म-शुद्धि की, कुविचारो, पाप तापो, कपाय कल्मपो से वचने की शिक्षा है।

गीता में लिखा है कि मन और वुद्धि को अपरण करना चाहिए (१२।८) किन्तु विपयासक्त मन वुद्धि की सज्ञा पशु है और अर्पण ही वलि है।

परमार्थसार मे लिखा है कि 'मायापरिग्रह वशाद् वोधो मलिन पुमान् पशु भवति' अर्थात् माया के कारण मलिन वुद्धि होने से मनुष्य पशुभाव को प्राप्त होता है। तन्त्रमे कहा है— इन्द्रियाणि पशून हत्वा' अर्थात् इन्द्रिय रूप पशु का वध करे।

एक विद्वान का कहना है कि पशु जगत् में इन्द्रियाँ सर्वोपरि हैं और उन्ही का संचालन वहाँ प्रधान साधन है। किन्तु मनुष्य में जीवात्मा सर्वोपरि है और जीवात्मा तथा इन्द्रियो के मध्य मे अन्त,करण है। इनके पशु स्वभाव को कामात्मक स्वार्थ के लिए व्यवहृत न कर ईश्वर के अनेक होने के संकल्प (एकोऽहं बहुस्याम्) अर्थात् इच्छा-शक्ति की, जिसकी संज्ञा महाविद्या है, पूर्ति रूपी यज्ञ मे व्यवहृत होने के लिए महाविद्या को समर्पित करना अर्थात् ईश्वर के दिव्य गुण, शक्ति, सामर्थ्य आदि को प्रकाशित करने योग्य बनाना ही यथार्थ पशु बलि हैं। जीवात्मा रूपी होता को सद्बुद्धि रूपी स्रुवा मे इस पशु-स्वभाव के साथ संयोजित कर ब्रह्माग्नि मे अर्पण करना अर्थात् ब्रह्म के निमित्त सृष्टि-हित कार्य मे प्रवृत्त करना ही, यज्ञ मे इनकी बलि करना है।

तन्त्र के एक प्रसिद्ध लेखक ने अपने एक ग्रन्थ मे बकरे को काम, भैसे को क्रोध, बिलाव को लोभ, मेडे को मोह और ऊँट को मात्सर्य कहा है और इन्ही विकारो के त्याग को पशुबलि कहा है।

यजुर्वेद मे ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जिनसे यह अभिप्राय निकलता है कि अग्नि, वायु और सूर्य ही पशु हैं। यथा—

अग्नि पशुरासीत्तेनायजन्त।

अर्थात् अग्नि पशु था, उस द्वारा यज्ञ किया।

वायु' पशरासीत्तेनायजन्त।

अर्थात् वायु पशु था, उस द्वारा यज्ञ किया।

सूर्य पशुरासीत्तेनायजन्त।

अर्थात् सूर्य पशु था, उस द्वारा यज्ञ किया।

एतरेय ब्राह्मण(१।२।१०)मे 'पशवो व इवा हुआ' इस पृथ्वी को ही पशु कहा गया है। क्या इन सबको काट काटकर होमा जायगा? अन्न से बनी हुई वस्तु तथा (रोटी और पूरी आदि) खाद्य पदार्थों को भी पशु माना गया है।

चरक संहिता में 'अज' औषधि का वर्णन है—

अजाना -मोषधि रज शृङ्गति विज्ञायते ।

—चरक संहिता प्र०

क्या उपरोक्त वाक्य में वर्णित अजा बूटी के स्थान पर बकरी को औषधि बनावेगा ?

महाभारत में भी अजा का अर्थ औषधि और बीज ही किया गया है—

बीजैयज्ञेषु यष्टव्य मिति वा वैदिकी श्रुति ।

अज सज्ञानि बीजानि, छाग तो हन्तुमर्हथ ॥

नैष धर्मं सता देवा यत्र वध्येत वै पशु ।

—महाभारत शान्ति ३३७

अर्थात् "बीजों का यज्ञ में हवन करना चाहिए, ऐसी ही वेद की श्रुति है। अज सज्ञक बीज होते हैं। इसलिए बकरे का हनन करना उचित नहीं, जिस कर्म में पशु की हत्या होती है, वह सज्जनों का धर्म नहीं।

वैद्यक ग्रथों में अनेक पशुवाचक शब्द आते हैं। यथा—

अश्व=अश्व गन्धा। ऋषभ=ऋषभक कन्द। श्वान=कुकुर-मुत्ता। वराह=वराहीकन्द। काक=काकमाची। अज = अजमोद। मत्स्य=मत्स्याक्षी। लोम=जटामासी। महिष=महिषाक्ष गुग्गुल। मेष=चक्वड,मेषपर्णी। मातुल=धतूरा। मृग=सहदेवी बूटी। पशु= मोथरा। कुमारी—विवकुमारी। रुधिर—केशर। केश—जटामासी। हृद—दारचीनी।

पशु वाचक शब्दों के अन्य प्रकार के भी अर्थ होते हैं—

(१) अज या छाग—तीन या सात वर्ष के पुराने धान, राशि-चक्र में की मेष राशी।

(२) धेनु—माता (अथर्व १२४ ३२), पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, दिशाएं आदि (अथर्व० ४।३९)।

(३) गो—तरतुले, शमीवृक्ष (ऋग्वेद १०।३।१०) रश्मि, चन्द्रमा, दूध, चम धनुष का डोरी आदि (निरुक्त अ० २, पा० २, ख० १—३)।

(४) अश्व—तण्डुल के कण (अथर्व० का० ११, सू० ३ पर्याय १, म० ५) सूर्य, अश्वपर्णी या असगन्धा ओषधि (यजु० २१।२८), एक नक्षत्र आदि।

(५) अजा—सोम ओषधि आदि (ऋग्वेद १०।२८।११)।

(६) वृषभ—ओदन (अथर्व०११।१।३५), बादल, ऋषभ ओषधि आदि।

पुरुष-सूक्त मे लिखा है कि 'अबध्नन् पुरुष पशून्'—अर्थात् ईश्वर को ही पशु मान यज्ञ मे समर्पण किया, ईश्वर के अपने को यज्ञ अथवा बलि करने से ही सृष्टि हुई और ऋषि, देवता आदि ने भी उन्ही की शक्ति की बलि अथवा प्रयोग कर सृष्टि-यज्ञ किया, यही आदि पशु-बलि हुई।

> यदा पिष्ठान्यथलोमानि भवन्ति।
> यदाय आनयति अथ त्वग्भवति।
> यदासयोत्यथ मास भवति। सतत इव हि तर्हि।
> भवति सततमिव हि मास यदाश्रृतोऽथास्थि भवति।
> दारुण इव हि तर्हि भवति। दारुण' मित्थास्थि।
> अथ यदुद्वासयन्नभिधारयति त मज्जान ददाति।
> ऐषो स सम्पद्यदाहु पाक्त पशुरिति।
>
> —शतपथ १।२।३।६

अर्थात् "अन्न का पिसा हुआ आटा ही रोम (बाल) है। जब उस पिसे हुए आटे मे जल मिलाते हैं, तो वह चमड़ा हो जाता है (क्योकि चमडे के समान कोमल होता है) जब वह आटा गूंधा जाता

है। जब वह सेंका जाता है, तब वह अस्थि कहलाता है (क्योंकि अस्थि कड़ी होती है) जब उसमे घी डाला जाता है, तो उसका नाम मज्जा होता है।

पशुर्ह वा एष आलम्भते यत्पुरोडाश । —शतपथ १,२,३,५

अर्थात् "निश्चय ही पुरोडाश (चावल या जौ की पीठी) ही पशु है।"

स यावद्वीयवद्धास्य हविरेव भवति, य एवमेतद्वेदात्रो सा सम्पद्ददाहु पाक्त पशुरिति । --शतपथ १, २, ३, ७

अर्थात् "सब पशुओ के आलम्भन मे जितना फल है, निश्चय रूप स उतना ही हवि, धान और जौ से होता है। पाँचो पशुओ—गौ, अश्व, पुरुष, अज और हवि की श्री इसी हवि मे विद्यमान है।"

ऊपर की पक्तियो से स्पष्ट है कि चावल या जौ की पीठी ही पशु है। अत यज्ञ मे इन्ही का हवन करना चाहिए, न कि मांस द्वारा पशुओ का वध करके ।

ऐसे ही प्रमाण एतरेय ब्राह्मण (२।२।२१) मे भी मिलते हैं—

पशुभ्यो वै मेध उदक्रमहतौ व्रीहि वचेवे यवश्च भूतावर्जयाताम् ।

"पशुओ मे से हवनीय तत्व पृथ्वी मे चला गया, जो चावल और जौ के रूप मे ऊपर आया है।"

ब्राह्मण ग्रन्थ का यह वाक्य पशुओ के बलिदान का स्पष्ट निषेध करता है और चावल तथा जौ के आटे की ही बलि देने का आदेश देता है।

शास्त्रकारो के उपरोक्त वचनो से स्पष्ट है कि पशु-वध, मांसाहार अथवा पशु-बलि आदि के अलङ्कारिक अर्थ हैं, जिन्हे न समझकर प्रत्यक्ष व्यवहार होने लगा, जो सब तरह अन्याय और घोर जघन्य कार्य है।

पुराणो मे भगवती के साथ राक्षसो का जो युद्ध-वर्णन है, उसमें

किया है कि इनके भय से राक्षसों के मांस और रक्त सूख जाते हैं। सम्भवतः इसीलिए कवियों ने यह कल्पना कर ली है कि माता रक्त-मांस खाती है अथवा वह इनके अर्पण से प्रसन्न होती है। यह प्रतीकात्मक वर्णन भले ही हो सकता है। वह प्रत्यक्ष मांस के पूजन विधान से कभी भी प्रसन्न नहीं हो सकती और न ही ऐसे निर्दयी साधक को क्षमा कर सकती है। वह तो विश्व के कण कण में समाई हुई है, कौन-सा ऐसा स्थान है, जहाँ वह नहीं है। कौन-सा प्राणी है जिसमें वह नहीं है।

श्वेताश्वतरोपनिषद् का यही कहना है —

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः॥
—४।३

अर्थात् 'तू स्त्री है, पुरुष भी तू है, तू ही कुमार और कुमारी है, तू बूढ़ा होकर लाठी के सहारे से चलता है और तू ही उत्पन्न होकर सब ओर मुख वाला हो जाता है।"

नीलः पतङ्गो हरितो लोहिताक्ष-
स्तडिद्गर्भ ऋतवः समुद्राः।
अनादिमत्त्वं विभुत्वेन वर्तसे,
यतो जातानि भुवनानि विश्वा॥ —४।४

अर्थात् "तू ही नील पतंग है, हरे रंग का और लोहित वर्ण के नेत्र वाला है, तू मेघ, ऋतु और सात समुद्र है, तुझ से ही सब लोक प्रकट हुए हैं। तू अनादि प्रकृतियों का स्वामी है और सबमें व्याप्त हो रहा है।"

यदि यह सत्य है तो माँ की उपासना के विधान में मांस के प्रत्यक्ष प्रयोग की कभी भी आज्ञा नहीं दी जा सकती। यदि कोई साधक ऐसा करते भी हैं तो वह भगवती के कोप-भाजन ही बनेंगे, क्योंकि वह अवश्य पाप के अपराधी माने जायेंगे।

मत्स्य—

तन्त्रो मे मत्स्य का विधान लिखा है। उसका अनुकल्प है लाल मूली और बैंगन आदि। योगिनी तन्त्र के अनुसार—

मास मत्स्यन्तु सर्वेषा ,लवणाद्रकमीरितम्।

अर्थात् "सबका मांस, मत्स्य (मछली) और लवण आदिक कहा गया है।"

कुलार्णव तन्त्र मे भी जहाँ मत्स्य का विधान है, वहाँ बैंगन, मूली या या पानीफल अर्पित करने का विधान है। श्री एम० पी० पण्डित ने मत्स्य का प्रतीकात्मक रूप इस प्रकार लिखा है—"ममत्व की भावना मत्-स्य, स्वय से तादात्म्य जिसके फलस्वरूप विश्व के सुख-दुःख दोनो ही समान भोग्य हो जाते हैं।"

मत्स्य और उसका सेवन करने वाले सच्चे मत्स्य-साधक के शास्त्रो मे इस प्रकार लक्षण दिए गए हैं—

मानसादीन्द्रियगण मयाम्यात्मानि योजयेत्।
समीनाशी भवेद् देवि इतरे प्राण हिंसका ॥

"मन आदि सारी इन्द्रियो को वश मे करके आत्मा लगाने वाले को ही मीनाशी कहते हैं। दूसरे तो जीव हिंसक हैं।"

अहकारो दम्भो यदपि शुनतामत्सरद्विप'।
षडेतान्मीनान् वै विषयहर जालेन विघृतान् ॥
पचन् सद्विद्याऽग्नौ नियमित कृतिर्धीवरकृति.।
सदा खादेत्सर्वान्न च जलचराणा षु पिशितुम्॥

—तन्त्र तत्व प्रकाश

"अहकार, दम्भ, मद, पिशुनता, मत्सर, द्वेष—ये छ मछलियाँ हैं। इनको धीमर की तरह विषय-विराग रूपी जाल में पकडे। उनको सद्विद्या रूपी अग्नि पर पकाकर नियमपूर्वक काम में लाता रहे। इसके

अतिरिक्त जल मे रहने वाली मछलियो को खाना तो सर्वथा धर्म विरुद्ध पापकर्म है।"

यत्समान सर्वभूते सुख दुख मिद प्रिये।
इति यत्सात्त्विक दान तन्मत्स्य परिकीर्तित ॥

'सब प्रकार के सुख-दुखो मे मेरी ही भाँति समभाव रखना चाहिए। यह सात्विक ज्ञान ही मत्स्य है।"

गगायमुनोर्मध्ये मत्स्यौ द्वौचरत सदा।
तौ मत्स्यौ भक्षयेद् यस्तु स भवेन्मत्स्य साधक ॥

"गगा-यमुना के भीतर सदा ही दो मत्स्य विचरण करते रहते हैं। जो व्यक्ति उन दोनो का भक्षण करता है, उसका नाम मत्स्य-साधक है। गगा-यमुना से आशय है मानव शरीरस्थ इडा और पिंगला नाडी का। उनमे निरन्तर बहने वाले श्वास प्रश्वास ही दो मत्स्य हैं। जो व्यक्ति प्राणायाम द्वारा इन श्वास-प्रश्वास को रोककर कुम्भक करते हैं, वे ही यथार्थ मत्स्य-साधक है।"

मनसा चेन्द्रियगण सयम्यात्मनि योजयेत्।
मत्स्याशी स भवेद्देवि शेषा स्यु प्राणि हिंसका ॥

अर्थात् "अपनी समस्त इन्द्रियो के समुदाय का भलीभाँति सयम करके मन से खूब नियन्त्रित करके फिर आत्मा मे योजित करना चाहिए। हे देवि! यह मत्याशी होता है। शेष अन्य प्राणियो के हिंसक ही होते हैं।"

उपरोक्त उदाहरणो से स्पष्ट है कि इन्द्रियो का वशीकरण, दोषो तथा दुर्गुणों का त्याग, साम्यभाव की सिद्धि और योग-साधना मे रत रहना ही मत्स्य का ग्रहण करना है। इस साकेतिक भाषा को न समझ कर प्रत्यक्ष मत्स्य के द्वारा पूजन करना अर्थ का अनर्थ होगा और साधना-क्षेत्र मे एक कुप्रवृत्ति को बढ़ावा देना होगा।

'मत्स्य' शब्द बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इसके नाम से एक अलग पुराण की रचना की गई है। मत्स्य पुराण में सृष्टि-रचना के अन्य कारणों के साथ एक कारण मत्स्य को भी बताया गया है। वहाँ मत्स्य का अभिप्राय एक प्रकार का प्राण है, जो जगत के बीच में केन्द्रित हो जाता है और त्रिपुवत रेखा से उत्तर ध्रुव और दक्षिण ध्रुव तक भ्रमण करता रहता है। इसी क्रिया को भौतिक सृष्टि के उत्पन्न होने का कारण बताया गया है।

मत्स्य पुराण में मत्स्य को भगवान का रूप दिया गया है। भगवान विष्णु स्वयं मत्स्य का रूप धारण करते हैं और राजर्षि सत्यव्रत को आगामी प्रलय के प्रति सावधान करते हैं। उन्हें वे बचाते भी हैं। यहाँ सत्यव्रत से अभिप्राय वैवस्वत मनु से है, जो जगत् के मूल बीजों को सुरक्षित रखने के लिए तप का व्रत लेते हैं। मत्स्य रूप भगवान ने मनु की परीक्षा ली। उन्होंने एक महान् कार्य-भार अपने कन्धों पर लिया था, अतः उन्हें अहङ्कार का महारोग न हो जाए उन्हें सावधान किया। पहले वह एक मत्स्य के रूप में प्रस्तुत हुए, बड़े होते गये—इतने बड़े हो गये कि समुद्र में भी नहीं समा पाए। तब मनु का अहङ्कार तिरोहित हो गया और वह समझ गए कि यह भगवान का ही प्रतिरूप मत्स्य है। भगवान विष्णु ने मत्स्य रूप में अवतार लिया। इस पवित्रतम् रूप का उसे श्रेय दिया गया, उस पवित्र रूप की हम पूजा-उपासना करते हैं। उसे काटकर खाना एक ऐसा अपराध होगा, जिसे भगवान कभी क्षमा नहीं करेंगे।

पुराणों में विष्णु के मत्स्य रूप ग्रहण करने का आधार कुछ विद्वान यह मानते हैं कि ऋग्वेद में इन्द्र को जल में निवास करने वाला महामत्स्य बताया गया है। विष्णु को उपेन्द्र—छोटा इन्द्र, इन्द्र का सखा आदि की उपाधि तो वेद में दी ही गई है। अतः सम्भव है इस रूप का अवतरण ऐसे ही हुआ हो। इन्द्र वेद में परमात्मा का वाचक नाम है। अतः मत्स्य को ईश्वरीय विभूति ही स्थापित किया गया है।

अन्य देशो मे भी यह पवित्रता की प्रतीक थी। मिस्र मे माता 'आइसिस' की जो मूर्तियाँ उपलब्ध होती हैं, उनके सिर पर 'मत्स्य' की स्थापना दृष्टिगोचर होती है। इसे वह विश्व की पिता-शक्ति का प्रतीक मानते थे। इसी कारण से प्राचीनकाल मे वहाँ मन्दिरो मे विधान बनाया गया था कि वहाँ के पुजारी मत्स्य को आहार रूप मे न खा सकेंगे।

Myths of Babylon and Assyria पुस्तक मे लिखा है कि सुमेरी सभ्यता मे एरिदु नगर का 'या' देवता माना जाता था। इस 'या' देवता का रूप मत्स्य जैसा था। इससे स्पष्ट है कि सुमेर मे प्राचीन काल मे मत्स्य रूपी देवता की पूजा होती थी।

इससे मत्स्य पवित्रता का ही प्रतीक सिद्ध होता है। इसको इसी रूप मे ग्रहण करना उपयुक्त है।

मुद्रा—

मुद्रा के माहात्म्य का वर्णन करते हुए कुलार्णव तन्त्र मे कहा गया है--

इत्यादि पञ्चमुद्राणा वासना कुलनायिके।
ज्ञात्वा गुरुमुखाद्देवि य सेवेत स विमुच्यते॥

"हे कुलनायिके! हे देवि! ये उपर्युक्त पच मुद्राओ की वासना को गुरु के मुख से समझकर और ज्ञान प्राप्त करके जो सेवन किया करता है, वह मुक्ति की प्राप्ति किया करता है।"

मुद्रा का अनुकल्प है चावल, धान। योगिनी तन्त्र मे कहा है--

भ्रष्टधान्यादिक यद्यच्चर्वणीय प्रचक्षते सा मुद्रा।

"भ्रष्ट धान्यादि अर्थात् जो भुने हुए चर्वणीय द्रव्य हैं, उन्ही को मुद्रा कहते हैं।"

कुलार्णव तन्त्र मे चावल, गेहूँ अथवा धान को ही मुद्रा के स्थान पर चढाने के लिए आदेश दिया गया है।

मुद्रा का दिव्य रूप है—बुराइयों का त्याग। ज्ञान की ज्योति से अपने अन्तर को जगमगाने वाला ही मुद्रा-साधक कहा जाता है। शास्त्रों के अभिवचन भी यही सिद्ध करते—

आशा तृष्णा महामुद्रा ब्रह्माग्नौ परिपाचिता।
अृपय.ऽश्निन्त नियत चतुर्थी सैव कीर्तिता॥

—कैलाश तन्त्र ८० पटल

अर्थात् "आशा और तृष्णा महामुद्रा हैं, जो ब्रह्म की अग्नि में परिपाचित होती हैं। ऋषिगण नियत रूप से इनका अशन कर जाते हैं, वही चतुर्थी कही गई है।"

सहस्रारे महापद्मे कर्णिकामुद्रितश्चरेत्।
आत्मा तत्रैव देवेशि केवल· पारदोपम॥
सूर्यकोटि प्रतीकाश. चन्द्रकोटि सुशीतल।
अतीव कमनीयश्च महाकुण्डलिनी युत॥
यस्य ज्ञानोदय स्तत्र मुद्रासाधक उच्यते।

—आगम सार

"हे देवेशि! महापद्म में मुद्रित कर्णिका के अन्दर पारद की भाँति आत्मा का निवास है। यद्यपि उसका तेज करोड़ों सूर्यों के समान है, परन्तु स्निग्धता में वह करोड़ों चन्द्रमाओं के तुल्य है। यह परम पदार्थ अतिशय मनोहर तथा कुण्डलिनी शक्ति समन्वित है। जिसके अन्तर में यह ज्ञान उदय हो जाता है, वही यथार्थ मुद्रा साधक है।"

आशातृष्णाजुगुप्साभय विशदघृणामान लज्जा प्रकोपा।
ब्रह्माग्नवष्ट मुद्रा परसुकृतिजन· पच्यमाना समन्तात्॥
नित्य समक्षयेत्तानवहितमनसा दिव्यभावानुरागी।
योऽसौ ब्रह्माडभाडे पशुहति विमुखो रुद्रतुल्यो महात्मा॥

—तन्त्र तत्व प्रकाश

"आशा, तृष्णा, जुगुप्सा, भय, घृणा, घमण्ड, लज्जा, कोप ये

आठ कष्टदायक मुद्राएँ है। सत्कर्म मे निरत पुरुषो को इन्हे ब्रह्मरूप अग्नि मे पका डालना चाहिए। दिव्य भावानुरागी सज्जनो को सदैव इनका सेवन करके सार ग्रहण करना चाहिए। ऐसे पशु-हत्या मे विरत साधक ही पृथ्वी पर शिव के तुल्य माननीय पदवी प्राप्त करते है।"

सत्सगेन भवोन्मुक्तिरसत्सगेपु बन्धनम् ।
असत्सग मुद्गुणे यत् तन्मुद्र परिकीर्तितम् ॥

—विजय तन्त्र

"सत्सग मुक्ति प्राप्त होती है और असत्सग से बन्धन होता है। अतएव असत्सग त्यागने का नाम मुद्रा है।"

मन्त्रार्थं मन्त्रचैतन्य योनिमुद्रा न वेत्ति य ।
शतकोटिजपेनाऽपि तस्य सिद्धिर्न जायते ॥

—मन्त्र मुक्तावली

अर्थात् "मन्त्र का अर्थ और मन्त्र-चैतन्य की योनि मुद्रा जो पुरुष नही जानता है, वह चाहे सौ करोड भी जप क्यो न करे उसको कदापि सिद्धि नही होती है।"

मुद्रा शब्द 'मुद्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है प्रसन्न करना। उपासना मे इसका नामकरण इसलिए किया गया है क्योकि इससे देवताओ को प्रसन्नता होती है।

देवानाम मोऽदा मुद्रा।

और भी—

मुद कुर्वन्ति देवाना मनासि द्रावयन्ति च।
तस्मान्मुद्रा इति ख्याता दर्शितव्या कुलेश्वरि ॥

—कुलार्णव तन्त्र

"हे कुलेश्वरि ! देवताओ का मुद अर्थात् आनन्द उत्पन्न करने से और उनके मन को उपासक के प्रति द्रवित कर देने से मुद्रा—यह नाम पडा है, जो कि अवश्य ही देवो को दिखानी चाहिए।"

उपासनाकाल में आन्तरिक भावो को व्यक्त करने के लिए बाह्य शरीर की जो विशेष भगिमाए हैं, उन्हे मुद्रा कहते हैं। यह उपासक के आतरिक भावो की भाषा है, जिसके माध्यम से वह अपने इष्ट देवता से वार्तालाप करता है, क्योंकि बाह्य रूप से उसके शरीर के अवयवो का सचालन होता है, वह उसके हृदय और मन का प्रतीक माना जाता है। हाथो और अंगुलियो की सहायता से बनाई गई यह भगिमाए जब बार-बार उसी रूप मे बनाई जाती हैं, तो वह आतरिक भावो का रूप ही बन जाती हैं। ऐसा लगता है जैसे सूक्ष्म ही स्थूल आकार मे साकार हो गया है और दोनो मे कोई अन्तर नही है।

मुद्राओ की सख्या १०८ है। आवाहन, विसर्जन, अर्घ्य आदि उपासना के सभी अ गो के लिए मुद्राओ का विधान है। आवाहन के लिए आवाहन मुद्रा, अर्घ्य के लिए मत्स्य मुद्रा, किसी वस्तु को ढकने के लिए अवगु ठन मुद्रा। योनि मुद्रा से भगवती को आकर उपासक के सामने बैठने का निवेदन किया जाता है।

मुद्राओ का प्रयोग काम्य कर्म, प्रतिष्ठा, स्नान, आवाहन, नैवेद्य, अर्पण और विसर्जन के साथ किया जाता है।

'नित्मोत्सव' मे मुद्राओ के विभिन्न प्रकारो का विवेचन इस प्रकार किया गया है—

श्री गुरुवन्दन मुद्रा—सुमुख, सुवृत, चतुरस्त, मुद्गर -यानि ये गुरु-वन्दना की मुद्राए होती हैं, जिसमे विकसित कल्प होकर उत्तान अञ्जलि होती है, वही सुमुख मुद्रा है। यही मुष्टीकृत हो, तो सुवृत्त हो जाती है। दक्ष-वाम करतलो को ऊर्ध्वाध स्थित कर अंगुलियो का मणिबन्ध के साथ सम्बन्ध करने पर चतुरस्त होती है। अधरोत्तर वाम मुष्टियो को स्वाभिमुख्य मे योजन करने पर मुद्गर होती है। अग्रागुलियो का तिरछी मिलाकर मध्यमागुलियो के पीछे ऊपर-नीचे वाम दक्षानामिकाओ के निरद्धे होने पर तर्जनियो मे निपीडित कर वाम कनिष्ठिका को

दक्षिण से पकड़ कर दोनों अंगूठों के अग्र भागों [वो मध्यमा से आगे मध्य पर्वद्वय से सम्पन्न करने पर योनि मुद्रा बनती है। अन्य मुद्राओं के नाम इस प्रकार हैं—

अर्घ्य स्थापन मुद्रा—मत्स्य, अस्त्र, अवगुंठन, धेनु, योनि और गलिनी मुद्राएँ अर्घ्यस्थापन में आती हैं। विस्तार अधिक हो जाने के कारण इन सबके बनाने की विधि यहाँ नहीं लिखी जाती है। वस्तुतः मुद्राओं का ज्ञान गुरु से प्राप्त कर अभ्यास कर लेना चाहिए। तभी साधक सिद्ध ज्ञान भी होगा।

अर्चन मुद्रा—आवाहनी, संस्थापनी, सन्निधापनी, सन्निरोधनी, सम्मुखीकरणी, अवगुंठनी, वन्दन, धेनु, योनि, तत्वमुद्रा, ज्ञानमुद्रा—ये अर्चना में आती हैं।

सर्वसंक्षोभिणी—सर्वविद्राविणी, सर्वाकर्षणी, सर्वेश्वरी, सर्वोन्मादिनी, सर्वमहांकुश, सर्वश्वेश्वरी, सर्वबीजम्, सर्वत्रिखण्डा, प्राणमुद्रा, अपान, व्यान, उदान, समान, नाराच, चक्रम्— भी मुद्राएँ होती हैं। मुख, करसम्पुट, षडङ्ग मुद्राएं हैं। शक्त्युत्थापिनी, पाश, अंकुश, चाप, बाण मुद्राएँ भी हैं। ये पचास मुद्राएँ हैं। इनके प्रकार का भेद भी अन्य तन्त्रों में पाया जाता है।

मन्त्र कौमुदी के अनुसार—

'भगवान श्री रामचन्द्र की ज्ञानमुद्रा है, जिसमें शर के सहित धनुष है। श्रीवत्स और कौस्तुभ वाली गारुडी मुद्रा है और दूसरी मोहनी है। नारसिंही, वाराही, हयग्रीवी और उसकी प्रिया काममुद्रा—ये सभी विष्णु भगवान की मुद्राएं कही गई हैं।

त्रिशूल नाम की, लिंग योनी, वराभीति, मृगात्मिका, खट्वांगा, कपाला और डमरू—ये शिव की मुद्रायें होती हैं। सूर्य की पद्मा नाम वाली एक ही मुद्रा होती है। क्रम से दन्त विघ्न, पाश, अंकुश, परशु, लड्डू और बीजपूर ये गणपति की मुद्राएँ होती हैं। पाश, अंकुश,

वराभीति और खड्ग—ये दुर्गा की मुद्राएँ हैं। धनुष, शर, वर्तिका और मौसली से दुर्गा की मुद्राएं होती हैं और लक्ष्मी की मुद्रा उसका अर्चन ही है।

शास्त्रों में यौगिक मुद्राओं का वर्णन भी आता है। शिव संहिता में १० मुद्राओं की चर्चा है—

महामुद्रा महाबंधो महावेधश्च खेचरी।
उड्यान मूलबंधश्च बंधो जालंधराभिधः॥
करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम्।
इदं हि मुद्रा दशकं जरामरणनाशनम्॥

अर्थात् "महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, उड्यान, मूलबन्ध, जालन्धर बंध, विपरीत करणी, वज्रोली और शक्ति चालन—ये १० मुद्राएं जरा और मृत्यु को नष्ट करने वाली हैं।"

घेरण्ड संहिता के अनुसार मुद्राएँ २५ प्रकार की हैं—

महामुद्रा नभोमुद्रा उड्यानं जलंधरम्।
मूलबंधो महाबंधो महावेधश्चखेचरी॥
विपरीतकरी योनिर्वज्रोली शक्तिचालिनी।
ताडागी माण्डुकी मुद्रा शाम्भवी पंचधारणा॥
अश्विनी पाशिनी काकी मातंगी च भुजंगिनी।
पंचविंशति मुद्राणि सिद्धदानीह योगिनाम्॥

अर्थात् "महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्यान, जालंधर, मूलबंध, महाबंध, महावेध, खेचरी, विपरीतकरणी, योनि, वज्रोली, शक्तिचालनी, ताडागी, माण्डुकी, शाम्भवी, पार्थिवी, आम्भसी, वैश्वानरी, वायवी, आकाशी, अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातंगी और भुजंगिनी—ये २५ मुद्राएँ योगियों को सिद्धि प्रदान करने वाली हैं।"

मुद्राओं का उद्देश्य शरीर को हठ करके प्राणवायु को अंग विशेष में स्थिर करना है, जिससे मन धारणा की भावना के उपयुक्त

जाता है। इनसे लौकिक व पारलौकिक सभी प्रकार के लाभ प्राप्त होते हैं।

महामुद्रा से अहङ्कार, अविद्या, भय, द्वेष, मोह आदि के पञ्च क्लेशदायक विकारों का शमन होता है। भगन्दर, बवासीर, संग्रहणी, प्रमेह आदि रोग दूर होते हैं। शरीर का तेज बढता है और वृद्धावस्था दूर हटती जाती है। महाबन्ध के लाभ भी महामुद्रा की तरह ही है। इसके अतिरिक्त चक्रभेदन का मार्ग इससे प्रशस्त हो जाता है और कुण्डलिनी जागरण मे सहायता मिलती है। महावेध के लाभ हैं-- जठराग्नि की तीव्रता, बालों का जल्दी सफेद न होना, शरीर पर झुरियाँ न पडना, प्राण का सूक्ष्म होकर सुषुम्णा में गमन आदि।

खेचरी मुद्रा से कपाल गह्वर में होकर प्राण शक्ति का सचार होने लगता है और सहस्रदल कमल मे अवस्थित अमृत-निर्झर झरने लगता है, जिसके आस्वादन से एक बडा ही दिव्य आनन्द आता है। प्राण की ऊर्ध्वगति हो जाने से मृत्यु काल में जीव ब्रह्म-रन्ध्र में होकर ही प्रयाण करता है, इसलिए उसे मुक्ति या स्वर्ग की सद्गति प्राप्त होती है। गुदा आदि अधोमार्गों से जिनका प्राण जिनका प्राण निकलता है, वह नरकगामी तथा मुख, नाक, कान से प्राण छोडने वाला मृत्युलोक मे भ्रमण करता है। किन्तु जिसका जीव ब्रह्मरन्ध्र मे होकर जायगा, वह अवश्य ही सद्गति को प्राप्त करेगा। खेचरी मुद्रा द्वारा ब्रह्माण्ड स्थित शेषशायी सहस्रदल निवासी परमात्मा से साक्षात्कार होता है। यह मुद्रा बडी ही महत्वपूर्ण है।

विपरीतकरणी द्वारा ऋण प्राण और धन प्राण का एकीकरण होता है, जिससे मस्तिष्क को बल मिलता है। इसके लाभ हैं--शरीर की स्वस्थता, बालों का शीघ्र श्वेत न होना, जठराग्नि का बढना आदि।

वज्रोली मुद्रा से वीर्य और मूत्र सम्बन्धी दोष दूर होते हैं। प्रमेह और स्वप्नदोष आदि रोग भी नही होते। इसका उद्देश्य ब्रह्मचर्य रक्षा है।

शरीरशान्तिनी मुद्रा से शरीरमे आलस्य और प्रमाद का नाश होकर प्राणो मे सक्रियता आती है, जो कुण्डलिनी जागरण के लिए आवश्यक है।

योनि मुद्रा मे प्राण और अपान के मिलने की प्रक्रिया सफल होती है, जो कुण्डलिनी जागरण का पूर्वक्रम है।

शाम्भवी मुद्रा के साधक को साक्षात् ब्रह्मस्वरूप कहा गया है। इसमे मन और बुद्धि मे शान्ति उत्पन्न होती है। मनोलय के लक्षण इसमे दिखाई देने लगते है जिससे आनन्द की वृद्धि होती है।

काकी मुद्रा से नेत्र शक्ति बढती है, पित्त की शान्ति होती है, अम्ल और पित्त के विकारो का शमन होता है, दिव्य-ज्योति के दर्शन होते हैं।

अश्विनी मुद्रा से दिव्य-ज्योति का प्रकाश, मूलाधार चक्र की शुद्धि, प्राणो मे सक्रियता, कुण्डलिनी का जागरण के लाभ प्राप्त होते हैं।

मातङ्गिनी मुद्रा से सिर, नेत्र, गले और फेफडो के रोगो मे लाभ होता है। बाल शीघ्र सफेद नही होते, मुख पर अपूर्व चमक आती है। ब्रह्मरन्ध्र मे शान्ति और आनन्द का उदय होता है।

यहाँ कुछ प्रधान मुद्राओ के लाभ वर्णित किए हैं। यह मुद्राएँ तन्त्र साधना का अग हैं। इनमे शारीरिक और आत्मिक दोनो प्रकार के लाभ लाभ प्राप्त होते हैं।

मैथुन—

मैथुन का अनुकल्प है—उपयुक्त विधि से पुष्पो का समर्पण।

तन्त्र मे 'लता-साधना' को बहुत कलङ्कित किया गया है। इसमे प्रत्यक्ष मैथुन का विधान बताया गया है। वास्तविकता यह है कि तन्त्र मे पारिभाषिक शब्द होते हैं। उनके अर्थो को न समझने से भ्रम फैलता

है । इमी से तन्त्र मे तथाकथित गन्दगी का प्रवेश हुआ है । महानिर्वाण तन्त्र मे एक गन्दा श्लोक मिलता है—

मातृ-योनौ क्षिपेत् लिङ्ग भगिन्या स्तनमर्दनम् ।
गुरोर्मूर्ध्नि पद दत्त्वा पुनर्जन्म न विद्यते ॥

इसकी व्याख्या श्री एम० पी० पडित ने इस प्रकार की है--

इस पद का शाब्दिक अर्थ स्पष्ट ही है पर वह इसका वास्तविक अर्थ नही है । प्रथम पक्ति का पूर्वार्द्ध--जीवात्मा को स्वयम्भू लिंग से युक्त मूलाधार केन्द्र की त्रिभुजाकार योनि मे प्रतिष्ठित करने की ओर सकेत करता है । इसी त्रिभुज को मातृयोनि कहा जाता है । जीवात्मा ही लिंग है । इसी स्थल से कुण्डलिनी के साथ योग होने पर जीवात्मा को ऊपर की ओर ले जाना होता है । जीवात्मा से कुण्डलिनी के योग को पहली पक्ति के उत्तरार्ध में कहा गया है । कुण्डलिनी जीवात्मा की बहिन है और दोनो एक ही शरीर मे हैं । द्वितीय चरण का अर्थ है—कुण्डलिनी और जीवात्मा के मिलने के बाद दोनो सयुक्त रूप से शीर्षस्थ सहस्रार की ओर जाते है, जो कि गुरु के निवास स्थान द्वादश दलो वाले कमल के ऊपर स्थित है । जब योगी द्वादशदलीय कमल के ऊपर चला जाता है, तो उसके चरणो को गुरु के सिर पर अवस्थित कहा जाता है । इस स्तर पर यह कहा जाता है कि यहाँ गुरु और शिष्य के सम्बन्ध समाप्त हो जाते हैं । मातृयोनि नाम उँगलियो के उन भागो का भी है जिन पर जप की गिनती या मन्त्रोच्चारण नही करना चाहिए ।

तन्त्र-शास्त्रो मे जिस मैथुन की ओर सकेत किया है, वह इस प्रकार है--

सहस्रारोपरिबिन्दौ कुण्डल्या मेलन शिवे ।
मैथुन शयन दिव्य यतीना परिकीर्तितम् ॥

--योगिनी तन्त्र

"हे शिवे ! सहस्रदश पद्मोपरि बिन्दु मे जो कुल कुण्डलिनी का मिलन है, वही यतियों का परम मैथुन कहा गया गया है ।"

मैथुन का अर्थ है मिलाना। साधारण भाषा मे स्त्री और पुरुष के मिलन को मैथुन कहते हैं परन्तु तन्त्र की पारिभाषिक भाषा मे मैथुन का अभिप्राय हाड-मांस वाले स्त्री-पुरुष का नहीं है। स्त्री मे अभिप्राय कुंडलिनी शक्ति से है, जो हमारे अन्दर सोई हुई है। इसका स्थान मूलाधार है। सहस्रार मे शिव का स्थान है। इस शिव और शक्ति का मिलन ही वास्तविक मिलन अथवा मैथुन है। योग की भाषा में सुपुम्णा का प्राण मे मिलन ही 'मैथुन' कहा जाता है। शास्त्र का वचन है।

परशक्त्यात्म मिथुन—सयोगानन्दनिर्गरा ।
मुक्तात्म मिथुन तत् स्त्यादितरस्त्रीनिवेषका ॥

—तन्त्रसार

अर्थ—"परा-शक्ति के साथ आत्मा के विलास-रस मे निमग्न रहना ही मुक्त आत्माओ का मैथुन है। यहाँ किसी स्त्री इत्यादि का ग्रहण नहीं।"

ईडापिङ्गलयो प्राणान् सुपुम्नाया प्रवर्तयेत् ।
सुपुम्नाशक्तिसुद्दिष्टा जीवोऽय तु पर शिव ।
तयोस्तु सगमे देवै सुरत नाम कीर्तितम् ॥

अर्थात् "इडा और पिगला से प्राणो को सुपुम्ना में प्रवृत्त करना चाहिए। सुपुम्ना की शक्ति उद्दिष्ट है। यह जीव तो फिर परम शिव है। देवो ने इन दोनो के सङ्गम मे सुख को बतलाया है।"

यानाडी सूक्ष्मरूपा परम पदगता सेवनीया सुपुम्णा ।
सा कान्तालिगनासी न मनुज रमणी सुन्दरी वारयोवित् ॥
कुर्याच्चन्द्रार्कयोगे युगपवन गत मैथुन नैव योनो ।
योगीन्द्रो विश्ववन्द्य सुखमय भवने ता परित्यज्य नित्यम् ।

—भैरव यामल

"परमानन्द को प्राप्त हुई सूक्ष्म रूप वाली सुपम्णा नाडी है, वही आलिगन करने योग्य सेवनीय कान्ता है, न कि मानवी सुन्दरी वेश्या।

सुषुम्णा के सहस्रचक्र के अन्तर्गत परम ब्रह्म के साथ सयोग होने का नाम ही मैथुन है, स्त्री-सभोग का नही। विश्ववन्द्य योगीजन सुखमय वनस्थली आदि मे ऐसे ही सयोग का परमानन्द प्राप्त किया करते हैं।"

रेफस्तु कुकुमाभास कुण्डमध्ये व्यवस्थित ।
मकारश्च बिन्दु रूप महायोनौ स्थित प्रिये ।।
अकारहसमारुह्य शक्ता च महाभवेत् ।
तदा जातो महानन्दो ब्रह्मज्ञान सुदुर्लभम् ।।

"रेफ कुकुम वर्ण कुड के भीतर रहता है। बिन्दुरूप महायोनि मे रहता है, आकाररूपी हस का आश्रय लेने पर जब उन दोनो का एकत्व हो जाता है तभी सुदुर्लभ ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होती है। ऐसे साधक ही सच्चे मैथुन माधक कहे जाते हैं।"

उपरोक्त प्रमाणो से स्पष्ट है कि तन्त्र मे जहां मैथुन शब्द आया है, वहां उच्च भावनाओ का उद्रेक है, कही भी निम्न भावनाओ का लेशमात्र भी प्रवेश नही है। इसकी आलोचना का कारण तन्त्र-ज्ञान का अभाव ही है।

यह पांच मकारो का रहस्य है। तन्त्र मे जहां जहां भी मद्य, मांस, मीन, मुद्रा और मैथुन शब्द आए हैं, वहां उनका अलङ्कारिक वर्णन ही किया गया है, उसे न समझकर भोगवादियो ने अपने मानसिक स्तर के अनुरूप उनके अर्थ निकालकर उनका प्रत्यक्ष व्यवहार आरम्भ कर दिया, जिससे कि जनसाधारण मे तन्त्र की उपेक्षा होने लगी और वह निम्नकोटि के विषयलोलुप वर्ग तक ही सीमित रह गए। वास्तव मे तत्र बहुत उच्च स्तर के ग्रन्थ हैं। पचमकारो से उनको बदनाम करना ठीक नही हैं। उनके अलङ्कारिक रहस्यो को समझना अभीष्ट है।

• • •

दीक्षा की अनिवार्यता

मानव-विकास मे गुरु की परम आवश्यकता—

मनुष्य की यह कमजोरी कि वह दूसरो से ही सब कुछ सीखता है, उसके उच्च विकास मे बाधक होती है। कारण कि साधारण वातावरण मे भले तत्वो की अपेक्षा बुरे तत्व अधिक होते हैं। उन बुरे तत्वो मे ऐसा आकर्षण होता है कि कच्चे दिमाग उनकी ओर बडी आसानी से खिच जाते है। फलस्वरूप वह बुराइयाँ अधिक सीख लेने के कारण आगे चलकर बुरे मनुष्य साबित होते हैं। छोटी आयु में यह पता नही चलता कि बालक किन सस्कारो को अपनी मनोभूमि मे जमा रहा है। बडा होने पर जब वे सस्कार एव स्वभाव प्रकट होते हैं, तब उन्हे हटाना कठिन हो जाता है, क्योंकि दीर्घकाल तक वे सस्कार बालक के मन मे जमे रहने एव पकते रहने के कारण ऐसे सुदृढ हो जाते है कि उनका हटाना कठिन होता है।

ऋषियो ने इस भारी कठिनाई को देखकर एक अत्यन्त ही सुन्दर और महत्वपूर्ण उपाय यह निश्चित किया कि प्रत्येक बालक पर माँ-बाप के अतिरिक्त किसी ऐसे व्यक्ति का भी नियन्त्रण रहना चाहिए, जो मनोविज्ञान की सूक्ष्मताओ को समझता हो। दूरदर्शी, तत्वज्ञानी और पारदर्शी होने के कारण बालक के मन मे जमते रहने वाले सस्कार बीजो को अपनी पैनी दृष्टि से तत्काल देख लेने और उनमे आवश्यक सुधार करने की योग्यता रखता हो। ऐसे मानसिक नियन्त्रणकर्त्ता की

सुषुम्णा के सहस्रचक्र के अन्तर्गत परम ब्रह्म के साथ सयोग होने का नाम ही मैथुन है, स्त्री-सभोग का नही। विश्ववन्द्य योगीजन सुखमय वन-स्थली आदि मे ऐसे ही सयोग का परमानन्द प्राप्त किया करते हैं।"

रेफस्तु कुकुमाभास कुण्डमध्ये व्यवस्थित ।
मकारश्च बिन्दु रूप महायोनौ स्थित प्रिये ।।
अकारहसमारुह्य शक्ता च महाभवेत् ।
तदा जातो महानन्दो ब्रह्मज्ञान सुदुर्लभम् ।।

"रेफ कुकुम वर्ण कुड के भीतर रहता है। बिन्दुरूप महायोनि मे रहता है, आकाररूपी हस का आश्रय लेने पर जब उन दोनो का एकत्व हो जाता है तभी सुदुर्लभ ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होती है। ऐसे साधक ही सच्चे मैथुन साधक कहे जाते हैं।"

उपरोक्त प्रमाणो से स्पष्ट है कि तन्त्र मे जहाँ मैथुन शब्द आया है, वहाँ उच्च भावनाओ का उद्रेक है, कही भी निम्न भावनाओ का लेशमात्र भी प्रवेश नही है। इसकी आलोचना का कारण तन्त्र-ज्ञान का अभाव ही है।

यह पाँच मकारो का रहस्य है। तन्त्र मे जहाँ-जहाँ भी मद्य, माँस, मीन, मुद्रा और मैथुन शब्द आए हैं, वहाँ उनका अलङ्कारिक वर्णन ही किया गया है, उसे न समझकर भोगवादियो ने अपने मानसिक स्तर के अनुरूप उनके अर्थ निकालकर उनका प्रत्यक्ष व्यवहार आरम्भ कर दिया, जिससे कि जनसाधारण मे तन्त्र की उपेक्षा होने लगी और वह निम्नकोटि के विषयलोलुप वर्ग तक ही सीमित रह गए। वास्तव मे तन्त्र बहुत उच्च स्तर के ग्रन्थ हैं। पचमकारो से उनको बदनाम करना ठीक नही हैं। उनके अलङ्कारिक रहस्यो को समझना अभीष्ट है।

• • •

दीक्षा की अनिवार्यता

मानव-विकास में गुरु की परम आवश्यकता—

मनुष्य की यह कमजोरी कि वह दूसरों से ही सब कुछ सीखता है उसके उच्च विकास में बाधक होती है। कारण कि साधारण वातावरण में भले तत्त्वों की अपेक्षा बुरे तत्त्व अधिक होते हैं। उन बुरे तत्त्वों में ऐसा आकर्षण होता है कि कच्चे दिमाग उनकी ओर बड़ी आसानी से खिंच जाते हैं। फलस्वरूप वह बुराइयाँ अधिक सीख लेने के कारण आगे चलकर बुरे मनुष्य साबित होते हैं। छोटी आयु में यह पता नहीं चलता कि बालक किन संस्कारों को अपनी मनोभूमि में जमा रहा है। बड़ा होने पर जब वे संस्कार एवं स्वभाव प्रकट होते हैं, तब उन्हें हटाना कठिन हो जाता है, क्योंकि दीर्घकाल तक वे संस्कार बालक के मन में जमे रहने एवं पकते रहने के कारण ऐसे सुदृढ़ हो जाते हैं कि उनका हटाना कठिन होता है।

ऋषियों ने इस भारी कठिनाई को देखकर एक अत्यन्त ही सुन्दर और महत्त्वपूर्ण उपाय यह निश्चित किया कि प्रत्येक बालक पर माँ-बाप के अतिरिक्त किसी ऐसे व्यक्ति का भी नियन्त्रण रहना चाहिए, जो मनोविज्ञान की सूक्ष्मताओं को समझता हो। दूरदर्शी, तत्त्वज्ञानी और पारदर्शी होने के कारण बालक के मन में जमते रहने वाले संस्कार बीजों को अपनी पैनी दृष्टि से तत्काल देख लेने और उनमें आवश्यक सुधार करने की योग्यता रखता हो। ऐसे मानसिक नियन्त्रणकर्त्ता की उपस्थिति प्रत्येक बालक के लिए आवश्यक घोषित की।

शास्त्रो मे कहा गया है कि मनुष्य के तीन प्रत्यक्ष देव हैं—(१) माता, (२) पिता, (३) गुरु। इन्हे ब्रह्मा, विष्णु, महेश की उपाधि दी है। माता जन्म देती है, इसलिए ब्रह्मा है। पिता पालन करता है, इसलिए विष्णु है। गुरु कुसस्कारो का सहार करता है, इसलिए शकर है। गुरु का स्थान माता-पिता के समकक्ष है। कोई यह कहे कि मैं बिना माता-पिता के पैदा हुआ हुआ, तो उसे झूठा कहा जायगा, क्योकि माता के गर्भ मे रहे बिना कोई किस प्रकार जन्म ले सकता है? इसी प्रकार कोई यह कहे कि 'मैं बिना बाप का हूँ' तो उसे वर्णशकर कहा जायेगा, क्योकि जिसके पिता का पता न हो, ऐसे बच्चे तो वेश्याओ के यहाँ पैदा होते हैं। उसी प्रकार कोई कहे कि मेरा कोई गुरु नही है, तो समझा जायेगा कि यह असभ्य एव असस्कारित है, क्योकि जिसके मस्तिष्क पर विचार, स्वभाव, ज्ञान, गुण, कर्म आदि पर किसी दूरदर्शी का नियन्त्रण नही रहा—उसके मानसिक स्वास्थ्य का क्या भरोसा किया जा सकता है? ऐसे असस्कृत व्यक्तियो को 'निगुरा' कहा जाता है। निगुरा का अर्थ है—बिना गुरु का। किसी समय मे 'निगुरा' कहना भी वर्णशकर या मिथ्याचारी कहलाने के समान गाली समझी जाती थी।

बिना माता का, बिना पिता का, बिना गुरु का भी कोई मनुष्य हो सकता है—यह बात प्राचीन काल मे अविश्वस्त समझी जाती थी। कारण कि भारतीय समाज के सुसम्बद्ध विकास के लिए ऋषियो की यह अनिवार्य व्यवस्था थी कि प्रत्येक आर्य का गुरु होना चाहिए, जिससे वह महान पुरुष बन सके। उस समय प्रत्येक माता-पिता को अपने बालको को महापुरुष बनाने की अभिलाषा रहती थी। इसके लिए यह आवश्यकता रहती थी कि उनके बालक किसी सुविज्ञ आचार्य के शिष्य हो।

गुरुकुल प्रणाली का उस समय आम रिवाज था। पढने की आयु के होते ही बालक ऋषियो के आश्रम मे भेज दिए जाते थे। राजा-

महाराजाओं तक के बालक गुरुकुलों का कठोर जीवन बिताने जाते थे, ताकि वे कुशल नियन्त्रण में रहकर सुसंस्कृत बन सकें और आगे चलकर मनुष्यों के महान् गौरव की रक्षा करने वाले महापुरुष सिद्ध हो सकें। 'मैं अमुक आचार्य का शिष्य हूँ'—यह बात बड़े गौरव के साथ कही जाती थी। प्राचीन परिपाटी के अनुसार जब कोई मनुष्य किसी दूसरे को परिचय देता था, तो कहता था—"मैं अमुक आचार्य का शिष्य, अमुक पिता का पुत्र, अमुक गोत्र का, अमुक नाम का व्यक्ति हूँ।" सकल्पों में, प्रतिज्ञाओं में, साक्षी में, राजदरबार में अपना परिचय इसी आधार पर दिया जाता था।

मनोभूमि का परिष्कार—

बगीचे को यदि सुन्दर बनाना है, तो इसके लिए किसी कुशल माली की नियुक्ति आवश्यक है। जब आवश्यकता हो तब सींचना, जब अधिक पानी भर गया हो, तो उसे बाहर निकाल देना, समय पर गोड़ाई निराई करना, अनावश्यक टहनियों को छाँटना, खाद देना, पशुओं को चरने न देने की रखवाली करना आदि बातों के सम्बन्ध में माली सदा सजग रहता है, फलस्वरूप वह बगीचा हरा भरा, फला-फूला, सुन्दर और समुन्नत रहता है।

मनुष्य का मस्तिष्क एक बगीचा है, इसमें नाना प्रकार के मनोभाव, विचार, संकल्प, इच्छा, वासना, योजनारूपी वृक्ष आते हैं। उनमें से कितने ही अनावश्यक होते हैं। बगीचे में कितने ही पौधे झाड़-झंखाड़ के अपने आप उग जाते हैं, वे बढ़ें तो बगीचे को नष्ट कर सकते हैं, इसलिए माली उन्हें उखाड़ देता है और दूर-दूर से लाकर अच्छे-अच्छे बीज उसमें बोता है। गुरु अपने शिष्य के मस्तिष्क रूपी बगीचे का माली होता है, वह अपने क्षेत्र में से जंगली झाड़-झंखाड़ जैसे अनावश्यक संकल्पों, संस्कारों, आकर्षणों और प्रभावों को उखाड़ता रहता है और अपनी बुद्धिमत्ता, दूरदर्शिता एवं चतुरता के साथ ऐसे संस्कार बीज जमाता रहता है, जो उस मस्तिष्क रूपी बगीचे को बहुमूल्य बनावें।

कोई व्यक्ति यह सोचे कि "मैं स्वय ही अपना आत्म-निर्माण करूँगा, अपने आप अपने को सुसम्कृत बनाऊँगा, मुझे किसी गुरु की आवश्यकता नही" तो ऐसा किया जा सकता है। आत्मा मे अनन्त शक्ति है। अपना कल्याण करने की शक्ति उसमे मौजूद है। परन्तु ऐसे प्रयत्नो मे कोई मनस्वी व्यक्ति ही सफल होते है। सर्वसाधारण के लिए यह बात बहुत कष्टसाध्य है, क्योंकि बहुधा अपनी आँखों से अपने आपको स्वय दिखाई नही देते। किसी दूसरे मनुष्य या दर्पण की सहायता से ही अपनी आँखो को देखा जा सकता है। जब कोई वैद्य-डाक्टर बीमार होते हैं, तो स्वय अपना इलाज आप नही करते, क्योंकि अपनी नाडी स्वय देखना, अपना निदान आप कर लेना साधारणतया बहुत कठिन होता है। इसलिये वे किसी दूसरे वैद्य या डाक्टर से अपनी चिकित्सा कराते हैं।

कोई सुयोग्य व्यक्ति भी आत्म-निरीक्षण मे सफल नही होते हैं। हम दूसरो की जैसी आलोचना कर सकते हैं, दूसरो को जैसी नेक सलाह दे सकते हैं वैसी अपने लिए नही कर पाते। कारण यह है कि अपने सम्बन्ध मे आप निर्णय करना कठिन होता है। कोई अपराधी ऐसा नही जिसे यदि मजिस्ट्रेट बना दिया जाये, तो अपने अपराध के सम्बन्ध में उचित फैसला लिखे। निष्पक्ष फैसला कराना हो तो किसी दूसरे जज का ही आश्रय लेना पडेगा। आत्म-निर्माण का कार्य भी ऐसा ही है, जिसके लिए किसी दूसरे सुयोग्य सहायक की, गुरु की आवश्यकता होती है।

समुचित बौद्धिक विकास की सुव्यवस्था के लिए 'गुरु' की नियुक्ति को भारतीय धर्म मे आवश्यक माना गया है। इससे मनुष्य की विचार-धारा, स्वभाव, सस्कार, गुण प्रकृति, आदतें, इच्छाएँ, महत्वाकांक्षायें, कार्य पद्धति आदि का प्रयास उत्तम दिशा मे हो सकेगा, मनुष्य अपने आप मे सन्तुष्ट, प्रसन्न, पवित्र और परिश्रमी रहेगा तथा सद्व्यवहार से सुख पहुँचावेगा। इस प्रकार के सुसम्कृत मनुष्य जिस देश मे अधिक होगे वहाँ

निश्चयपूर्वक सुख-शान्ति की, सुव्यवस्था की, पारस्परिक सहयोग की, प्रेम की, साथ ही सद्‌भाव की बहुलता रहेगी। हमारा पूर्व इतिहास साक्षी है कि सुपरिष्कृत मस्तिष्क के भारतीय महापुरुषों ने कैसे महान् कार्य किये थे और इस भूमि पर किस प्रकार स्वर्ग को अवतरित कर दिया था।

हमारे पूर्वकालीन महान् गौरव की नींव में ऋषियों की दूरदर्शिता छिपी हुई है, जिसके अनुसार प्रत्येक भारतीय को अपना मानसिक परिष्कार कराने के लिए किसी उच्च चरित्र, आदर्शवादी, सूक्ष्मदर्शी विद्वान के नियन्त्रण में रहना आवश्यक होता था, जो व्यक्ति मानसिक परिष्कार कराने की निपट आवश्यकता से जी चुराते थे, उन्हें 'निगुरा' की गाली दी जाती थी। 'निगुरा' शब्द का अपमान करीब-करीब बिना बाप का या वर्णसङ्कर कहे जाने के बराबर समझा जाता था। धन का कमाना, विद्या पढ़ना, शस्त्र चलाना—सभी बातें आवश्यक थी, मानसिक परिष्कार तो सबसे अधिक आवश्यक था, क्योंकि असंस्कृत मनुष्य तो समाज का अभिशाप बनकर ही रह सकता है, भले ही उसके पास कितनी ही अधिक भौतिक सम्पदा क्यों न हो। गुरु को प्रत्यक्ष तीन देवों में—तीन परम पूज्यों में स्थान देने का यही कारण था।

हमारे यहाँ धर्म-शास्त्रों के अनुसार मनुष्य ८४ लक्ष योनियों से होकर आता है। उसमें पशु-प्रवृत्तियों के भाव गहरी जड़ जमाये रहते हैं। उनके शमन के लिए दीर्घ प्रयत्न की अपेक्षा रहती है। हिन्दू धर्म-शास्त्रों में जीवन का परम लक्ष्य मुक्ति और मोक्ष बताया गया है, जिस तक पहुँचने के लिए अत्यन्त दुर्गम मार्गों और घाटियों से होकर गुजरना पड़ता है। यह इतना सरल नहीं है, जितना पुराणों में अतिशयोक्ति शैली में वर्णित है। इस लम्बी यात्रा को सफल बनाने के लिए भीमकाय बाधाओं का सामना करना पड़ता है। फिर मार्ग अपना देखा हुआ भी नहीं होता, इसलिए पथिक इस संसार रूपी अरण्य में भटक जाता है। स्वयं किसी साधारण व्यक्ति का अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचना सर्वथा

असम्भव है। कुछ अपवाद भले ही हो सकते हैं, परन्तु सामान्यत हर व्यक्ति को हर क्षेत्र मे प्रशिक्षण के लिए एक पथ-प्रदर्शक की आवश्यकता रहती है। फिर अध्यात्म मार्ग तो सबसे दुगम है। इस पर तो बिना पथ-प्रदर्शक के चलना सम्भव ही नही है।

दीक्षा की आवश्यकता—

गुरु केवल मार्गदर्शन ही नही करते हैं, वरन् वह समय की दीर्घा को कम करते हैं और उसे बहुत ही कम समय मे अभीष्ट लाभ की सिद्धि मे सहायक होते हैं। इस जगत् मे मानव अपूर्ण रूप से आता है। उसे पूर्णता की पूर्ति की अभिलाषा रहती है। इसकी पूर्ति के लिए गुरु ही एकमात्र सहारा होते हैं। इसलिए दीक्षा की आवश्यकता पडती है।

तन्त्र-ग्रन्थो की तो यह धारणा है कि—

मूलपद्मे कुण्डलिनी यावत् सा निद्रिता प्रभा।
तावत किञ्चिन्न सिद्धयेत मन्त्रयन्त्रार्चनादिकम् ॥
जागर्ति यदि सा देवि बहुभि पुण्यसञ्चयै ।
तदा प्रसादमायान्ति मन्त्र यन्त्रार्च्चनादय. ।'

"मूलाधार मे जब तक कुण्डलिनी शक्ति सोई हुई है, तब तक मन्त्र, यन्त्र, अर्चन आदि कर्म सफल नही होते। यदि गुरु के पुण्य प्रताप से कुण्डलिनी देवी का जागरण हो गया, तो मन्त्र, तन्त्र, पाठ, पूजन, जप, तप, ज्ञान, ध्यान जो कुछ भी बन पडेगा, वह सभी सिद्धि को प्राप्त होगे। इससे पूर्व जिस दुखमय जगत् को मिथ्या और नरक माना जाता था वही सत्य और स्वर्ग स्वय बन जाएगा, क्योंकि शक्ति के जागरण से हर क्षेत्र मे सफलता के स्तम्भ स्थापित किए जाने सम्भव होगे। आत्मशक्ति के विकास से समस्त भव व्याधियो का परिष्कार हो जाएगा।"

शास्त्र भी आश्वासन देते है—

अज्ञस्य दु.खौघमय ज्ञस्यानन्दमय जचत् ।
अन्ध भुवनमन्धस्य प्रकाश तु सुचक्षुषाम् ॥

अर्थात् "जो अज्ञ पुरुष होता है उसके लिए यह जगत् दु खो के समूह से परिपूर्ण होता है और जो ज्ञानी है उसके लिए समस्त जगत् आनन्दमय होता है। जो अन्धा है,उसके लिए समस्त भुवन ही अन्धकार-मय है और जो सुन्दर नेत्रो वाले हैं, उनको यही प्रकाशमय है।"

जीवन की सफलता में कु डलिनी जागरण एक प्रमुख प्रक्रिया है। इसे गुरु की सहायता से ही सम्पन्न किया जा सकता है। यही दीक्षा की आवश्यक्ता का आधार है।

दीक्षा द्वारा कु डलिनी शक्ति की मन्त्र-सृष्टि पर प्रकाश डालते हुए शास्त्र मे कहा गया है—

यदा भवति सा सविद्द्विगुणीकृतविग्रहा ।
सा प्रसूते कुण्डलिनी शब्द ब्रह्ममयी विभु ॥
शक्ति ततो ध्वनितस्मान्नादस्तस्मान्निबोधिका ।
ततोऽधे न्दुस्ततो बिन्दुम्तस्मादसीत्परा तत ॥
पश्यन्ती मध्यमा वाणी वैखिरी सर्ग जन्मभू ।
इच्छा ज्ञान-क्रियात्मासौ तेजोरूपा गुणात्मिका ।
क्रमेणानेन सृजति कुण्डली वर्णमालिकाम् ॥

अर्थात् 'द्विगुण विग्रह से युक्त जब वह सविद हो जाती है, तब कु डलिनी जो शब्द ब्रह्ममयी विभु है, शक्ति का प्रसव करती है। इसके अनन्तर ध्वनि होती है, उससे नाद होता है और उससे निबोधिका हुआ करती है। फिर उसके पश्चात् अर्द्ध च द्र और उससे वि दु होता है। उससे परापश्यन्ती मध्यमा वाणी जो वैखरी की जन्मभू होती है। यह इच्छा, ज्ञान और क्रियास्वरूप है तथा तेजोरूप—गुणात्मक है। इस क्रम मे कुण्डली वर्णमालिका का सृजन किया करती है।"

गुणिता सर्वगात्रेषु कुण्डली पर देवता ।
विश्वात्मना प्रबुद्धा सा सूते मन्त्रमय जगत् ॥
एकधा गुणिता शक्ति सव विश्वप्रवर्तिनी ।
वेदादिबीज श्रीबीज शक्तिबीज मनोभवम् ॥
प्रसाद तुम्बुर पिण्ड चिन्तारत्न गणेश्वरम् ।
मार्तण्ड भैरव दौर्ग नारसिंह वराहजम् ॥
वासुदेव हयगीव बीज श्री पुरुषोत्तमम् ।
अन्यान्यपि च बीजानि तदेत्पादयति ध्रुवम् ॥

अर्थात् "यह गुणित और सब गात्रो मे कुण्डली पर देवता है । विश्वात्मा के द्वारा प्रबुद्ध वह इस मन्त्रमय जगत् का प्रसव किया करती है । एक बार गुणिता शक्ति सम्पूर्ण विश्व के प्रवृत्त कराने वाली होती है । वेदादि के बीज, श्री बीजशक्ति बीज, मनोभव, प्रसाद, तुम्बुर, पिंड, चिन्तारत्न, गणेश्वर मार्तण्ड, भैरव, दौर्ग, नारसिंह, वराहज, वासुदेव, हयग्रीव बीज श्री पुरुषोत्तम बीज और अन्य-अन्य बीजो को उस समय म निश्चय ही उत्पन्न कर दिया करती है ।"

इसलिए शास्त्र का आदेश है कि दीक्षारहित ज्ञान निष्फल होता है —

विना दीक्षा फल नस्यादयमिना शिवशासने ।
सा च न स्याद्विनाचार्यमित्याचार्य पुर सरम॥
देवि दीक्षाविहीनस्य न सिद्धिर्न स्दुगति ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन गुरुणा दीक्षितो भवेत् ॥

अर्थात् "विना दीक्षा के कोई भी फल नही होता है, जो शिव के शासन मे यमरहित होते हैं । उनको फल नही मिलता है । यह दीक्षा भी आचार्य के विना नही होती है, अतएव आचार्य के पुरस्सर ही होवे । हे देवि ! जो दीक्षा से विहीन पुरुष है, उसे न तो सिद्धि होती है और न उसकी सद्गति ही । इससे सभी प्रयत्नो मे गुरु के द्वारा दीक्षित होना चाहिए ।"

तन्त्र की भाषा मे कहे तो यो कहा जा सकता है कि दीक्षा का उद्देश्य समस्त प्रकार के पाशो का नाश करके ईश्वर-भाव का विकास करना है। इसके दो मुख्य अङ्ग माने जाते हैं—एक, पाशो का नाश करना और दूसरा, शिवतत्व के साथ शिष्य का योग कराना। इसमे गुरु-शक्ति ही प्रधान कार्य करती है। इसलिए गुरु को सामथ्यवान होना आवश्यक बताया गया है। सामथ्यवान गुरु से दीक्षा लेने के लिए शिष्य को भी उसके लिए अधिकारी सिद्ध करना आवश्यक होता है।

गुरु-शिष्य की परस्पर परीक्षा—

हम चाहते हैं कि हमे व्यास और वशिष्ठ जैसे गुरु मिल जाएँ। इसके लिए आवश्यक है कि हम भी रामचन्द्र और जैमिनी जैसे शिष्य बनकर दिखाएँ। हर शिष्य चाहता है कि उसे उत्तम गुरु मिल जाएँ, परन्तु गुरु भी चाहते हैं कि उन्हें शुकदेव, गौडपाद, गोविन्दपाद और शङ्कराचार्य जैसे शिष्य मिले। योग्य गुरु मिलने पर शिष्य का शीघ्र विकास सम्भव होता है और योग्य शिष्य मिलने पर गुरु की आत्मशक्ति का कम व्यय होता है। थोडे परिश्रम और शक्ति से ही अभीष्ट लाभ की सिद्धि हो जाती है। इसलिए शास्त्र का आदेश है कि दोनो को एक दूसरे की परीक्षा कर लेनी चाहिए। इसमे दोनो को सुविधा होगी—

गुरुशिष्याधिकारार्थं विरक्तोऽपिशिवाज्ञया।
किञ्चित्काल विधायेत्थ स्वशिष्याय समर्पयेत्॥
तस्यापि नाधिकारस्य योग साक्षात् परे शिवे।
देहान्ते शश्वती मुक्तिरितो शङ्करभाषितम्॥
तस्मात् सवप्रयत्नेन साक्षात् परशिवोदितम्
सम्प्रदाय परिच्छिन्ना सदा कुर्यात्गुरु प्रिये॥
शक्तिसिद्धिसिद्धार्थं परीक्ष्य विधिवत गुरु।
पश्चादुपदिशेन्मन्त्रमन्यथा निष्फल भवेत्॥

अर्थात् "गुरु शिष्य के अधिकारार्थ विरक्त को भी शिवजी की आज्ञा से कुछ काल पर्यन्त ऐसा करके फिर अपने शिष्य के लिए समर्पित कर देना चाहिए। उस अधिकार का योग भी साक्षात्, पर शिव मे नही है। देह के अन्त हा जाने पर शाश्वती मुक्ति होती है—ऐसा भगवान शङ्कर का भाषित है। इससे सर्व प्रयत्न के द्वारा परशिव के उदित का परिच्छिन्न प्रदान करके हे प्रिये सदा गुरु को करना चाहिए। गुरु भी को चाहिए की शिष्य की शक्ति, सिद्धि और असिद्धार्थता का विधिसहित परीक्षण करके पीछे मन्त्र का उपदेश देना। अन्यथा सभी निष्फल हो जाता है।"

गुरु शिष्यावुभौ मोहदपरीक्ष्य परस्परम्।
उपदेश ददद् गृह्णन् प्राप्द्रयाता पिशाचताम्॥
अशास्त्रीयोपदेशञ्च यो गृहणाति ददति हि।
भुञ्जते तावुभौ घोरे नरकानेक विंशती.॥
नन्यायेन तु यो दद्याद् गृहणात्यन्यायतश्च य।
ददतो गृहणतो देविकुलशापो भविष्यति॥

अर्थात् "गुरु और शिष्य इन दोनो को ही मोह के वश मे होकर परीक्षण परस्पर मे न करके ही उपदेश देना तथा उस दिए हुए उपदेश को ग्रहण करना अनुचित है और इससे पिशाचता की प्राप्ति होती है। अशास्त्रीय उपदेश जो देता है या जो इसका ग्रहण करता है, वे दोनो ही अनेक विंशति तक घोर नरक मे दुःख भोगते है। अन्याय से जो कोई उपदेश देता है और जो भी कोई उसे ग्रहण किया करता है, उस उपदेश को देने वाले तथा ग्रहण करने को हे देवि! कुलशाप हो जावेगा।"

ज्ञानेन क्रियया वापिगुरु शिष्य परीक्षयेत्।
सवत्सर तदर्द्धं वा तदर्द्ध प्रयत्नत॥
धनेच्छा भयलोभाद्यैरयोग्य यदि दीक्षयेत।
देवता शापमाप्नोति कृतञ्च निष्फल भवेत्॥

अर्थात् "ज्ञान के द्वारा अथवा क्रिया के द्वारा गुरु को शिष्य की परीक्षा करनी चाहिए। एक वर्ष तक अथवा उसके आधे भाग में या इसके भी आधे समय तक परीक्षण करे और प्रयत्न से करे। धन की इच्छा, भय और लाभ आदि से यदि किसी भी अयोग्य को दीक्षा देता है तो देवता के शाप को प्राप्त होता है और जो भी कुछ किया हुआ है, वह सब निष्फल हो जाता है।"

अधिकारी व अनधिकारी शिष्य के लक्षण—

अधिकारी शिष्य के लक्षण शास्त्रों में इस प्रकार वर्णित किए गए हैं—

हित सत्य मित स्मरेत् भाषण मुक्तदूषणम्।
सकृदुक्तग्रहीतार्थं चतुर बुद्धिविस्तरम्॥
स्वस्तुतौ परनिन्दायां विमुख सुमुख प्रिये।
जितेन्द्रिय सुसन्तुष्ट धीमन्त ब्रह्मचारिणम्॥
त्यक्ताधिव्याधिचापल्यदुःखभ्रान्तिमसंशयम्।
गुरुध्यानस्तुतिकथादेवार्चावन्दनोत्सुकम॥

अर्थात् "हितप्रद, सत्य और परिमित दूषण से रहित भाषण का स्मरण करे। एक बार कहा हुआ हो तथा उसके अर्थ को ग्रहण कर लिया जावे। यह चतुर बुद्धि का विस्तार है। अपनी स्तुति में तथा दूसरों की निन्दा में विमुख हो। हे सुन्दर मुख वाली, हे प्रिये! इन्द्रियों को जीतकर वश में रखने वाले, पूर्ण रूप से सन्तुष्ट, बुद्धिमान्, ब्रह्मचारी, आधि, व्याधि, चपलता, दुःख, भ्रान्ति से रहित, संशय-शून्य, गुरु का ध्यान, स्तुति कथा, देवों का अर्चन और वन्दना में उत्सुक हो।"

सर्वकार्यातिकुशल स्वच्छ सर्वोपकारिणम्।
कृतज्ञ पापभीतञ्च साधुसज्जनसम्मतम्॥

आस्तिक दानशीलञ्च सर्वभूतहिते रतम्
विश्वासविनयोपेतं धनदेहाद्यवञ्चकम् ॥
असाध्यसाधक शूरमुत्साहबलसयुतम् ।
अनुकूलक्रियायुक्तमप्रमत्त विचक्षणम् ॥

अर्थात् "समस्त कार्यों मे अत्यन्त प्रवीण, स्वच्छता से युक्त, सबका उपकार करने वाला, कृतज्ञ, पापो मे डरने वाला, साधु एव सज्जन पुरुषो का सम्मत, आस्तिक, दानशील, समस्त प्राणियो के हित मे रति रखने वाला, विश्वास और विनय गुण मे युक्त, धन और देहादि का वञ्चन न करने वाला, जो असाध्य कार्य हो उसकी भी साधना करने वाला, शूर, उत्साह और बल मे समन्वित, अनुकूल क्रिया से युक्त, प्रमाद से रहित एव विचक्षण शिष्य होना चाहिए ।"

सच्छिष्यन्तु कुलेशानि शुभलक्षणसयुतम् ।
समाधिसाधनोपेत गुणशीलसमन्वितम् ॥
स्वच्छदेहाम्बर प्राज्ञ धार्मिक शुद्धमानसम् ।
दृढव्रत सदाचार श्रद्धाभक्तिसमन्वितम् ॥
दक्षमल्पाशिन गूढचित्त निर्व्याजसेवकम् ।
विमृष्यकारिण वीर मनोदारिद्र्यवर्जितम् ॥

अर्थात् "हे कुलेशानि ! ऐसा ही सच्छिष्य होता है, जो शुभ लक्षणो से युक्त होता है । समाधि के साधनो से युक्त हो तथा गुण और शील मे भी समन्वित हो । देह और वस्त्र को सदा साफ-सुथरा रखने वाला, प्राज्ञ, धार्मिक और शुद्ध मन वाला होना चाहिए । व्रत पर दृढ रहने वाला, सदाचारी तथा श्रद्धा एव भक्ति से युक्त, अति दक्ष, अल्प अशन करने वाला, गम्भीर चित्त वाला और बिना किसी बहाने या निमित्त के सेवा करने वाला, विचारपूर्वक कार्य करने वाला, वीर और मन की दरिद्रता मे रहित शिष्य होना चाहिए ।"

अनधिकारी शिष्य के लक्षण शास्त्र मे इस प्रकार वर्णन किए गये हैं—

निद्रातन्द्रा जडालस्य द्यूतादिव्यसनान्वितम् ।
अन्तभक्तिकर क्षुद्र बाह्यभक्तिविवर्जितम् ॥
व्यलीकवादिन शष्क प्रेषित प्रेरक शठम् ।
धनस्त्रीशुद्धिरहित निषेधविधिवर्जितम ॥
रहस्यभेदक वापि देवि कार्यविनाशकम् ।
मार्जारबकवृत्तिञ्च रन्ध्रान्वेषणतत्परम् ॥

अर्थात् "वर्जित शिष्य के लक्षण ये होते हैं—निन्द्रा, तन्द्रा, जडता आलस्य, द्यूत-क्रीडा आदि व्यसनो मे युक्त हो, अन्तर मे भक्ति करने वाला, क्षुद्र, बाह्य भक्ति से रहित, व्यलीक (मिथ्या) बोलने वाला, शुष्क, प्रेषित, प्रेरणा वाला, शठ, धन और स्त्री की शुद्धि से रहित एव निषेध क्या है और विधि क्या है—इस ज्ञान से शून्य हो। रहस्य का भेदन करने वाला, हे देवि! कार्यों का विनाश कर देने वाला, मार्जार और बगुला के समान वृत्ति रखने वाला तथा सवदा छिद्रो का अन्वेषण करने मे परायण। ये सब अधिकार-रहित शिष्य के लक्षण होते हैं।"

स्वक्लेशवादिन स्वामिद्रोहिण स्वात्मवञ्चकम् ।
जिह्वोपस्थपर देवि तस्कर पशुचेष्टितम् ॥
अकारण द्वेषहासक्लेशक्रोधादिकारिणम् ।
अतिसाहसकर्माण मर्मान्तिपरिहासकम् ।
कामुक चातिनिर्लज्ज मिथ्यादुश्चेष्टसूचकम् ।
असूयामदमात्सर्यद भाहकारसयुतम् ॥

अर्थात् "सदा अपने ही क्लेश को बोलने वाला, स्वामी के साथ द्रोह करने वाला, स्वात्मवञ्चक, जिह्वा और उपस्थ की तृप्ति मे तत्पर रहने वाला, हे देवि! तस्कर तथा पशु के तुल्य चेष्टा रखने वाला, बिना ही किसी कारण के कारण द्वेष, हास, क्लेश और क्रोध आदि करने

वाला, अत्यन्त साहस के कर्म करने वाला, मर्मान्तक भेदक परिहास का करने वाला, कामुक, अत्यन्त निलज्ज, मिथ्या और दुश्चेष्टाओं का सूचक, असूया, मद और मात्सर्य, दम्भ, अहङ्कार जैसे दुर्गुणों से युक्त शिष्य अनधिकारी होता है।"

ईर्षापारुष्यपैशुन्यकार्पण्य क्रोधमानसम्।
अधीर दुःखिन भीरुमशक्त स्तब्धमातुरम्॥
अप्रबुद्धमति मन्द मूढ चिन्ताकुलविटम।
तृष्णालोभयुत दीनमतुष्ट मवयाचकम्॥

अर्थात् "ईर्ष्या, परुषता, पिशुनता, कृपणता और क्रोध मन में रखने वाला, धीरता से शून्य, आतुर, अप्रबुद्ध मति वाला, मन्द, मूढ एवं असंतुष्ट तथा सभी किसी से याचना करने वाला शिष्य अनधिकारी होता है।"

मायाविन कृतघ्नञ्च प्रच्छन्नान्तरदायकम्।
विश्वासघातिन द्रोहकारिणपापकर्मिणम्॥
आततायिनमेकाक्ष कुत्सित कूटसाक्षिणम्।
सर्वप्रतारक देवि सर्वोत्कृष्टाभिमानिनम्॥
असत्य निठुरासक्त ग्राम्यादिबहु भाषिणम्।
कुविचारकुतर्कादिकारक कलहप्रियम्॥

अर्थात् "मायावी, किये हुए अहसान को न मानने वाला, प्रच्छन्नान्तर दायक, विश्वास का घात करने वाला, आततायी, एक आँख वाला, कुत्सित, कूटसाक्षी (झूठी गवाही देने वाला), सभी किसी को ठगने वाला, हे देवि! सबसे अपने आपको ऊँचा मानने का अभिमान रखने वाला, असत्य, निष्ठुर, प्रशक्त, ग्राम्य तथा बहुत अधिक भाषण करने वाला, बुरे विचार, कुतर्क आदि के करने वाला और सदा कलह से प्यार रखने वाला शिष्य अनधिकारी होता है।"

महिमा—

तन्त्र साधना में दीक्षा को आवश्यक बताया गया है। तभी उसकी महिमा का अपूर्व वर्णन प्राप्त होता है—

दीक्षवै मोचयत्यूदर्ध्वं शैवेधाम नयत्यपि ।

अर्थात् "दीक्षा से मुक्ति होती है और वह ऊपर के शिवधाम में पहुंचाती है।'

दीक्षया पाशमोक्षस्तु शुद्धभावाद् विवेकजम् ।

"दीक्षा से पाशों का मोक्ष होता है और उसके बाद विवेकज-ज्ञान की उत्पत्ति होती है।

पिच्छिला तन्त्र के अनुसार—

दीक्षा विना न मोक्ष स्यात्प्राणिना शिवशासनात् ।
सा च न स्याद् विनाचार्यमित्याचायपरम्परा ॥४
उपानाशतेनापि य विना नैव सिद्धयति ।
ता दीक्षाभाश्रयेद यत्नात् श्रीगुरोर्मन्त्रसिद्धये ॥५

"शिव का अनुशासन यही है कि दीक्षा के बिना किसी को मुक्ति प्राप्त नहीं होती है। आचार्य-परम्परा बिना दीक्षा नहीं होती। सैकड़ों प्रकार की उपासना-पद्धतियाँ प्रचलित हैं, परन्तु दीक्षा के बिना सिद्धि प्राप्त नहीं होती। गुरुदेव से दीक्षा प्राप्त करके ही मुक्ति प्राप्त करना सम्भव है।"

रसेन्द्रेण यथा विद्धमय सुवर्णता व्रजेत् ।
दीक्षाविद्धस्तथैवात्मा शिवत्व लभतेप्रिये ॥
दीक्षाग्निदग्धकर्मासौ यायाद्विच्छिन्नबन्धन ।
गतस्तस्य कर्मबन्धो निर्जीवश्च शिवो भवेत ॥

अर्थात् 'रसेन्द्र पारद भस्म से विद्ध होकर लोहा सुवर्ण बन जाया करता है, उसी भाँति दीक्षा से भली-भाँति विद्ध हुआ आत्मा हे प्रिये! शिव के स्वरूपता को प्राप्त हो जाया करता है। दीक्षा रूपी

अग्नि से दग्ध हुए कर्मों वाला यह मनुष्य विच्छिन्न बन्धन वाला हो जाया करता है। इसके कर्मों का बन्धन तो निश्शेष हो जाया करता है। फिर जब यह मृत होता है, तो शिव के स्वरूप वाला हो जाया करता है।"

दत्तात्रेय यामल के अनुसार—

अनीश्वरस्य मर्त्यस्य नास्ति त्राता यथा भुवि ।
तथा दीक्षाविहीनस्य नेह स्वामी परत्र च ॥

अर्थात् "जो मनुष्य बिना ईश्वर वाला होता है, जिस तरह से भूमण्डल में उस अनीश्वरवादी का कोई त्राण करने वाला नहीं होता है, वैसे ही दीक्षा से विहीन पुरुष का भी यहाँ और परलोक में भी कोई रक्षक नहीं होता।"

विष्णु यामल में लिखा है—

अतो गुरुं प्रणम्यैवं सर्वस्वं विनिवेद्य च ।
गृह्णीयाद्वैष्णवं मन्त्रं दीक्षापूर्वं विधानतः ॥

अर्थात् "इसलिए इस प्रकार से गुरु को प्रणाम करके जो भी कुछ अपने पास हो उस सब कुछ को उनकी सेवा में समर्पित करके वैष्णव मन्त्र का ग्रहण करे, जो कि विधान से दीक्षापूर्वक ही होना चाहिए।"

पुरश्चरण रसोल्लास (प्रथम पटल) के अनुसार दीक्षा से बढ़कर न कोई ज्ञान है, न तप है। अतः यह सर्वश्रेष्ठ है।

नवरत्नेश्वर में कहा है कि सभी तरह की दीक्षा से मोक्ष की उपलब्धि होती है और योग की प्राप्ति होती है। पापों का नाश होता है, गुरु से दीक्षा न लेकर जो केवल पुस्तकीय ज्ञान के आधार पर साधना करता है, वह सहस्र मन्वन्तर में भी सद्गति नहीं पाता। जो व्यक्ति दीक्षा नहीं लेता, उसके व्रत, नियम, तप और तीर्थयात्रा कुछ भी सफल नहीं होता। ऐसे व्यक्ति द्वारा या ऐसे के लिए किया गया श्राद्ध मान्य

नहीं होता। इसलिए सद्गुरु से दीक्षा लेना अत्यन्त आवश्यक माना गया है।

तन्त्र का मत है कि दीक्षा से अपूर्णता का नाश और आत्मा की सम्यक् शुद्धि होती है। इससे आणवमल की निवृत्ति होती है। जो आत्मा पशुभाव में स्थित है, वह दीक्षा के प्रभाव से ऊपर उठकर शिवत्व को प्राप्त होती है।

परिभाषा—

दीक्षा की परिभाषा तन्त्र में इस प्रकार दी गई है—

दीयते ज्ञान सद्भाव क्षीयते पशुवासना।
दानक्षपण संयुक्ता दीक्षा तेनेह कीर्त्तिता॥

"जो ज्ञान देती है और पशु वासना का क्षय करती है ऐसी दान और क्षपणयुक्त क्रिया को दीक्षा कहा जाता है।"

दिव्यज्ञान यतो दद्यात् कुर्यात् पापक्षय ततः।
तस्माद्दीक्षेति, सा प्रोक्ता सर्वतन्त्रस्य सम्मता॥

—विश्वसार तन्त्र

"जो पापों का नाश करके दिव्य ज्ञान प्रदान करती है, उसे दीक्षा कहा जाता है। सभी तन्त्रों का यही मत है।"

ददातिदिव्यभावञ्चेत् क्षिणुयात् पापसन्ततिम्।
तेन दीक्षेति विख्याता मुनिभिस्तन्त्रपारगैः॥

—गौतमीय तन्त्र अ० ७

"जिससे दिव्य भाव की उपलब्धि और पाप-नाश होता हो, तन्त्र में विख्यात मुनियों ने उसी को दीक्षा कहा है।"

दीयते परम ज्ञान क्षीयते पाप पद्धति।
तेन दीक्षोच्यते मन्त्रे-स्वागमार्थवलवान्नात्॥

—लघु कल्पसूत्र

"जो परम ज्ञान की दाता और पापो का नाश करती है, आगम शास्त्रो मे उसी को दीक्षा के नाम से सम्बोधित किया गया है।"

ददाति शिवतादात्म्य क्षिणोति च मलत्रलयम्।
अतो दीक्षेति सप्रोक्ता दीक्षातत्त्रार्थवेदभि ॥

"जो शिव की तद्रूपता-समाधि को प्रदान करती है और तीन मलो (आणव, कर्मण और मायिक) का क्षय करता है। अत दीक्षा तन्त्र के अर्थ के जानकार मुनियो ने इसका नामकरण दीक्षा किया।"

दीयते ज्ञानमत्यर्थं क्षीयते पाशबन्धनम्।
अतोदीक्षेति देवेशि कथिता तत्त्वचिन्तकै ॥
मनसा कमरणा वाचा यत्पाप समुपार्जितम्।
तेपा विशेषा करणी परमज्ञानदायत ॥
तस्मात् दीक्षेति लोकेऽस्मिन् गायते शास्त्र वेदकै ।
विज्ञान फलदा मैव द्वितीया लयकारिणी ।
तृतीयामुक्तिदा चैव तस्माद्दीक्षेतिधीयते ॥

"जो ब्रह्मज्ञान को प्रदान करने वाली और पाश व कर्म बन्धनों का क्षय करने वाली है। तत्व चिन्तकों ने उसे दीक्षा नाम दिया है।

मनसा, वाचा, कमणा जो पाप किए जाते है, उनकी नाश करना और परम ज्ञान प्रदाता होने के कारण शास्त्रों ने इसे दीक्षा कहा है।

प्रथम विज्ञान फल देने वाली द्वितीय लय भोग सिद्ध करने वाली और तृतीय मोक्षदाता होने के कारण इसे दीक्षा कहते हैं।"

दीक्षा को तन्त्रो मे आत्म सस्कार की सज्ञा दी गई है। बद्ध आत्मा तीन मलो से युक्त रहता है। तीन मल हैं —आणव कार्म और मायिक। इनके कारण उसकी पूर्णता में बाधा पडती है। इनकी निवृत्ति मे पूर्णता की प्राप्ति होती है। वास्तव मे तो आत्मा पूर्ण है, उसमे अपूर्णता का अंशमात्र भी नही है परन्तु माया के सयोग के कारण वह अपने को अपूर्ण समझती है। इस स्थिति को आणव मल की सज्ञा दी

गई है। अपूर्णता की भावना के साथ कामनाएँ, इच्छाएँ और वासनाएँ जुडी हुई हैं। मनुष्य जब अपने को आत्मा न मानकर शरीर ही समझता है, तो जड शरीर की सुख-सुविधाओ की वृद्धि के लिए प्रयत्नशील रहता है। यह भोग बन्धन का कारण बनते हैं। इन्हे तन्त्र की भाषा मे कार्म-मल कहा जाता है। एक तान्त्रिक शास्त्री के अनुसार मायिक मल की परिभाषा इस प्रकार है—"कला, विद्या, राग, काल तथा नियति और इनकी समष्टिभूता माया। पुर्यष्टक तथा स्थूल भूतमय विभिन्न जातीय कारण, सूक्ष्म एव स्थूल देह—इन सब देहो के आश्रयभूत, विचित्रभुवन और नाना प्रकार के भोग्य पदार्थों का अनुभव चिमक कारण होता है, उसे मायिक मल कहते थे।" इन तीनो मलो मे बद्ध आत्मा का सस्कार ही दीक्षा है।

एक विद्वान् ने बडे सुन्दर ही शब्दो मे दीक्षा का प्रतिपादन किया है—

"श्री गुरुदेव की कृपा और शिष्य की श्रद्धा, इन दो पवित्र धाराओ का सगम ही दीक्षा है। गुरु का आत्मदान और शिष्य का आत्मसमर्पण, एक की कृपा और दूसरे की श्रद्धा के अतिरेक से ही यह सम्पन्न होता है।

दीक्षा एक दृष्टि से गुरु की ओर से आत्मदान, ज्ञान सचार अथवा शक्तिपात है, तो दूसरी दृष्टि से शिष्य में सुपुप्त ज्ञान और शक्तियो का उद्बोधन है। दीक्षा से ही शरीर की समस्त अशुद्धियाँ मिट जाती हैं और देह शुद्ध होने से देव-पूजा का अधिकार मिल जाता है। गुरु एक हैं और उन्ही से चारो ओर शक्ति का विस्तार हो रहा है। यदि परम्परा की दृष्टि मे देखें तो मूल पुरुष परमात्मा मे ही ब्रह्मा, रुद्र आदि के क्रम से ज्ञान की परम्परा चली आई है और एक शिष्य से दूसरे शिष्य मे सक्रान्त होकर वही वर्तमान गुरु मे भी है। इसी का नाम सम्प्रदाय है और गुरु के द्वारा इसी अविच्छिन्न साम्प्रदायिक ज्ञान की

प्राप्त होती है, क्योंकि गुरुशक्ति ही क्रमशः प्रकाशित होती आई है। उससे हृदयस्थ सुप्त शक्ति के जागरण में बड़ी सहायता मिलती है और यही कारण है कि कभी कभी तो जिनके चित्त में बड़ी भक्ति है, व्याकुलता और सरल विश्वास है, वे भी भगवत्कृपा का उतना अनुभव नहीं कर पाते, जितना कि शिष्यों को दीक्षा से होता है।"

इसका कारण यह है कि दीक्षा देते समय गुरु को अपने शरीर में गुरुतत्त्व शक्ति की स्थापना करनी पड़ती है तभी वह गुरु-दीक्षा देने के योग्य होता है। सहस्रदल कमल में निवास करने वाले परम शिव की प्राणशक्ति ही गुरुतत्त्व शक्ति कही जाती है। इस महाशक्ति के संचार से ही गुरु-शिष्य की आत्मा के बाह्य मलों का संस्कार कर पाता है। आजकल तो न योग्य गुरु है और न शिष्य। केवल लकीर पीटना ही मात्र रह गया है। यदि तन्त्र में वर्णित विधि विधान के अनुसार दीक्षा दी जाए तो शास्त्रों में वर्णित लाभ अवश्य प्राप्त होते हैं। तभी इसका इतना महान् माहात्म्य बताया गया है और इसकी अतीव आवश्यकता का अनुभव किया गया है।

प्रकार—

दीक्षा त्रिविध प्रकार की है, शास्त्र का वचन है—

स्पर्शदीक्षा देवि दृक्संज्ञा मानसाख्या महेश्वरि।
क्रियायासादिरहिता देवि दीक्षा त्रिधा स्मृता।

"अङ्कुशमयी दीक्षा तीन प्रकार की कही गई है। स्पर्श दीक्षा, दृग् दीक्षा और मानस दीक्षा। योग्य गुरु अपनी कृपा से शिष्य को शिवहस्त से स्पर्श दीक्षा, दिव्य दृष्टि से देखने पर दृग् दीक्षा और सत्य संकल्प के मनन से मानस दीक्षा देते हैं।'

कुलार्णव तंत्र में इसका वर्णन इस प्रकार है—

यथा पक्षी स्वपक्षाभ्यां शिशून् संवर्धयेच्छनैः।
स्पर्शदीक्षोपदेशस्तु तादृशः कथितः प्रिये॥

'जिस तरह पक्षी अपने पखो के स्पश मे अपने शिशुओ का पालन पोषण करता है, उसी तरह नी यह स्पर्श दीक्षा है।"

स्वपत्यानि यथा कूर्मी वीक्षणेनैव पोपयेत् ।
दृग्दीक्षाख्योपदेशस्तु तादृशा कथित प्रिये ।।

"जिस तरह कछवी अपने शिशुओ का दृष्टिमात्र से पोषण करती है, उसी तरह की यह दृग दीक्षा है।"

यथा मत्सी स्वतनयान् ध्यानमात्रेण पोपयेत् ।
वेधदीक्षोपदेशस्तु मनम स्यात्तथाविध ।।

"जिम तरह से मछली ध्यान मात्र से अपने बच्चो को पालती है, उसी तरह से ध्यान दीक्षा मन से की जाती है।"

इसके अतिरिक्त एक शब्द-दीक्षा होती है। इस तरह से स्पर्श, भाषण, दर्शन और सकल्प यह चार प्रकार की दीक्षा हुई, जिसे स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम कहते हैं--

विद्धि स्थूल सूक्ष्म सक्ष्मतर सूक्ष्मतममपि क्रमत ।
स्पर्शनभाषणदर्शनसङ्कल्पनजत्वतश्चतुर्व्रातम् ।।

शिवागम मे तीन प्रकार की दीक्षा का विवेचन है—

शाभवी चैव शाक्तीच मान्त्री चैव शिवागमे ।
दीक्षेपदिश्यतेत्रेधा शिवेन परमात्मना ।।

"परमात्मा शिव ने शिवागम मे तीन प्रकार की दीक्षा--शाभवी, शाक्ती और मान्त्री का उपदेश दिया है।"

शाम्भवी दीक्षा के लक्षण इस प्रकार वर्णित किए हैं—

गुरोरालोकमात्रेण भाषणात्स्पर्शनादपि ।
सद्य सञ्जायते ज्ञान सा दीक्षा शाभवीयता ।
देशिकानुग्रहेणैव शिवता व्यक्तकारिणी ।
सेयन्त शभवी दीक्षा शिवादेशस्य कारिणी ।।
चरणद्वयसभूता शाभवी शीघ्रसिद्धदा ।

"सामर्थ्यवान गुरु की दृष्टि, भाषण व स्पर्श से वह शक्ति का सचार करते हैं, तब शिष्य में दिव्य ज्ञान की उत्पत्ति होती है। गुरु-कृपा और शिष्य के सौभाग्य से आत्म-साक्षात्कार की स्थिति जिससे आती है, उसे शाम्भवी दीक्षा कहा गया है। गुरु अपने अनुग्रह से शिष्य को कृतार्थ कर देते हैं। शिव-शक्ति के समायोग चरणद्वय से सम्यक् प्रकार से दी हुई यह यह शाम्भवी दीक्षा सिद्धि प्रदान करती है।"

वायवीय सहिता मे कहा है कि गुरु दृष्टि और स्पर्श से एक क्षण मे ही स्वरूप स्थित कर देते हैं। यही शाम्भवी दीक्षा है।

रुद्र यामल के अनुसार शिव के चरण-द्वय से सम्पन्न दीक्षा ही शाम्भवी है। चरण-द्वय का अभिप्राय है—शिव और शक्ति दोनो के चरण।

शाम्भवी दीक्षा से स्वरूप स्थिति का कारण बताते हुए शास्त्र मे कहा गया है कि गुरु की दृष्टि से शिष्य का सहस्रार प्रफुल्लित हो जाता है, जिससे उसे समाधि की स्थिति प्राप्त हो जाती है।

शाक्ती-दीक्षा का वर्णन शास्त्रो मे इस प्रकार किया गया है कि कुण्डलिनी ही शक्ति है, उसका जागरण करके ब्रह्मनाडी मे होकर शिव के साथ मिला देना ही शाक्ती-दीक्षा कहलाती है। इसमे कुण्डलिनी जागरण के लिए गुरु-शिष्य के अन्तर मे प्रवेश करते है और अपनी शक्ति से यह क्रिया सम्पन्न करते हैं। इसमे गुरु-शक्ति की ही विशेषता है। शास्त्र मे,कहा है—

शाक्ती ज्ञानवती दीक्षा शिष्यदेहे प्रविश्यतु।
गुरुणा योग-मार्गेण क्रियते ज्ञानचक्षुषा॥

"ज्ञानवती शाक्ती दीक्षा उसी को कहते हैं, जिसमे गुरु योग-शक्ति से शिष्य के शरीर मे प्रवेश करते हैं और अपने ज्ञान चक्षुओ से दीक्षित करते हैं।"

शाक्ती शक्तिभवा दीक्षा शक्ति श्रीपरकुण्डली।
तस्याः प्राण विलोमेन प्रवेश. परशम्भवे॥

शक्ति से होने वाली शाक्ती-दीक्षा श्री परकुण्डली है। उसके प्राण विलोम से परशम्भव मे प्रवेश हो जाता है।

मान्त्री दीक्षा के लक्षण इस प्रकार बताए गए हैं—

मत्र मार्गानुसारेण साक्षात् कृतेष्टदेवताम् ।
गुरुश्चोद्बाधयेच्छिष्य मत्रदीक्षेति सोच्यते ।।
स्वय मत्रतनुभू त्वा सक्रम मत्रमादरात् ।
दद्यात् शिष्याय मा दीक्षा मात्रीमलविघातिनी ।।
मात्री मत्रोद्भवादीक्षा तच्छक्ति स्वात्मसम्भवा ।
मत्र यत्रार्चनादुक्तक्रियाभिर्भोगमोक्षदा ।

"मन्त्र मे उत्पन्न होने वाली दीक्षा को मात्री दीक्षा कहा जाता है, उसकी शक्ति अपनी ही आत्मा से सम्भून हुप्रा करती है। मन्त्र जाप तथा यन्त्र का अर्चन मे उक्त क्रियाओ के द्वारा वह भोग और मोक्ष दोनो का प्रदान करने वाली होती है।"

मन्त्र-मार्ग मे आणवी दीक्षा इस प्रकार दी जाती है—

मत्रार्चनासनन्यास ध्यानोपचारकादिभि. ।
दीक्षा सा आणवी प्रोक्ता यथाशास्त्रोक्तरूपिणी ।।
शिवशक्तिसमायोगाज्जन्मान्तरकृनात् शुभात् ।
शवपूजानुसन्धानात् कर्मसाम्य यदा भवेत् ।।
शिव एव तदा साक्षादाणव्यादीक्षया भवेत् ।
सर्वेपामेव दीक्षाणा मुक्ति फलमखण्डितम् ।।

अर्थात् 'मन्त्र, अर्चना आसन न्यास ध्यान, उपचार आदि के द्वारा जो दीक्षा होती है, वह आणवी दीक्षा कही गई है और शास्त्रो के अनुसार उक्त रूप वाली होती है। शिव-शक्ति के समायोग से तथा अन्य जन्मो मे किए हुए शुभ कर्म से तथा शिव की पूजा के अनुसन्धान से जिस समय कम का साम्य हो जाता है उस समय मे आणवी दीक्षा से साक्षात् शिव ही हो जाया करता है। सभी दीक्षाओ का फल

अखण्डित है और मुक्ति अर्थात् जन्म-मरण के बारम्बार आवागमन स छुटकारा पाना होता है।"

नाम क्रिया-भेद से दीक्षा के अनेको भेद है। आगवी दीक्षा क दस भेदो का वर्णन करते हुए कहा गया है—

स्मार्त्ती मानसिकी योगी चाक्षुषी स्पार्शिको तथा।
वाचिकी मान्त्रिकी होत्री शास्त्री चेत्यभिषेचिका॥

"स्मार्त्ती, मानसी, योगी, चाक्षुसी, स्पर्शिकी, वाचिकी, मान्त्रिकी, होत्री, शास्त्री और अभिषेचिका—यह दस प्रकार की दीक्षाएँ हैं।"

'शारदा पटल' मे चार प्रकार की दीक्षाओ का वर्णन है—

चतुर्विधा सा सन्दिष्टा क्रियावत्यादि भेदत.।
क्रियावती वर्णमयी कलात्मावेधमय्यपि॥

अर्थात् "क्रिया आदि के भेद से वह चार प्रकार की सन्दिष्ट की गई है। क्रियावती, वर्णमयी, कलात्मा और वेधमयी—यही उसके चार प्रकार होते है।"

सुविधा की दृष्टि मे दीक्षा के दो भेद भी कर लिए गये है—बाह्य और आन्तरिक।

दीक्षा च द्विविधा प्रोक्ता बाह्याभ्यन्तर भेदत।
क्रियादीक्षा भवेद्बाह्या वेधाख्याभ्यन्तरी मता॥
द्विधादीक्षासाधारा च निराधारा तथैव च।
नित्ये नमित्तिके काम्ये यस्याश्चैवाधिकारिता॥
साधारा सा समाख्याता निराधारा च मुक्तिदा।
निर्मला सा च विज्ञेया कथ्यते तत्वचिन्तकै॥

अर्थात् "दीक्षा दो प्रकार की बतलाई गई है—एक बाह्य होती है और दूसरी आभ्यन्तर हुआ करती है। जो क्रिया-दीक्षा है, वह बाह्य होती है तथा जो वेधनाम वाली दीक्षा है वह आभ्यन्तरी मानी गई है।

दोनों प्रकार की दीक्षा आधार से युक्त तथा बिना आधार वाली होती है। नित्य नैमित्तिक और काम्य मे जिसकी अधिकारिता हुआ करती है, वह साधार दीक्षा कहलाती है। जो निराधार दीक्षा है, वह मुक्ति प्रदान करने वाली होती है। इसे तत्वों के चिन्तन करने वालों के द्वारा निर्मला दीक्षा कहा जाता है। अतः उसे निर्मला ही जानना चाहिए।

प० गोपीनाथ कविराज ने दीक्षा भेदों का वर्णन करते हुएकहा है—

"आगम के अनुसार साधारणतया अध्वाओं के वैचित्र्य से दीक्षा-भेद इस प्रकार है—कलादीक्षा १, तत्वदीक्षा ५, पददीक्षा १, मन्त्रवर्ण-भुवनदीक्षा ३, केवल भुवनदीक्षा १, सब मिलाकर ११ है।

तत्वदीक्षा के अवान्तर भेद हैं—

एकतत्व दीक्षा, त्रितत्व दीक्षा, पञ्चतत्व दीक्षा, नवतत्व दीक्षा और छत्तीस तत्व दीक्षा। ये सब पाँच प्रकार की हैं, किसी-किसी स्थान पर अठारह तत्वों की दीक्षा का भी वर्णन दीख पडता है, छत्तीस तत्व तो सर्वत्र सुप्रसिद्ध ही हैं। अठारह तत्व इस प्रकार हैं—शब्दादि ५, मन, बुद्धि, अहङ्कार, गुण, प्रकृति— ५, पुरुष, नियति, काल, माया, विद्या, ईश्वर, सदाशिव और शक्ति— ८ कुल १८। नवतत्व हैं—प्रकृति, पुरुष, नियति, काल, माया, विद्या, ईश्वर, सदाशिव और शिव। पञ्चतत्व इस प्रकार हैं—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश। तीन तत्व इस प्रकार हैं—आत्मतत्व (विज्ञानकाल पर्यन्त), विद्यातत्व (ईश्वर पर्यन्त) और शिव-तत्व (शेष सब तत्व)। एक तत्व याने शिवतत्व, जिस प्रक्रिया मे जिस तत्व या जिन तत्वों को मुख्य रूप से ग्रहण किया जाता है, वहाँ अन्यान्य तत्वों का अन्तर्भाव समझना चाहिये क्योंकि वहाँ उक्त तत्वों का प्राधान्य है तथा और तत्वों का गुणभाव है। ये ग्यारह प्रकार की दीक्षायें अध्वगत भेद के अनुसार कही गई हैं।"

इनके अनन्तर ज्ञान-दीक्षा से लेकर सब दीक्षाओं की संख्या १२ होती है। इनमे से प्रत्येक के सबीज, निर्बीज तथा सद्यो-निर्वाणदायिनी भेद से तीन अवान्तर भेद होते हैं। इस प्रकार दीक्षाओं

की कुल संख्या ३६ है। आचार्य की दीक्षा केवल सबीज ही होती है, वह बारह प्रकार की है—साधक लोकधर्मी तथा शिवधर्मी भेद से दो प्रकार के होते हैं, इसलिए साधक-दीक्षा २४ प्रकार की है (१२×२)। समयी का षडध्वन्यास नहीं होता, ज्ञान तथा क्रिया से उनका हृदादि या ग्रन्थि-भेदन हो जाता है। इसीलिए इस दृष्टि से उनकी दीक्षा दो प्रकार की होती है। कुल दीक्षा भेद ७४ हैं (३६+१२+२४+२) इनमे सकल, निष्कल, अघोरेश्वरी आदि के अनुष्ठान और लोककर्मी साधक के अवान्तर वैचित्र्यों के कारण तथा भौतिक, नैष्ठिक आदि भेदों के कारण दीक्षा के असंख्य भेद हैं।"

समय-दीक्षा—

जब गुरुदेव शिष्य को हृदय से आशीर्वाद देना चाहते हैं, तो शिष्य के मस्तक पर शिवहस्त का अर्पण करते हैं। इसी को 'समय दीक्षा' कहा जाता है। शिवहस्त के स्पष्टीकरण से लिए शास्त्र का वचन है—

> ब्रह्मप्रपञ्चसंयुक्तं शिवेनाधिष्ठितं शिवं ।
> पाशच्छेदकरं क्षेमी शिवहस्तः प्रकीर्तितः ॥

अर्थात् "ब्रह्म प्रपञ्च से संयुक्त शिव, शिव के द्वारा अधिष्ठित । शिव का हस्त, पाशों के छेदन करने वाला तथा क्षेमप्रद कहा गया है।"

यह दीक्षा उसे दी जाती है, जिसके हृदय में मन्द शक्तिपात से महाभक्ति की उत्पत्ति हो ताकि वह गुरु व देवता की पूजा कर सके और

के कोई बन्धन है। इसमें कर्म-समूह का परिपाक होता है, क्योंकि कर्म परिपक्व हुए बिना नष्ट भी नहीं होते। इस दीक्षा से पूर्णत्व की प्राप्ति सम्भव नहीं। इससे तो पूजा, पाठ, हवन, ध्यान आदि की पात्रता ही प्राप्त होती है।

पुत्रक दीक्षा—

निशिसंचार और लोमसंचार तन्त्र में इसका वर्णन है। वागीश्वरी के गर्भ में दूसरा जन्म होने के कारण जो दीक्षा लेता है, उसे 'पुत्रक' कहा जाता है। इसीलिए इसे 'पुत्रक दीक्षा' कहते हैं। जैसे समय दीक्षा में ईश्वर-पद में प्रतिष्ठित होता है, वैसे ही पुत्रक दीक्षा में परम तत्त्व में स्थिरता मिलती है। तान्त्रिक भाषा में इससे शुद्ध देह की प्राप्ति होती है। यह देह भी उच्च श्रेणी की है, परन्तु फिर भी उसमें पूर्णता की प्राप्ति सम्भव नहीं है।

निर्वाण दीक्षा—

पुत्रक के बाद निर्वाण दीक्षा का क्रम है। पुत्रक दीक्षा लेकर जब साधक दीर्घकाल तक साधना करता है तभी निर्वाण दीक्षा का अधिकार प्राप्त करता है। समय व पुत्रक की अपेक्षा इसका महत्व विशेष है, क्योंकि इसके प्रभाव से शिवपद में योग होना सम्भव है, समय और पुत्रक में ऐसा नहीं हो सकता। समय दीक्षित साधक का पूर्व जाति-सम्बन्ध बना रहता है। अतः उसकी पशुत्व निवृत्ति नहीं होती। उसकी देह भी अशुद्ध मानी जाती है। पुत्रक की देह तो अशुद्ध नहीं रहती वरन् विशुद्ध हो जाती है, परन्तु इतना होने पर भी आणव मल की निवृत्ति नहीं होती। अतः शिवपद में योग नहीं हो पाता। निर्वाण में मल परिपक्व हो जाता है, तभी शिवपद में योग होने की आशा रहती है।

की कुल संख्या ३६ है। आचार्य की दीक्षा केवल सबीज ही होती है, वह बारह प्रकार की है—साधक लोकधर्मी तथा शिवधर्मी भेद से दो प्रकार के होते हैं, इसलिए साधक-दीक्षा २४ प्रकार की है (१२×२)। समयी का अध्वन्यास नहीं होता, ज्ञान तथा क्रिया से उनका हृदादि या ग्रन्थि भेदन हो जाता है। इसीलिए इस दृष्टि से उनकी दीक्षा दो प्रकार की होती है। कुल दीक्षा भेद ७४ हैं (३६+१२+२४+२) इनमे सकल, निष्कल, अघोरेश्वरी आदि के अनुष्ठान और लोककर्मी साधक के अवान्तर वैचित्र्यो के कारण तथा भौतिक, नैष्ठिक आदि भेदो के कारण दीक्षा के असंख्य भेद है।"

समय-दीक्षा—

जब गुरुदेव शिष्य को हृदय से आशीर्वाद देना चाहते हैं, तो शिष्य के मस्तक पर शिवहस्त का अर्पण करते हैं। इसी को 'समय-दीक्षा' कहा जाता है। शिवहस्त के स्पष्टीकरण से लिए शास्त्र का वचन है—

> ब्रह्मप्रपञ्चसंयुक्तं शिवेनाधिष्ठितं शिवं ।
> पाशच्छेदकरं क्षेमी शिवहस्तः प्रकीर्तितः ॥

अर्थात् "ब्रह्म प्रपञ्च से संयुक्त शिव, शिव के द्वारा अधिष्ठित। शिव का हस्त, पाशो के छेदन करने वाला तथा क्षेमप्रद कहा गया है।"

यह दीक्षा उसे दी जाती है, जिसके हृदय मे मन्द शक्तिपात से श्रद्धाभक्ति की उत्पत्ति हो ताकि वह गुरु व देवता की पूजा कर सके और मन्त्र ग्रहण करने की योग्यता प्राप्त कर सके। यह दीक्षा सर्वसाधारण को दी जाती है। इसमे ईश्वर तत्व की पूजा-पात्रता प्राप्त होती है। इस दीक्षा का वर्णन दीक्षोत्तर तन्त्र, स्वच्छन्द तन्त्र और देवी यामल मे आता है। इस दीक्षा मे सभी का समान अधिकार स्वीकार किया गया है। इसमे भेद-भाव का कोई नियम नहीं है और न ही जाति और आश्रम

के कोई बन्धन है। इसमें कर्म-समूह का परिपाक होता है, क्योंकि कर्म परिपक्व हुए बिना नष्ट भी नहीं होते। इस दीक्षा में पूर्णत्व की प्राप्ति सम्भव नहीं। इसमें तो पूजा, पाठ, हवन, ध्यान आदि की पात्रता ही प्राप्त होती है।

पुत्रक दीक्षा—

निशिसचार और योगसचार तन्त्र में इसका वर्णन है। वागीश्वरी के गर्भ में दूसरा जन्म होने के कारण जो दीक्षा लेता है, उसे 'पुत्रक' कहा जाता है। इसीलिए इसे 'पुत्रक दीक्षा' कहते हैं। जैसे समय दीक्षा से ईश्वर-पद में प्रतिष्ठित होता है, वैसे ही पुत्रक दीक्षा से परम तत्व में स्थिरता मिलती है। तान्त्रिक भाषा में इससे शुद्ध देह की प्राप्ति होती है। यह देह भी उच्च श्रेणी की है, परन्तु फिर भी इसमें पूर्णता की प्राप्ति सम्भव नहीं है।

निर्वाण दीक्षा—

पुत्रक के बाद निर्वाण दीक्षा का क्रम है। पुत्रक दीक्षा लेकर जब साधक दीर्घकाल तक साधना करता है तभी निर्वाण दीक्षा का अधिकार प्राप्त करता है। समय व पुत्रक की अपेक्षा इसका महत्व विशेष है, क्योंकि इसके प्रभाव से शिवपद में योग होना सम्भव है, समय और पुत्रक में ऐसा नहीं हो सकता। समय दीक्षित साधक का पूर्व जाति-सम्बन्ध बना रहता है। अतः उसकी पशुत्व निवृत्ति नहीं होती। उसकी देह भी अशुद्ध मानी जाती है। पुत्रक की देह तो अशुद्ध नहीं रहती वरन् विशुद्ध हो जाती है, परन्तु इतना होने पर भी आणव मल की निवृत्ति नहीं होती। अतः शिवपद में योग नहीं हो पाता। निर्वाण में मल परिपक्व हो जाता है, तभी शिवपद में योग होने की आशा रहती है।

वेध दीक्षा—

ततो वेधमयी वक्ष्ये दीक्षा ससारमोचिनीम् ।
ध्यायेच्छिष्यतनोमध्ये मूलाधारे चतुर्दले ॥
त्रिकोणमध्ये विमले तेजस्त्रयविजृम्भिते ।
वलयत्रयसयुक्ता तडित्कोटिसमप्रभाम् ॥
शिवशक्तिमयी देवी चेतनामात्रविग्रहाम् ।
सूक्ष्मा सूक्ष्मतरा शक्ति भित्त्वा षट् चक्रपङ्कजम् ॥
गच्छन्ति मध्यमार्गेण दिव्या परशिवावधि ।
सहैवमात्मन, शक्ति वेधयेत्परमेश्वरे ॥

"यह वेध दीक्षा जगत् के पापो को नष्ट करने वाली है। गुरु का कर्तव्य है कि वह कोटि-कोटि विद्युत-पुञ्ज की भाँति प्रकाशमयी और शिवशक्तिमयी देवी कुडलिनी का ध्यान करे जो शिष्य के शरीर मे चतुर्दल मूलाधार कमल मे तीन तरह के रगो से मिले हुए विमल तेजत्रय से प्रकाशित त्रिकोण योनि-स्थान के मध्य मे त्रिवलयाकार रूप मे निवास करती है। कुडलिनी का चेतनामात्र ही विग्रह है। यह सूक्ष्म से सूक्ष्मतर शक्ति है। इस शक्ति को परशिव मे विलीन करने के लिए मध्य मार्ग सुषुम्ना मे प्रवेश कराके षट्चक्र का वेधन करे। इस तरह से ईश्वर के रूप का बोध कराने के लिए गुरु अपनी शक्ति का सञ्चार शिष्य मे करते हैं।"

गुरूपदिष्टमार्गेण वेध कुर्याद्विचक्षण ।
पाप मुक्त क्षणाच्छिष्यश्छिन्नपाशस्तया भवेत् ॥
बाह्यव्यापारनिर्मुक्तो भूमौ पतति तत्क्षणात् ।
सञ्जातदिव्यभावोऽसौ सर्व जानाति शाम्भवि ।
यदस्ति वेधक तत्तत्स्वयमेवानुभूयते ।

"परम्परा मार्ग से जब गुरु वेध-दीक्षा देते हैं, तो शक्तिपात से शिष्य पापो से मुक्त हो जाता है। वह बाह्य व्यापार से विमुक्त होकर

उसी समय भूमि पर गिर जाता है। ऐसा शिष्य गुरु के भाव का समझ जाता है। वह स्वयं भी दिव्यभाव को प्राप्त हो जाता है, अतएव वह भी सब कुछ जान जाता है।"

वेध दीक्षा के महत्त्व को प्रदर्शित करने के लिए कहा है—

प्रबुद्ध महसा शिष्यस्तत्सौख्यं लभते परमेश्वरि ।
वेधाविद्ध शिव. साक्षान्न पुनर्जन्मता व्रजेत् ॥
एषा तीव्रतरा दीक्षा भवबन्धविमोचिनी ।
शिवभावप्रदा देवि तवा शपे कुलनायिके ॥

'शक्तिपात से भूमि पर गिरने के बाद वह तत्काल ही होश मे आ जाता है, तब वह महासुख की अनुभूति करता है। ऐसी वेध दीक्षा जिसे मिलती है, वह भाग्यवान साक्षात्शिव ही हो जाता है, उसका फिर जन्म नही होता। ऐसी तीव्रतर दीक्षा भव बन्धन को नष्ट करने वाली और शिव-भाव प्रदान करने वाली है—ऐसा स्वयं शिव शपथ लेकर कहते है।"

चाक्षुषी दीक्षा द्वारा भी शक्तिपात किया जाता है। शतश्लोकी के ६१वें श्लोक मे इस प्रकार वर्णन है—

तद्ब्रह्मैवाहमस्मीत्यनुभव उदितो यस्यकस्यापि चेद्वै
पुस श्रीसद्गुरूणामतुलितकरुणापूर्ण पीयूषदृष्टया ।
जीवन्मुक्त स एव भ्रमविधुरमना निर्गतेऽनाद्युपाधौ
नित्यानन्दैकधाम प्रविशति परम नष्टसन्देहवृत्ति ।

"वह ब्रह्म मैं ही हूँ—इस प्रकार के अनुभव से अर्थात् उस ब्रह्म और मुझमे कोई भी भेद नही है, एक ही है। ऐसा जब अनुभव हो और उस अनुभव को प्राप्त करने का सौभाग्य जिस किसी को भी श्रीगुरु की अतुलित करुणा से पूर्ण पीयूषमयी दृष्टि मे प्राप्त हो जावे तो अनादि उपाधि के निगत हो जाने पर भ्रम से विधुर मन वाला वह ही पुरुष जीवन्मुक्त हो जाता है। उनकी जो सन्देह वृत्ति होती है, वह तो नष्ट ही

हो जाया करती है, फिर वह परम नित्यानन्दमय एक धाम मे प्रवेश कर जाया करता है।'

शिवधर्मी और लोकधर्मी दीक्षा--

साधक दो प्रकार के होते हैं—एक, भौतिक सुखो की कामना करते हैं, दूसरे पारलौकिक प्रगति की। एक सकाम उपासना करते हैं, दूसरे निष्काम। निष्काम साधक शिवधर्मी और सकाम साधक लोकधर्मी कहे जाते हैं। एक का लक्ष्य अलौकिक सुख है, दूसरे का लौकिक। शिवधर्मी दीक्षा से तीन प्रकार की सिद्धियो की उपलब्धि होती है-- १ योगेश्वर पद, २ मन्त्र पद, ३ सिद्ध सिद्धि और अणिमादि सिद्धियाँ। तन्त्र के अनुसार इस दीक्षा से अजर, अमर और स्थिर देह की प्राप्ति होती है। इस देह की स्थिरता प्रलयकाल तक रहती है।

लोकधर्मी दीक्षा मे मन्त्र की उपासना नही होती। यह भोगार्थी साधक है और अपने शुभ कर्मों के फल से ही सञ्चित अशुभ कर्मों के दुष्परिणामो को नष्ट करती है। सञ्चित शुभ कर्मों से इन्हे अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इस साधक मे वासना का प्राधान्य होता है। अत इन सिद्धियो के योग के लिए वह गुरु द्वारा ऊर्ध्व लोको मे भेजा जाता है। जब वहाँ भी उसकी तृप्ति नही होती, तो उसे उससे भी ऊपर के लोक मे भेजा जाता है, जब तक कि उस भोगो से वैराग्य न हो जाए। वैराग्य होने पर उसे परमेश्वर के निष्कल रूप से युक्त किया जाता है। तन्त्रा मे कहा है--

> लोकधर्मिणमारोप्य यते भुवनभर्तरि।
> तद्धर्मापादन कुर्याच्छिवे वा मुक्तिकाक्षिण ॥

"गुरु का कर्तव्य है कि वह लोकधर्मी साधक को इष्टभुवनेश्वर के स्वरूप मे और उसके धर्म से युक्त करे। यदि साधक मे मोक्ष की आकांक्षा हो, तो उसे शिव मे आरोपित करे और फिर उनके धर्मो से युक्त करे।"

गुरु साधक की मनोभूमि का अच्छी तरह निरीक्षण करके ही उसके अनुरूप दीक्षा देते हैं और इस ढंग से उसकी प्रगति कराते हैं, जो उसके स्तर और इच्छा के अनुरूप हो। दीक्षा मे पात्रता और योग्यता तो प्रथम सोपान है।

अन्तः दीक्षा—

गुरु तो साधक की वाह्य वृत्तियो को पात्रता के अनुसार अन्तर्मुख करने का प्रयत्न करते हैं। यह वृत्तियाँ शक्तियो मे परिणित हो जाती हैं। शास्त्र का भी यही कहना है—

> वहिर्मुखस्य मन्त्रस्य वृत्तयो या प्रकीर्त्तिता।
> ता एवान्तर्मुखस्यास्य शक्तय परिकीर्त्तिता.॥

"मन्त्र अर्थात् चित्त जब वहिर्मुख होता है, तो उसे वृत्ति के नाम से सम्बोधित किया जाता है। परन्तु जब वह अन्तर्मुख होता है, तो उसे 'शक्ति' कहते हैं।"

गुरु साधक को शक्ति-सम्पन्न करने के लिए उसकी वृत्तियो को अन्तर्मुख करते हैं। इस प्रयत्न अर्थात् दीक्षा को अन्तः-दीक्षा कहते हैं।

इससे स्पष्ट है कि तन्त्र-साधना मे दीक्षा एक अत्यन्त आवश्यक अंग माना जाता था, तभी हर स्तर के व्यक्ति के लिए विभिन्न प्रकार की दीक्षाओ के विधान की आवश्यकता पडी, ताकि किसी भी स्तर का व्यक्ति इससे वंचित न रहे। परन्तु तन्त्र विज्ञानके लुप्त होने से दीक्षा के व्यवहार में भी व्यवधान आ गया, क्योकि न अधिकारी गुरु रहे, न अधिकारी शिष्य। यदि इस विज्ञान का विकास किया जाए तो भारत की यह प्राचीन विद्या हमे गौरवान्वित कर सकती है।

• • •

शक्तिपात की वैज्ञानिक प्रक्रिया

परिभाषा—

जीव का परम उद्देश्य है जीवत्व से मुक्त होकर शिवत्व मे प्रवेश करना। यह तभी सम्भव है जब जीव वस्तुस्थिति का ज्ञान कर लेता है, वह अपनी आत्मस्थिति का अनुसधान करते हुए उसमे अवस्थित हो जाता है। स्वरूप स्थिति मे स्थायित्व प्राप्त करना ही मुक्ति द्वार तक पहुँचने का लक्षण है। इसके अभाव मे यह सफलता प्राप्त करना असम्भव है। इस स्वरूप स्थिति तक पहुँचने के लिए जो उपाय काम मे लाया जाता है, उसे 'शक्तिपात' कहते हैं।

तन्त्राचार्यो का मत है कि मुक्ति-मार्ग अवरुद्ध करने वाले मलावरण हैं। जब तक इन्हे नही हटाया जाता, मुक्ति का मार्ग प्रशस्त नही होता। इन मलो को ज्ञान और कर्म की सहायता से पूर्णत हटाने की क्षमता से तन्त्र असहमत है। सत्तात्मक पदार्थ होने के कारण मल की उपमा आँखो की जाली से दी जाती है। जिस तरह से मोतियाबिन्द के परिपक्व होने पर उसे शस्त्र-क्रिया से ही दूर किया जाना सम्भव है, उसी तरह मलो से निवृत्ति का उपाय तन्त्रो मे परम शिव का अनुग्रह ही बताया गया है। इस कृपा अथवा भगवदनुग्रह को ही शक्तिपात कहा जाता है।

शक्तिपात एक ऐसी आध्यात्मिक प्रक्रिया है जिसके माध्यम से सद्गुरु अपनी शक्ति को शिष्य मे सचरित करता है ताकि उसकी सुप्त

आध्यात्मिक शक्तियो का जागरण हो जाए अथवा उसकी बुद्धि अतीन्द्रिय वपय को समझ सके ।

शास्त्रो मे भी कहा है—

तत्पात शिष्येपु ।

"उस शक्ति का पात शिष्यो मे होता है।"

शिष्य पर गुरु द्वारा शक्ति उतारने की प्रक्रिया को शक्तिपात कहा जाता है ।

माधवाचार्य का मत यह है—

परमेश्वरस्वरूप भूतत्वेन सवगताया परशक्ते पतनासम्भवा-च्छिष्यस्यात्मनि प्रागेवावस्थिता सा पाशजालावृतत्वेनतिरोहिता सतीदीक्षासस्कारेणावरणापगमे सत्यभिव्यक्तिमासादयन्ती पतिते त्युपचयते । ऊर्ध्वदेशादधोदेशप्राप्तिर्हि पतन न खलु तादृशमस्या सम्भवतीति ।

इसका अभिप्राय यह है कि परमेश्वरस्वरूप सर्वगत पराशक्ति का पात नही हो सकता । शिष्य मे मल-कर्मादि पाश बन्धनो से घिरी हुई पूर्व अवस्थित आत्म-स्वरूपभूत पराशक्ति के दीक्षा-सस्कार के माध्यम से (मल-आवरणो को दूर करके) अभिव्यक्त किया जाता है । इस अभिव्यक्ति को ही शक्तिपात की सज्ञा दी गई है ।

गुरु-कृपा—

शक्तिपात गुरु कृपा पर निर्भर करती है । सद्गुरु सर्वतत्व वेत्ता और अध्यात्म-विद्या के जानने वाले होते है । 'मालिनी विजय' मे भी कहा है—

स गुरुमत्सम प्रोक्तो मन्त्रवीर्य प्रकाशक ।

अर्थात् "वही गुरु मेरे समान कहा गया है, जो मन्त्रो' के वीर्य का प्रकाश करने वाला हो ।'

सिद्धि के लिए शक्तिपात आवश्यक माना गया है, जिसके लिए गुरु ही एकमात्र साधन है—

शक्तिपातानुसारेण शिष्योऽनुग्रहमर्हति ।
यत्र शक्तिर्न पतति तत्र सिद्धिर्न जायते ॥

"शक्तिपात न होने से सिद्धि की प्राप्ति नही हो सकती। शक्तिपात के अनुसार ही तो शिष्य अनुग्रहीत होता है।"

सन्त तुकाराम ने भी अपने एक अभग मे इसी तथ्य पर बल देते हुए कहा है—"गुरु के बिना बिना मार्ग प्राप्त नही होता। अत सर्वप्रथम उनके चरणारवृन्दो का स्पर्श करो।" वह शरणागत वत्सल शिष्य को अपनी तरह ही बना लेते हैं। उन्हें इसमे कुछ भी समय नही लगता।"

इस गुरु-कृपा को शास्त्रो मे गुरुप्रसाद कहा गया है। इसके प्राप्त होने पर ही शिष्य का उद्धार होता है—

परिपक्वमला ये तानुत्सादनहेतुशक्तिपातेन ।
योजयति परे तत्वे स दीक्षयाचार्यमूर्तिस्थ. ॥

अर्थात् "जो परिपक्व मल वाले हैं और उनका उत्सादन करने के लिये शक्तिपात के द्वारा परतत्व मे जो योजित करता है, वही दीक्षा से आचाय की मूर्ति मे स्थिति रहने वाला है।"

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ

अर्थात् "जिसकी देव मे पराभक्ति है, वैसी ही गुरु में भी पराभक्ति देव की ही भाँति होनी चाहिए।"

अय गुरु प्रसाद स्ततोषात्प्रोप्यो न चान्यथा ।

अर्थात् "यह गुरु का प्रसाद है जो तोप से प्राप्त करने के योग्य होता है अन्यथा नही मिलता है।"

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिश्नेन सेवया ।

अर्थात् "उसको प्रणिपात के द्वारा—परिप्रश्न से और सेवा के द्वारा जानना चाहिए।"

आत्मविद्या चानन्तमुंखस्य गुरुकारुण्यरतितस्य न वेदशास्त्रमात्रेणोत्पद्यते।

"आत्म-विद्या अनन्तमुंख—गुरु की दया से शून्य को केवल वेद-शास्त्र से उत्पन्न नही होती है।"

गुरु-कृपा से ही इस ससार को पार किया जा सकता है—

सद्गुरो. सम्पसादेऽस्य प्रतिवन्धक्षयस्तत ।
दुर्भावना तिरस्काराद्विज्ञाना मुक्तिदक्षणात् ॥

अर्थात् "सद्गुरु के सत्प्रसाद के होने पर मनुष्य के जो प्रतिवन्ध हुआ करते हैं, उनका क्षय हो जाता है। दुर्भावना का जब तिरस्कार होता है, तो विज्ञान एक ही क्षण मे मुक्ति देने वाला हो जाता है।"

माहात्म्य—

सूत सहिता मे शक्तिपात की महिमा का वर्णन करते हुए कहा गया है—

तत्वज्ञानेन मायाया बाधो नान्येन कर्मणा।
ज्ञान वेदान्तवाक्योत्थ ब्रह्मात्मैकत्वगोचरम् ॥
तच्च देवप्रसादेन गुरो साक्षान्निरीक्षणात् ।
जायते शक्तिपातेन वाक्यादेवाधिकारिणाम् ॥

'तत्व-ज्ञान के अतिरिक्त और किसी उपाय से माया का निराम नही हो सकता। यह तत्व-ज्ञान ब्रह्म और आत्मा की अभेद सिद्धि का निरूपण करने वाले वेदान्त वाक्यो से प्राप्त होता है। इसका अधिकार गुरु द्वारा शिष्य को शक्तिपात मे ही दिया जाता है।"

शक्तिपात समायोगादृते तत्वानितत्वत ।
तद्व्याप्ति स्तद्विशुद्धिश्च ज्ञातुमेव न शक्यते ॥

—शिवपुराण वायवी सहिता

अर्थात् "शक्तिपात के समायोग के अभाव मे तत्वत तत्वो का ज्ञान, आत्मा की व्यापकता और उसके शुद्ध-बुद्ध स्वरूप का ज्ञान कभी भी सम्भव नही है।"

तन्त्र का यही मत है कि शक्तिपात अथवा भगवन् कृपा के बिना जीव को पूर्णत्व की प्राप्ति नही हो सकती।

सन्त ज्ञानेश्वर ने 'ज्ञानेश्वरी' टीका मे लिखा है कि शक्तिपात होने पर, होने को तो वह जीव ही रहता है परन्तु वह महेश्वर के समान माना जाता है।

लाभ—

शक्तिपाताद्विशेषेण।

शक्तिपात के द्वारा विशेषता से शक्ति जाग उठती है। इसमे विशेषता यही है कि बिना शिष्य के परिश्रम के गुरु-कृपा से शक्ति का जागरण हो जाता है। इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए शिष्य को बहुत कष्ट सहने पडते हैं और साधना मे असावधानी बरती जाए तो हानि उठाने की भी सम्भावना रहती है।

शक्तिपात होने पर यौगिक क्रियाओ की अपेक्षा नही रहता। वह साधक की प्रकृति के अनुरूप स्वरूप होने लगती है। प्रबुद्ध कुण्डलिनी ब्रह्मरन्ध्र की ओर प्रवाहित होने के लिए छटपटाती है, इसी से सभी क्रियाएँ होने लगती हैं। व्यवहारिक रूप मे ऐसा देखा गया है कि जिन साधको ने कोई अभ्यास नहीं किया था और न ही विशेष अध्ययन किया था, वह इन क्रियाओ को ऐसे करने लगते हैं, जैसे वह वर्षों से इसका अभ्यास कर रहे हो। हठयोग की क्रियाओ मे थोडी-सी त्रुटि होने पर बहुत हानि उठाने की सम्भावना रहती है, परन्तु इस साधक के अभ्यास मे आ जाती है और आसन, प्राणायाम, मुद्रा आदि अपने आप होने लगते हैं। इसे गुरु-कृपा का ही प्रसाद समझना चाहिए।

शक्तिपात से साधक के आत्मिक क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन हो जाता है। उसमें भगवद्भक्ति का विकास, विश्वात्मा का प्रकाश होता है, मन्त्र-सिद्धि होती है जिससे श्रद्धा-विश्वास का जागरण होता है, सब शास्त्रों का अर्थज्ञान हो जाता है, सब तत्वों को स्वायत्त करने की सामर्थ्य प्राप्त होती है, शरीर-भाव जाता रहता है, शिवत्व लाभ होता है। रत्नमाला आगम की साक्षी है—

यस्मिन्काले तु गुरुणा निर्विकल्पं प्रकाशितम्।
तदैव किल मुक्तोऽसौ यन्त्रं तिष्ठति केवलम्॥

"जिस समय गुरु-कृपा से निर्विकल्प बोध हो जाता है, तब उसे मुक्ति-लाभ होता है, केवल वह यंत्र की तरह ही जीवन व्यतीत करता है।"

कृष्ण के शक्तिपात से किस तरह अर्जुन को आत्मानुभूति हुई, इसका हृदयानुग्राही वर्णन ज्ञानेश्वरी गीता में हुआ है—"तब भगवान ने अर्जुन को दायां हाथ फैलाकर अपने हृदय से लगा लिया। दोनों हृदय एक हो गए। जो कुछ एक में था, वह दूसरे में डाल दिया। द्वैत भी बना रहा परन्तु अर्जुन को भगवान ने अपने जैसा बना लिया।" यही गुरु-कृपा का विशेष लाभ होता है।

शास्त्र के अनुसार—

शक्तिपातेन संयुक्ता विद्या वेदान्तवाक्यजा।
यदा यस्य तदा तस्य विमुक्तिर्नात्र संशयः॥

"शक्तिपात से संयुक्त साधक को जब वेदान्त वाक्यों की विद्या प्राप्त होती है, उसी समय से उसे मुक्ति प्राप्त होती है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है।"

लक्षण—

शक्तिपात का मुख्य लक्षण है—साधक में भगवद्भक्ति का उन्मेष होना। सत्वर मन्त्र की सिद्धि भी प्राप्त होती है। वह सभी प्राणधारियों को अपने अनुकूल बनाने की योग्यता वाला हो जाता है।

उसके प्रारब्ध कर्म समाप्त हो जाते हैं, उनके बिना भोगे ही उसकी मुक्ति हो जाती है। ऐसा तब तक होता रहता है जब तक शरीर रहता है, उसके साथ सुख-दु ख तो सयुक्त रहते ही है, उनका उस पर कोई विशेष प्रभाव नही पडता, वह अलिप्त भाव से उन्हे ग्रहण करता है। सभी परिस्थितियो मे आनन्द की मुद्रा ही उसकी विशेष मुद्रा बन जाती है। साधक पर समस्त शास्त्रो का ज्ञान प्रकट हो जाता है और उमे कविता रचने की सामर्थ्य प्राप्त हो जाती है।

शास्त्रो मे शक्तिपात के लक्षण इस प्रकार से वर्णित किए गए हैं।

देहपातस्तथा कम्प परमानन्दहर्षणे।
स्वेदो रोमञ्च इत्येतच्छक्तिपातस्य लक्षणम् ॥
शिष्यस्य देहे विप्रेन्द्रा. धरण्या पतितेसति।
प्रसाद. शाङ्करस्तस्य द्विज सञ्जात एव हि ॥
यस्य प्रसाद सञ्जातो देहपातावसानक ।
कृतार्थ एव विप्रेन्द्रा न स भूयोऽभिजायते ॥

"शक्तिपात होते ही शरीर भूमि पर गिर जाता है, कम्पन होने लगते हैं, मन मे अपार प्रसन्नता का उदय होता है और परम आनन्द की प्राप्ति होती है, जिमसे रोमाच होता है, प्रस्वेद होता है। इम तरह से शक्तिपात से देहपात के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगें तो यह जानना चाहिए कि शिव की कृपा हुई। शक्तिपात से देहपात के लक्षण आने पर कृतार्थता का भ ना चाहिए, क्योकि इसके बाद फिर जन्म करने ग्र ी रहती।"

प्रमादस्य स्वरूप तु मया नारायणेन च ।
रुद्रेणापिमुरा वक्तु न शक्य कल्पकोटिभि ॥
केवल लिङ्गगम्य तु न प्रत्यक्ष शिवस्य च ।
शिवायाश्च हरे साक्षान्मम,चान्यस्य चास्तिका ॥

"देहधारियो के कर्मों की समता होने पर भी रुद्र का प्रमाद आचार्य के अवलोकन से हे सुरगण ! विशिष्ट अतिशय वाला जाना गया था। उस प्रमाद का स्वरूप मेरे द्वारा, नारायण के द्वारा और रुद्र के द्वारा भी हे सुरगण ! करोडो कल्पो मे भी बताया नहीं जा सकता है। केवल लिंगगम्य है, शिव का प्रत्यक्ष तो होता ही नही। हे नास्तिको ! शिव का—हरि का—मेरा और अन्य का भी साक्षात् नहीं होता है।

प्रहर्ष स्वरनेत्राङ्गविक्रिया कम्पन तथा ।
स्तोम शरीरपातश्च भ्रमण चोद्गतिस्तथा ॥
आकाशेऽवस्थितिर्देवा शरीरान्तरसस्थिति ।
अदर्शन च देहस्य प्रकाशत्वेन भासनम् ॥
अनधीतस्य शास्त्रस्य स्वत एव प्रकाशनम् ।
निग्रहानुग्रहे शक्ति पर्वतादेश्च भेदनम् ॥
एवमादीनि लिङ्गानि प्रकाशस्य सुरर्षभा ।
तीव्रतीव्रतर शम्भो प्रसादो न समो भवेत् ॥
एवरूप प्रसादश्च शिवया च शिवेन च ।
ज्ञायते न मया नान्यैर्नैव नारायणेन च ॥
अत. सर्वं परित्यज्य शिवादन्यत्तु दैवतम् ।
तमेव शरण गच्छेत्सद्यो मुक्ति यदीच्छति ॥

अर्थात् "प्रकृष्ट हर्ष का उत्पन्न होना, स्वर, नेत्र और अङ्गो विशेष की क्रिया का होना, कम्पन, स्तोम, शरीर का पात, भ्रमण, उद्-गति, आकाश मे अवस्थान, अन्य शरीर में सस्थिति हे देवगण ! देह का

दिखलाई न देना, प्राणरूप मे भासित होना, अधीत शास्त्र का स्वत ही प्रकाशन होना, निग्रह और अनुग्रह शक्ति तथा पर्वत आदि का भेदन हे सुरश्रेष्ठो ! इसी प्रकार के लिंग हैं, जो प्रकाश के होते हैं। तीव्र से भी तीव्रतर शम्भु का प्रसाद सम नही होता है। इस प्रकार के रूप वाले प्रसाद को शिवा—शिव के द्वारा ही जाना जाता है। मेरे द्वारा, अन्यो के द्वारा और नारायण के द्वारा नही जाना जाता है। अतएव अन्य सभी देवो को त्याग शिव की शरण मे जाओ, यदि सत्य हो मुक्ति की इच्छा रखते हो।"

सति तस्मिश्च चिह्नानि तस्यैतानि विलक्षयेत ।
तत्रैतत्प्रथम चिह्न रुद्र भक्ति. सुनिश्चला ॥
द्वितीयमन्त्रसिद्धिस्स्यात्सद्य प्रत्ययकारिका ।
सर्वगत्व वशित्व च तृतीय तस्य लक्षणम् ॥
प्रारब्ध कर्म निष्पत्तिश्चिह्नमाहुश्चतुर्थकम् ।
कवित्व पञ्चम ज्ञेय सालङ्कारमनोहरम् ॥
सर्व शास्त्रार्थ वेतृत्व अकस्मात्तस्य जायते ॥

अर्थात् "उसके होने पर उसके इन चिन्हो को देखना चाहिए। उनमे प्रथम चिन्ह यही है कि रुद्र मे सुनिश्चल भक्ति है। दूसरा मन्त्र की सिद्धि है जो तुरन्त ही विश्वास कराने वाली है। तीसरा उसका लक्षण यह है कि समस्त जीवो को वश मे कर लेना है। प्रारब्ध कर्म की निष्पत्ति चौथा चिन्ह है। कवित्व पाँचवाँ चिन्ह है, जो अलकारो से युक्त परम सुन्दर हो। अकस्मात ही सब शास्त्रो का ज्ञाता होना उसको पैदा हो जाता है।"

राम को गुरु वशिष्ठ से जब यह प्रसाद प्राप्त हुआ था अर्थात् वशिष्ठ ने जब राम को शक्तिपात का प्रसाद दिया था, तो राम को इस भौतिक जगत् से वैराग्य हो गया, राजवैभव की सभी सुख-सुविधाओ का तो त्याग ही दिया। खाना, पीना, पहनना और ओढ़ना आदि साधारण क्रियाएँ भी उनसे छूट गई तो किसी तरह स उन्हे राज-सभा मे बुलवाया

गया। वहाँ ऋषियों ने उन्हें उपदेश दिया। वहाँ पर महर्षि विश्वामित्र भी उपस्थित थे। उन्होंने महर्षि वशिष्ठ को सम्बोधित करते हुए कहा—

हे वशिष्ठ महाभाग ब्रह्मपुत्र महानसि।
गुरुत्व शक्तिपातेन तत्क्षणादेव दर्शितम्॥

"हे महाभाग वशिष्ठ! तुम ब्रह्मा के पुत्र हो। तुमने राम के प्रति शक्तिपात करके अपने गुरुत्व का तत्क्षण ही प्रदर्शन कर दिया है।"

घटनाएँ—

शास्त्रों में यत्र तत्र गुरु-कृपा से शिष्य के शक्तिपात के उदाहरण उपलब्ध हो जाते हैं। कहा जाता है कि स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने स्वामी विवेकानन्द पर शक्तिपात कर उनकी शक्ति का जागरण किया था। तभी नास्तिक नरेन्द्र स्वामी विवेकानन्द बन सके। सन्त ज्ञानेश्वर के अनुसार भगवान कृष्ण ने अर्जुन पर शक्तिपात किया था।

सन्त एकनाथ की भागवत टीका में यदु-अवधूत सवाद में दत्तात्रेय द्वारा यदु पर शक्तिपात करने की घटना दी गई है। इसमें स्पर्श-दीक्षा से आत्मबोध कराया गया। आलिंगन करते ही आनन्द का स्रोत उमड पड़ा। जब वह अन्दर न रोका जा सका, तो बाहर स्वेद और नेत्राश्रुओं के रूप में निकल पड़ा। शरीर का अंग-अंग खिलखिला-सा उठा। रोमांच होने लगा, मन अमन हो गया, देहभाव की सुधि बुधि न रही। अंगों में कम्पन आ गया। सकल्प-विकल्प की समाप्ति हुई। शिष्य ने अपना जीव भाव गुरु को समर्पित किया। इसमें शक्तिपातके सभी लक्षण आ गए हैं।

सत एकनाथ ने भागवत टीका में अपने जनार्दन स्वामी का भी उदाहरण दिया है कि उन्हें किस प्रकार दत्तात्रेय द्वारा शक्तिपात का अनुग्रह प्राप्त हुआ। वह अपने गुरु को दत्तात्रेय की शिष्य-परम्परा में

मानते हैं। गुरु ने शिष्य के मस्तक पर हाथ रखा और शक्ति का जागरण हो गया।

प्रकार—

शक्तिपात तीन प्रकार का होता है—तीव्र, मध्य और मन्द। इन तीनो के तीन भेद होते हैं। भेद होने के कारण उनके लाभो मे अन्तर तो स्वाभाविक ही है, जैसे विद्युतचालित पंखे मे मन्द, मध्य और तीव्र गति का प्रभाव तुरन्त वायु की गति से परिलक्षित होने लगता है। उदाहरण के लिए तीव्र शक्तिपात के तीन प्रकार हैं—तीव्र-तीव्र, मध्य तीव्र और मन्द तीव्र। तीव्र तीव्र शक्ति के आगे तीन भेद हैं—अत्यन्त तीव्र, मध्य तीव्र और मन्द तीव्र। अत्यत तीव्र से उसी समय शरीर छूट जाता है। मध्य-तीव्र तीव्र मे कुछ समय लगता है और मन्द तीव्र-तीव्र से अपने आप ही शरीर का नाश होता है। अत्यत तीव्र-तीव्र मे तो प्रारब्ध कर्मों का भी नाश ही हो जाता है। शेष मे भी प्रारब्ध का नाश शक्तिपात की तीव्रता पर निर्भर करता है।

तीव्र तीव्र शक्तिपात से तो शरीर का नाश होना है, परन्तु मध्य तीव्र मे ऐसा नही होता, उसमे अज्ञान का नाश और ज्ञान का उदय होता है। इस ज्ञानार्जन से कर्मो का क्षय होता है। गीता के शब्दो मे—

यथेध सि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा॥

अर्थात् "हे अर्जुन! तेजी से जली हुई अग्नि जिस तरह ईंधनो को जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार ज्ञान रूपी अग्नि भी समस्त कर्मों को भस्मसात् कर दिया करती है।"

मन्द तीव्र शक्तिपात से मन मे विवेक के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न होती है, सद्गुरु की प्राप्ति की इच्छा जाग्रत होती है। तत्व को जानने की उत्कंठा ही इसका लक्षण है। इच्छा होने पर सद्गुरु की प्राप्ति भी

होती है। गुरु की प्राप्ति होने पर जिज्ञासाओं का शमन होता है। शिष्य मुक्तिपथ की ओर अग्रसर होता है।

अधिकार—

शक्तिपात के लिए गुरु की सामर्थ्य का होना तो आवश्यक है, परन्तु शिष्य को इसके लिए कोई तैयारी नहीं करनी पड़ती। तैयारी की आवश्यकता न होने पर भी उसका अधिकार तो उसे प्राप्त होना ही चाहिए अन्यथा शक्तिपात तो एक खेल मात्र बनकर रह जायेगा। इस अधिकार के लिए शास्त्र ने कुछ मर्यादाएँ नियत की हैं, उनका पालन व विकास आवश्यक है, तभी वह सद्गुरु का पात्र बन पाता है। शिष्य में किन गुणों का विकास होना चाहिए। इसका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

"जो इन्द्रियों को जीतने वाला, ब्रह्मचारी, गुरुभक्त हो, उसी के सम्मुख यह रहस्य प्रकट करना उचित है।'

—हंसोपनिषद्

"इस पैप्पलाद ऋषि को प्राप्त हुए महाशास्त्र को चाहे जिस किसी को न देना चाहिए। नास्तिक, कृतघ्न, दुर्वृत्त, दुरात्मा, दाम्भिक, नृशंस, शठ और असत्यभाषी को इसे कदापि न दे। जो सुव्रतधारी, सच्चा भक्त, शुद्ध वृत्ति वाला, सुशील, गुरुभक्त, शमदम वाला, धर्मबुद्धि वाला, ब्रह्मचर्य में चित्त लगाने वाला, भक्ति-भावना वाला हो, कृतघ्न न हो उसी को इसे देना चाहिए। यदि ऐसा न मिले, तो किसी को न देकर उसकी रक्षा करनी चाहिए।"

—शरभोपनिषद्

"यह ज्ञान शंकर का महान् शास्त्र है। उसे जो कोई नास्तिक, कृतघ्नी, दुराचारी, दुरात्मा हो उसको नहीं देना। पर जिसका अन्तःकरण गुरु भक्ति से शुद्ध हो, ऐसे व्यक्ति को एक महीना, छः

महीना या वर्ष भर तक परीक्षा करने के उपरान्त ही इस शास्त्र को देना ।"

—तेज बिन्दु उपनिषद्

"यह ब्रह्म का ज्ञान उसे नही देना चाहिए, जो अत्यन्त शान्त न हो, जो पुत्र न हो, शिष्य न हो और एक वर्ष पास न रहा हो। अनजान कुल शील वाले को भी नही देना चाहिए और न सुनाना चाहिए। जिसको परमात्मा के ऊपर और परमात्मा के समान ही गुरु के ऊपर परम भक्ति हो, उसी के लिये यह वाक्य कहे गये हैं और ऐसी आत्मा को ही ये प्रकाशवान करते हैं।"

—सुबाल उपनिषद्

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्
प्रशान्त चित्ताय शमान्विताय।
येनाक्षर पुरुष वेद सत्य
प्रोवाच ता तत्वतो ब्रह्म विद्याम्।

—मुण्डक १।२।१३

"वह ज्ञानी गुरु उस श्रद्धापूर्ण, शान्तचित्त एव तितिक्षा और साधना निष्ठ शिष्य को ब्रह्म-विद्या का उपदेश करे, जिससे वह अविनाशी सत्स्वरूप आत्मा को जानले।"

यह भी ध्यान रखने की बात है कि सत्पात्र, श्रद्धालु और विश्वासी शिष्य ही गुरु कृपा का लाभ उठा सकता है। जिसमे यह गुण नही, उस ऊसर भूमि मे किसी भी गुरु का बोया गया ज्ञान-बीज नही जम सकता है। गुरु के एक पक्षीय प्रयत्न से भी शिष्य का कल्याण नहीं हो सकता। दोनो ही पक्षो की श्रेष्ठता से गुरु-शिष्य सयोग का सच्चा लाभ मिलता है। कहा भी है—

गुरुश्चेदुद्धरत्यज्ञमात्मीयात्पौरुषादृते।
उष्ट्र दान्त वलीवर्द तत्कस्मान्नोद्धरत्यसौ।

—योग वशिष्ठ ५।४३।१६

"यदि गुरु किसी अविचारी और पुरुषार्थहीन का उद्धार कर सकते होते तो ऊँट, हाथी, बैल आदि का उद्धार क्यों न करते ?"

मच्छिद्रव्यन्नु कुलेशानि शुभलक्षणसयुतम् ।
समाधिसाधनोपेत गुणशीलसमन्वितम ॥
स्वच्छदेहाम्बर प्राज्ञ धार्मिक शुद्धमानसम् ।
दृढव्रत सदाचार श्रद्धाभक्तिसमन्वितम् ॥
दक्षमल्पाशिन गूढचित्त निर्व्याजसेवकम् ।
वितृष्णकारिण वीर मतोदारिद्र्यवर्जिजनम ॥

अर्थात् "जो व्यक्ति समाधि के साधनों, गुण और शील से समन्वित हो, वही दीक्षा का श्रेष्ठ अधिकारी है। जो स्वच्छ वस्त्र धारण करने वाला, धार्मिक शुद्ध मन वाला, दृढ व्रती, सदाचारी, श्रद्धा-भक्ति से युक्त, विचारवान, उदारचित्त, गम्भीर, मिताहारी, समस्त कर्मों मे दक्ष, अभिमान शून्य, वीर और निष्काम भाव वाला है, वही दीक्षा का अधिकार रखता है।"

शिष्य के भी गुरु के प्रति अनेक कर्तव्य हैं। उन सबमे आवश्यक कर्तव्य है सच्ची श्रद्धा और भक्ति-भावना का होना। यही वह आकर्षण है, जिसके बल पर शिष्य गुरु के हृदय में से आवश्यक सहायता और कृपा प्राप्त कर सकता है। यदि बछडा थन को चूमेगा नही, तो गाय उसके मुख मे अपना दूध उडेल नही सकेगी। जिसके मन मे भक्ति-भावना का अभाव है, केवल चिन्ह-पूजा के लिए अथवा प्रयोजन विशेष के लिए किसी गुरु को वरण किया है, तो ऐसे लोग वह प्रसाद प्राप्त नही कर सकते, जो श्रद्धा-भावना वाले शिष्य प्राप्त करते हैं।

शिष्य को आरम्भ मे गुरु-भक्ति की स्थापना हृदय मे करनी पडती है और यही आगे चलकर ईश्वर-भक्ति के रूप मे परिणित हो जाती है। गुरु-भक्ति ईश्वर-भक्ति का ही प्रारम्भिक एव स्थूल रूप है। प्रारम्भिक शिष्यों के लिए इसकी उपयोगिता बताते हुए कहा गया है—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिता ह्यार्था प्रकाशन्ते महात्मन । प्रकाशन्ते महात्मन ।

—श्वेताश्वतरोपनिषद्

"जिसके मन मे परमात्मा की भक्ति के समान ही गुरु की भी भक्ति है, उसी महान् आत्मा वाले के हृदय मे यह ज्ञान प्रकाशित होता है ।"

शक्तिपात का अधिकार प्राप्त करने के लिए निष्काम भाव का विकास अत्यन्त आवश्यक है । गीता मे भी कहा है—

कर्मज बुद्धियुक्ता हि फल त्यक्त्वा मनीषिण. ।
जन्मबन्ध विनिर्मुक्ता पद गच्छन्त्यनामयम् ।

—गीता २।५१

अर्थात् "समत्व बुद्धि से युक्त जो ज्ञानी पुरुष कर्मफल का त्याग करते हैं, वे जन्म के बन्धन से मुक्त होकर ईश्वर के दु ख विरहित पद को जा पहुँचते हैं ।"

तभी भगवान ने कहा है—

न मा कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मा योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥

—गीता ४।१४

अर्थात् "मुझे कर्म का लेप अर्थात् बाधा नही होती, क्योकि कर्म के फल मे मेरी इच्छा नही है । जो मुझे इस प्रकार जानता है, उसे कर्म की बाधा नही होती ।"

ऐसा निष्काम साधक ही शक्तिपात का उत्तम अधिकारी माना जाता है । इसे पर-शक्तिपात कहा जाता है ।

जिनमे निष्कामता का अभाव रहता है और फल की इच्छा रहती है, उन्हे निम्न कोटि का अधिकार प्राप्त होता है । इसे अपर-शक्तिपात कहा जाता है । निष्काम साधक के लिए गुरु को बाह्य उपकरणो की आवश्यकता नही रहती परन्तु जिनमे इस गुण का अभाव रहता है,

उनके लिये बाह्य उपकरणो की अपेक्षा रहती है और शास्त्रीय मर्यादा का पालन करना पड़ता है।

वैज्ञानिक प्रक्रिया—

शक्तिपात एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है, जिसमे गुरु शक्ति का सचार शिष्य मे करता है। गुरु को आध्यात्मिक शक्तियो से ओत-प्रोत होना आवश्यक बताया गया है। उनके षट्चक्र और कुडलिनी का जागरण होना आवश्यक है, तभी वह शिष्य के इन महत्वपूर्ण केन्द्रो को प्रभावित कर सकता है। शिष्य की यह शक्तियाँ सुप्त अवस्था मे होती हैं, उन्हे जगाना मात्र होता है। माचिस की डिब्बी पर जलाने की सामर्थ्य वाली सामग्री लगी रहती है, परन्तु वह अपने आप नही जल सकती। उसे जलाने के लिए बाह्य उपकरण की अपक्षा रहती है जो उसमे विद्यमान शक्तियो को उत्तेजित कर सके। माचिस की तीली पर भी ऐसी रासायनिक सामग्री लगी रहती है, जो डिब्बी पर लगी सामग्री को उत्तेजित करने की क्षमता रखती है। शक्तिपात वही व्यक्ति कर सकता है, जो अपनी आध्यात्मिक शक्तियो को एकत्रित करना जानता है।

साधारणत हाथ के स्पर्श से शक्तिपात किया जाता है। आधुनिक विज्ञान की भी यही मान्यता है कि हाथ के पोरुओ मे विद्युत का सचार रहता है और अपनी प्राण-विद्युत को दूसरे के शरीर मे प्रवेश करके उसके शरीर व मन मे परिवतन लाये जा सकते हैं। हिप्नोटिज्म आदि कुछ ऐसी वैज्ञानिक प्रणालियो का आविष्कार किया जा चुका है, जिनमे हाथ की विद्युत मे चमत्कारिक अनुभूतियाँ दिखाई देती हैं। भारतीय सन्त तो लाखो वर्षो से इस अभ्यास को करते आ रहे हैं। वे हाथ के स्पर्श व मार्जन आदि क्रियाओ से कष्टसाध्य रोगो का निवारण तक करते देखे गये हैं। यह जादू नही, वैज्ञानिक सत्य है कि हमारे प्राणो में रोग-निवारक शक्ति होती है। जब बच्चे को चोट लगती है, तो माँ उस स्थान पर फूँक देती है और बच्चा सुख अनुभव करता है। रोता

हुआ बच्चा जब गोद मे आता है, चुप हो जाता है, क्योंकि वह व्यक्ति के शरीर की विद्युत के स्पर्श मे आता है और उसके शरीर मे एक शक्तिशाली प्रवाह दौडने लगता है। प्रियजनो का चुम्बन, उनसे आलिंगन, हाथ मिलाना और गुरुजनो के चरण स्पर्श से असाधारण प्रसन्नता प्राप्त होती है। इन क्रियाओ की सफलता मे भी यही रहस्य निहित है कि एक व्यक्ति की विद्युत दूसरे के शरीर मे उस क्रिया विशेष के माध्यम से प्रवेश करती है।

भारतीय ऋषि जानते थे कि किस माध्यम से शक्ति का सचार सरल रीति से होना सम्भव है। प्राण-विद्युत तो सारे शरीर मे रहती है, परन्तु उसका सचार प्रमुख रूप से हाथो से ही किया जा सकता है, वैसे आलिंगन भी एक सशक्त प्रक्रिया है। सामर्थ्यवान गुरु के सारे शरीर मे शक्ति की विद्युत का प्रवाह चलता है, जो भी उससे स्पर्श करता है, उस शक्ति से लाभान्वित होता है, परन्तु यदि उसका सचार एक विशेष विधि-विधान और प्रबल इच्छा-शक्ति से किया जाए तो उसका प्रभाव विशेष होता है। शक्तिपात जिन परिस्थितियो मे किया जाता है, दोनो पक्षो की ओर से पवित्र और अनुकूल भावनाओ का आदान-प्रदान होता है, इससे उस प्रक्रिया को और अधिक बल प्राप्त होता है।

शक्तिपात मे निष्कामता परिलक्षित होती है। जिसके पास शक्ति का भडार एकत्रित हो गया है, वह उसे अपने तक सीमित नही रखना चाहता वरन् योग्य पात्रो को वितरण करना चाहता है। यह जनहित की भावना ही समाज मे सुव्यवस्था लाने मे सहायक सिद्ध होती है। आजकल स्थिति विपरीत है। अपने अहं की पुष्टि और विस्तार के लिए वह अपनी विद्या को अपने तक ही सीमित रखना चाहता है। जिनके पास किसी प्रकार का भी भडार एकत्रित हो गया है, वह उसका नाजायज लाभ उठाना चाहता है। प्राचीन काल मे ऐसा न था। वे समाज के उत्थान मे विश्वास करते थे। शिष्य की शक्तियो को विकसित

करने के लिए गुरु प्रयत्नशील रहते थे, चाहे वे विद्या भौतिक हो या आध्यात्मिक। शक्तिपात तो उदार हृदय का प्रत्यक्ष प्रमाण है,जिससे गुरु अपनी शक्ति का व्यय करके शिष्य की सामर्थ्य को बढाता है। अपने तप की पूँजी मे से खर्च करके शिष्य को देना परमार्थ और निस्वार्थ भावनाओ का परिणाम है। यह परम्परा निरन्तर चलती रहती है। जब शिष्य की शक्तियो का पूर्ण विकास हो जाता है, तो वह अपने से कम विकसित व्यक्तियो को ऊँचा उठाने का प्रयत्न करता है। वह इसे अपना नैतिक उत्तरदायित्व समझता है।

अत शक्तिपात एक ऐसा वैज्ञानिक और आध्यात्मिक साधन है, जिससे सुप्त शक्तियो का जागरण किया जाता है।

• • •

कुण्डलिनी शक्ति-जागरण और प्रभाव

पिंड को ब्रह्मांड का एक छोटा नमूना बताया गया है। वृक्ष का सारा कलेवर एक छोटे-से बीज मे समाया रहता है। नन्हे-से क्षुद्र कीट मे मनुष्य-शरीर का ढांचा विद्यमान है। सौर-मण्डल के ग्रहो का पारस्परिक आकर्षण और क्रिया-कलाप जिस ढग से चलता है, उसको एक नन्ही-सी प्रक्रिया परमाणु परिवार के इलेक्ट्रोन, न्यूट्रोन, प्रोटोन आदि प्रदर्शित करते हैं। इसी प्रकार समस्त ब्रह्मांड मनुष्य-देह-पिंड मे--एक लघु कलेवर मे दृष्टिगोचर होना है। हमारी इस छोटी-सी देह मे वह सब कुछ विद्यमान है, जो इम निखिल विश्व ब्रह्मांड मे उपस्थित दृश्य और अदृश्य इकाइयो मे पाया जाता है। इस पृथ्वी की समस्त विशेषताओ को भी हम अपनी इस छोटी-सी देह मे विद्यमान देख सकते हैं।

पृथ्वी की समस्त शक्तियो, विशेषताओ और विभूतियो के केन्द्र उसके सन्तुलन बिन्दु उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव हैं। यही से वह सूत्र-सचालन होता है, जिसके कारण यह धरती एक सजीव पिंड एव अगणित जीवधारियो की क्रीडा-स्थली बनी हुई है। यदि ध्रुवो की स्थिति मे किसी प्रकार आघात पहुंच जाय या परिवर्तन उपस्थित हो जाय, तो फिर इस भू-मडल का स्वरूप बदलकर कुछ और ही तरह का हो जायगा। कहा जाता है कि किसी ध्रुव के सन्तुलन केन्द्र-बिन्दु पर यदि

एक घूँसा मार देने जितना आघात भी पहुँचा दिया जाय, तो यह पृथ्वी अपनी कक्षा से लाखों करोड़ों मील इधर-उधर हट जायगी और तब दिन, रात्रि, ऋतु, वर्षा, गर्मी आदि का सारा स्वरूप ही बदलकर किसी दूसरे क्रम में परिणत हो जायगा। यह छोटा-सा घूँसा-आघात भू पिंड को किसी अन्य ग्रह-नक्षत्र से टकराकर चूर-चूर हो जाने की स्थिति में डाल सकता है। कारण स्पष्ट है—ध्रुव ही तो सारी धरती का नियन्त्रण करते हैं और उन्हीं के शक्ति सन्धान कठपुतली की तरह इस भू-मंडल का विभिन्न क्रीडा-कलाप करने की प्रेरणा एवं क्षमता प्रदान करते हैं। दोनों ध्रुव ही तो इसकी क्रिया और चेतना के केन्द्र-बिन्दु हैं।

जिस प्रकार पृथ्वी में चेतना एवं क्रिया उत्तरी-दक्षिणी ध्रुवों में से प्राप्त होती है, उसी प्रकार मानव पिंड-देह के भी दो ही अति सूक्ष्म शक्ति-संस्थान हैं। उत्तरी ध्रुव है—ब्रह्मरन्ध्र—मस्तिष्क सहस्रार कमल। दक्षिणी ध्रुव है—सुषुम्ना संस्थान—कुंडलिनी केन्द्र मूलाधार चक्र। पौराणिक कथा के अनुसार क्षीर-सागर में, सहस्र फन वाले सर्प पर विष्णु भगवान शयन करते हैं। यह क्षीर-सागर मस्तिष्क में भरा श्वेत सघन स्नेह सरोवर ही है। सहस्रार कमल एक ऐसा परमाणु है, जो अन्य कोषों की तरह गोल न होकर आरी के दाँतों की तरह कोण-कलेवरों में आवेष्ठित है। इन दाँतों को सर्प-फन कहते हैं। चेतना का केन्द्र-बिन्दु—इसी ध्रुवकरण में प्रतिष्ठित है। चेतन और अचेतन मस्तिष्कों के अगणित घटकों को जो इन्द्रियजन्य एवं अतीन्द्रिय ज्ञान प्राप्त होता है, उसका आधार यही ध्रुव-विष्णु अथवा सहस्रार कमल है। ध्यान से लेकर समाधि तक और आत्मा-चिन्तन से भक्तियोग तक की सारी आध्यात्मिक साधनायें तथा मनोबल, आत्म-बल एवं संकल्पजन्य सिद्धियों का केन्द्र-बिन्दु इसी स्थान पर है।

दूसरा दक्षिण ध्रुव—मूलाधार चक्र, सुमेरु-संस्थान, सुषुम्ना-केन्द्र है। जो मल-मूत्र के स्थानों के बीचों-बीच अवस्थित है। कुंडलिनी,

महासर्पिणी, प्रचंड क्रिया-शक्ति इसी स्थान पर सोई पड़ी है। उत्तरी ध्रुव का महासर्प अपनी सहचहरी सर्पिणी के बिना और दक्षिणी ध्रुव की महासर्पिणी अपने सहचर महासर्प के बिना निरानन्द मूर्छित जीवन व्यतीत करते हैं। मनुष्य-शरीर विश्व की समस्त विशेषताओं का प्रतीक प्रतिबिम्ब होते हुए भी तुच्छ-सा जीवन व्यतीत करते हुए—कीट पतंगों की मौत मर जाता है, कोई महत्वपूर्ण उपलब्धि प्राप्त नहीं कर पाता। इसका एकमात्र कारण यही है कि हमारे पिंड के, देह के दोनों ध्रुव मूर्छित पड़े हैं, यदि वे सजग हो गये होते, तो ब्रह्मांड जैसी महान् चेतना अपने पिंड में भी परिलक्षित होती।

मूत्र-स्थान यों एक प्रकार से घृणित एवं उपेक्षित स्थान है। पर तत्त्वतः उसकी सामर्थ्य मस्तिष्क में अवस्थित ब्रह्मरन्ध्र जितनी ही है। वह हमारी सक्रियता का केन्द्र है। नाक, कान आदि छिद्र भी मल विसर्जन के लिए प्रयुक्त होते हैं, पर उन्हें कोई ढकता नहीं। मूत्र-यन्त्र को ढकने की अनादि एवं आदिम परिपाटी के पीछे वह सतर्कता है, जिसमें यह निर्देश है कि इस संस्थान से जो अजस्र शक्ति प्रवाह बहता है, उसकी रक्षा की जानी चाहिये। शरीर के अन्य अङ्गों की तरह यों प्रजनन अवयव भी मांस-मज्जा मात्र से ही बने हैं, पर उनके दर्शन मात्र से मन विचलित हो उठता है। अश्लील चित्र अथवा अश्लील चिन्तन जब मस्तिष्क में उथल-पुथल पैदा कर देता है, तब उन अवयवों का दर्शन यदि भावनात्मक हलचल को उच्छृङ्खल बनादे तो आश्चर्य ही क्या? यहाँ यह रहस्य जान लेना ही चाहिये। मूत्र संस्थान के मूल में बैठी हुई कुंडलिनी शक्ति प्रसुप्त स्थिति में भी इतनी तीव्र है कि उसकी प्रचंड धारायें खुली प्रवाहित नहीं रहने दी जा सकती हैं। उन्हें आवरण में रखने से उनका अपव्यय बचता है और अन्यों के मानसिक संतुलन को क्षति नहीं पहुँचती। छोटे बच्चों को भी कटिबन्ध इसीलिये पहनाते हैं। ब्रह्मचारियों को धोती के अतिरिक्त लंगोट भी बाँधे रहना पड़ता है। पहलवान भी ऐसा ही करते हैं। संन्यास और वानप्रस्थ में भी यही प्रक्रिया अपनानी पड़ती है।

ब्रह्मरध्र मस्तिष्ककी सामर्थ्य से हम सभी परिचित हैं पर कुडलिनी क्रिया-शक्ति के केन्द्र विन्दु मूलाधार का रहस्य बहुत कम लोगो को मालूम है। उसी सस्थान का जादू है कि मनुष्य अपने समान एक नये मनुष्य को बना कर तैयार कर देता है, जबकि भगवान् भी अपने जैसा नया भगवान् बना सकने का साहस न कर सका। इन अवयवो का पारस्परिक स्पर्श होने से नर नरी के बीच एक असाधारण भावना प्रवाह बहने लगता है। साथी के दुश्चरित्र और अविश्वस्त होने की बात मानते हुए भी परस्पर इतना आकर्षण हो जाता है कि व्यभिचार परायण नर-नारी भी एक दूसरे के लिये सभी मर्यादायो को तोडकर रोग,कलक, पाप, परिवार-विग्रह एव धन हानि की क्षति उठाते दखे गये हैं। विशुद्ध दाम्पत्य जीने वाले पति-पत्नी के पारस्परिक आकर्षण का केन्द्र जहाँ उनकी धर्म भावना है, वहाँ वह शारीरिक क्रिया कलाप भी हैं, जिनके कारण कुडलिनी विन्दुओ का स्पर्श एक दूसरे के शरीर एव मन पर जादुई प्रभाव डालता है और एक दूसरे को अपना वशवर्ती कर लेता है।

शिव लिंग के पूजा-प्रचलन में एक महान् आध्यात्मिक तत्व-ज्ञान का सकेत है, जिसमे व्यक्ति को सचेत किया गया है कि वह शरीर के इस अवयव मे ईश्वरीय दिव्य शक्ति का अति उत्कृष्ट अश समाविष्ट समझे और इस ब्रह्माड को ईश्वर की क्रियाशक्ति—कुडलिनी का प्रतीक माने। शिवलिंग का जल-अभिषेक करने का एक तात्पर्य यह भी है कि इस शक्ति के महान् लाभो को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि उसे शीतल रखा जाय, उद्दीप्त न होने दिया जाय। योगी-यती अपनी साधनाओं में यह तत्वज्ञान सजोये ही रहते हैं कि उन्हे ब्रह्मचर्यपूर्वक रहना चाहिए, ताकि पिंड की—देह की—मूलाधार क्रियाशक्ति कुडलिनी का अपव्यय न हो और वह वहिर्मुखी होकर अस्त-व्यस्त बनने, उच्छृङ्खल होने की अपेक्षा लौटकर ऊर्ध्वगामी दिशा पकडती हुई ब्रह्म-रन्ध्र अवस्थित महासर्प के साथ तादात्म्य होकर परमानन्द—ब्रह्मानन्द का लक्ष्य प्राप्त कर सके।

कुडलिनी का एक अमोघ चमत्कार प्रजनन-शक्ति—काम-क्रीडा और उसकी अनुभूतियो और प्रतिक्रियाओ के रूप में देखा और समझा जाता रहा है। इस रूप मे उसका उपयोग करने की इच्छा बोधवान् बालको से लेकर अशक्त वयोवृद्धो तक मे पाई जाती है, भले ही वे उसे मूर्त्त रूप दने मे तरुणो की तरह सफल न हो सके। इतना मात्र परिचय वस्तुत' बहुत ही स्वल्प है। कुडलिनी काम-वासना के रूप मे हमे जितना प्रभावित करती है, उससे लाखो गुना अधिक प्रभावित वह कर सकती है, सर्वांगीण—सर्वतोमुखी—क्रिया शक्ति के रूप मे। भू-खडो को काटकर वीरान बनाती चलने वाली उच्छृङ्खल नदियो को जब बाँध के रूप मे रोका और नहरो के रूप मे प्रवाहित किया जाता है, तो उससे सहस्रो एकड जमीन सींची जाती और उससे प्रचुर धन-धान्य की उत्पत्ति होती है। ठीक इसी प्रकार प्रजनन-शक्ति को कामुकता की उच्छृङ्खलता से रोककर यदि अन्य रचनात्मक कार्यों मे लगा दिया जाय, तो उसके सत्परिणाम आश्चर्यजनक होते हैं। इस तथ्य को ध्यान मे रखते हुए आध्यात्मिक साधनाओ मे इन्द्रिय सयम को—ब्रह्मचर्य को बहुत महत्व दिया गया है।

मल मूत्र स्थान के मध्य अवस्थित मूलाधार चक्र का केन्द्र-बिन्दु एक तिकोना कण है, जिसे 'सुमेरु' अथवा कूर्म कहते कहते हैं। शरीर मे समस्त जीवन-कण गोल हैं, केवल दो ही ऐसे है जिनकी आकृति मे अन्तर है—एक ब्रह्मरन्ध्र स्थित सहस्रार कमल नाम से पुकारा जाने वाला आरी की नोको जैसी आकृति का ब्रह्मरध्र—उत्तरी ध्रुव। दूसरा मूलाधार मे अवस्थित चपटा, बीच मे उठा हुआ—कछुए की आकृति वाला—दक्षिणी ध्रुव। इन दोनो पर ही जीव की सारी आधारशिला रखी है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर के—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय कोशो के—अन्त करणचतुष्टय मे, सप्त प्राणो के—मूलाधार यही दो ध्रुव हैं। इन्ही की शक्ति और प्रवृत्ति से हमारा वाह्य और अन्तरङ्ग जीवन-क्रम चलते रहने मे समर्थ होता है।

उत्तरी ध्रुव सहस्रार कमल मे विक्षोभ उत्पन्न करने और उसकी शक्ति को अस्त-व्यस्त करने का दोष, लोभ, मोह, अहङ्कार जैसी दुष्प्रवृत्तियो का है। मस्तिष्क उन चिन्तनो मे दौड जाता है, तो उसे आत्म-चिन्तन के लिए—ब्रह्मशक्ति सचय के लिये अवसर ही नही मिलता। इसी प्रकार दक्षिणी ध्रुव—मूलाधार मे भरी प्रचण्ड क्षमता को कार्य-शक्ति मे लगा दिया जाय, तो मनुष्य पर्वत उठाने एव समुद्र मथने जैसे कार्यों को कर सकता है। क्रियाशक्ति मानव-प्राणी मे असीम है। किन्तु उसका क्षय कामुकता के विषय-विकारो में होता रहता है। यदि इस प्रवाह को गलत दिशा से रोककर सही दिशा मे लगाया जा सके, मनुष्य की कार्य-क्षमता साधारण न रहकर दैत्यो अथवा देवताओ जैसी हो सकती हैं।

पुराणो मे समुद्र-मन्थन की कथा आती है। यह सारा चित्रण सूक्ष्म रूप मे मानव शरीर में अवस्थित कुण्डलिनी शक्ति के प्रयोग प्रयोजन का है। हमारा मूत्र सस्थान खारी जल से भरा समुद्र है। उसे अगणित रत्नो का भाण्डागार भी कह सकते हैं। स्थूल और सूक्ष्म शक्तियो की सुविस्तृत रत्नराशि इसमें छिपी हुई है। प्रजापति के सकेत पर एक बार समुद्र मथा गया। देव और दानव इसका मन्थन करने मे जुट गये। असुर उसे अपनी ओर खीचते थे अर्थात् कामुकता की ओर घसीटते थे और सुर उसे रचनात्मक प्रयोजनो मे नियोजित करने के लिए तत्पर थे। इसी खीच तान को दूध में से मक्खन निकालने वाली बिलोने की, मन्थन-की क्रिया चित्रित की गई है।

समुद्र-मन्थन उपाख्यान मे यह भी वर्णन है कि भगवान ने कछुए का रूप बनाकर आधार स्थापित किया, उनकी पीठ पर सुमेरु पर्वत 'रई' के स्थान पर अवस्थित हुआ। शेषनाग के साढ़े तीन फेरे उस पर्वत पर लगाये गये और उसके द्वारा मन्थन-कार्य सम्पन्न हुआ। कच्छप और सुमेरु मूलाधार चक्र मे अवस्थित वह शक्ति-बीज है, जो

जो दूसरे कणो की तरह गोल न होकर चपटा है और जिसकी पीठ, नाभि, की ओर उभरी हुई है। इसके चारो ओर महासर्पिणी, कुडलिनी साढे तीन फेरे लपेटकर पडी हुई है। इसे जगाने का कार्य मन्थन का प्रकरण उद्दाम वासना के उभार और दमन के रूप मे होता है। सुर और असुर दोनो ही मनोभाव अपना-अपना जोर आजमाते हैं और मन्थन आरम्भ हो जाता है। कामुकता भडकाने और उसे रोकने का खेल ऐसा है, जैसे सिंह को क्रुद्ध और उत्तेजित करने के उपरात उससे लडने का साहस करना। कृष्ण की रासलीला का अध्यात्म-रहस्य कुछ इसी प्रकार का है। तन्त्र मे वर्णित पाँच भावो (मद्य, मांस, मीन, वा मुद्रा, मैथुन सेवन) में पाँचवा भाग मैथुन का है। उस प्रकरण की गहराई मे जाने और विवेचन करने का यह अवसर नहीं। यहाँ तो इतना ही समझ लेना पर्याप्त है कि कामुकता की उद्दीप्त स्थिति को प्रतिरोध द्वारा नियन्त्रित करने का पुरुषार्थ—समुद्र-मन्थन का प्रयोजन पूरा करता है।

समुद्र-मन्थन कुडलिनी की स्थूल प्रेरणा कामुकता को अन्य दिशा मे नियोजित करना है। यों कामुकता भी विषयानन्द और सन्तान लाभ का सुख देती है, पर यह दो छोटे लाभ नगण्य है। समुद्र-मन्थन मे १४ रत्न निकले थे। जिनमे अमृत, कल्प-वृक्ष, कामधेनु, जैसे अति उत्कृष्ट और अति महत्त्वपूर्ण भी थे। यह ऐतिहासिक अथवा पौराणिक उपाख्यान हमारे जीवन में चरितार्थ किया जा सकता है। कुडलिनी जागरण साधना मे काम वासना का निग्रह समुद्र-मन्थन की भूमिका प्रस्तुत करता है। यो आगे चलकर आत्म-प्राण और महा-प्राण को इडा-पिंगला के द्वारा सुषुम्ना तक पहुँचाने की साधना भी समुद्र-मन्थन का दूसरा कार्यक्रम प्रस्तुत करती है, पर उसका प्रथम सोपान तो इन्द्रिय निग्रह पर ही अवलम्बित है। उत्तरी ध्रुव महस्रार विचार-शक्ति का और दक्षिणी ध्रुव, मूलाधार क्रिया शक्ति का केन्द्र है। यह दोनो ही

शक्तियाँ अद्भुत एवं महान् हैं इनका समन्वय ही व्यक्ति की भौतिक एवं आत्मिक स्थिति को समुन्नत बनाने में समर्थ होता है। सहस्रार की क्रियात्मक साधनायें प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि स्तर की हैं। उनके अनेक प्रयोग और प्रयोजन हैं। उनकी चर्चा भी अन्यत्र की गई है। यहाँ तो कुण्डलिनी शक्ति का आरम्भिक परिचय कराना और उसका प्रथम सोपान प्रस्तुत करना ही अभीष्ट है। अस्तु यहाँ इतना समझना और समझाना ही पर्याप्त है कि हम कुण्डलिनी के स्थूल स्वरूप की महत्ता समझें अनुमान लगावें कि यदि इसे अन्तर्मुखी बनाकर प्रसुप्त दिव्य शक्तियों के जागरण में विधिवत् प्रयुक्त किया जा सके तो अद्भुत एवं अनुपम लाभ उपलब्ध किये जा सकते हैं।

लौकिक आनन्द का भी यदि कोई मूल्यांकन किया जाय, तो वह भी संयमी व्यक्तियों को ही प्राप्त होता है। कुण्डलिनी की सचित, परिपुष्ट एवं परिष्कृत शक्ति ही भौतिक प्रयोजनों को पूरा कर सकती है। जो इसके साथ खिलवाड करते रहते हैं, उन्हें तो शारीरिक अशक्ति और मानसिक अवसाद ही हाथ लगते रहते हैं। गृहस्थ जीवन में भी ब्रह्मचर्य की अधिकाधिक मर्यादाओं का पालन किया जाता रहे, तो उससे मनुष्य की शारीरिक एवं मानसिक दृढता अक्षुण्ण बनी रह कर अनेक महान् उद्देश्यों की पूर्ति हो सकती है।

• • •

नाद-साधना

सत-समाज का एक बहुत बडा वर्ग अनहद या अनाहत नाद की उपासना करता है। राधास्वामी, रैदास, कबीर और नानक आदि ने तो विशेष रूप से इसी योग का प्रचार किया था। इन सतो के अलग-अलग सम्प्रदाय बने, जिन्हे इसी साधना का उपदेश दिया गया।

आत्मोत्थान के लिए हमारे वेद-शास्त्रो मे जितने भी उपायो का प्रतिपादन किया गया है, उनमे नादयोग को उत्कृष्ट की सज्ञा दी गई है क्योकि मन की स्थिरता के लिए यह उपयोगी साधन सिद्ध हुआ है। योग और तात्रिक सभी प्रकार की साधनाओ मे इसका उच्च स्थान है। तात्रिक आचार्यो का मत है कि "जब (प्रणव शब्द) नाद सुनने में नही आता, वह विक्षिप्त, क्षिप्त अथवा मूढ दशा है, किन्तु जब नाद श्रुतिगोचर होता है, वह एकाग्र अवस्था ज्ञान की अवस्था है और जब नाद-श्रवण स्थगित हो जाता है—वह चित्त की निरोध अवस्था है, तब मन की वृत्ति नही रहती। सस्कार-मात्र रूप से मन विद्यमान रहता है, किन्तु यह सस्कार भी जब नही रहता, तब चिन्मात्र या शुद्ध आत्मा की स्वरूप स्थिति जाननी चाहिए।

हठयोग मे भी नाद-साधना का प्रतिपादन किया गया है। यहाँ इसे श्रेष्ठ साधना माना जाता है। इस योग में चार नाद-भूमियो का आरम्भ, घट, परिचय और निष्पत्ति का उल्लेख आता है। अन्तिम भूमि को सिद्धावस्था माना जाता है।

योगियों का विचार है कि जिस तरह गंगा का अवतरण विष्णु-पद से शिव के मस्तक पर हुआ था, उसी तरह यह नाद-गंगा के प्रवाह का अवतरण भी विश्व-कल्याण के लिए हुआ है। तान्त्रिकाचार्यों का कथन है कि यह नाद प्रवाह ऊपर से भ्रू-मध्य में गिरता है। इसीसे सारे विश्व की उत्पत्ति होती है और उत्पन्न होकर सारे जगत् में यही प्राण और जीवनी शक्ति के रूप में विद्यमान रहती है। मानव-शरीर में श्वास-प्रश्वास का खेल प्राण करता है। तान्त्रिक भाषा में इसे हंस कहते हैं। 'ह' शिव या पुरुष तत्व का और 'स' शक्ति या प्रकृति-तत्व का पर्याय है। जहां इन दोनों का मिलन होता है, वहीं नाद की अनुभूति होती है। तभी शिव-संहिता में कहा गया है—

न नादसदृशो लयः।

"मन को लय करने वाले साधनों में, नाद की तुलना करने वाला और कोई साधन नहीं है।"

भगवान शङ्कराचार्य ने भी 'योग तारावली' में नाद-तत्व की प्रशंसा की है—

सदा शिवोक्तानि सपादलक्ष—
लयावधानानि वसन्ति लोके।
नादानुसन्धानसमाधिमेकं
मन्यामहे मान्यतमं लयानाम् ॥
नादानुसन्धान नमोऽस्तु तुभ्यं
त्वामन्महे तत्वपदं लयानाम्।
भवत्प्रसादात् पवनेन साकं
विलीयते विष्णुपदे मनो मे ॥
सर्वचिन्तां परित्यज्य सावधानेन चेतसा।
नाद एवानुसन्धेयो योगसाम्राज्यमिच्छता ॥

"भगवान शिव ने मन के लय के लिये सवा लक्ष साधनों का

निर्देश किया है, परन्तु उन सबमे नादानुसधान ! सुलभ और श्रेष्ठ है। है। हे नादानुसधान ! आपको नमस्कार करता हूँ। आप परमपद मे स्थिति-लाभ कराते हैं। आपकी कृपा से मेरे प्राण और मन दोनो विष्णु के परम पद में लीन हो जायेंगे। यदि योग-साम्राज्य मे गति प्राप्त करने की आकाक्षा हो, तो समस्त चिन्ताओ से मुक्त होकर सावधानी से मन को एकाग्र करके अनहद नाद का श्रवण करो।"

परिभाषा—

ब्रह्मबिन्दोपनिषद् मे नाद-साधक को वेदज्ञ की सज्ञा दी गई है।

'शब्द' को ब्रह्म कहा है क्योंकि ईश्वर और जीव को एक शृङ्खला मे बाँधने का काम शब्द द्वारा ही होता है। सृष्टि की उत्पत्ति का प्रारम्भ भी शब्द से हुआ है। पच तत्वो मे सबसे पहिले आकाश बना, आकाश की की तन्मात्रा शब्द हैं। अन्य समस्त पदार्थोंकी भाँति शब्द भी दो प्रकारका हैं सूक्ष्म और स्थूल। सूक्ष्म शब्द को विचार कहते हैं और स्थूल शब्द को नाद।

ब्रह्म लोक से हमारे लिये ईश्वरीय शब्द-प्रवाह सदैव प्रवाहित होता है ईश्वर हमारे साथ वार्तालाप करना चाहता है, पर हम में से बहुत कम लोग ऐसे है जो उसे सुनना चाहते हैं या सुनने की इच्छा करते हैं। ईश्वर निरन्तर एक ऐसी विचारधारा प्रेरित करता है, जो हमारे लिए अतीव कल्याणकारी होती है। उसको यदि सुना और समझा जा सके तथा उसके अनुसार मार्ग निर्धारित किया जा सके तो निस्सन्देह जीवनोद्देश्य की ओर द्रुत गति से अग्रसर हुआ जा सकता है। यह विचारधारा हमारी आत्मा मे टकराती है।

हमारा अन्त करण एक रेडियो है, जिसकी ओर यदि अभिमुख हुआ जाय, अपनी वृत्तियो को अन्तर्मुख बनाकर आत्मा मे प्रस्फुटित होने वाली दिव्य विचार-लहरियो को सुना जाय, तो ईश्वरीय वाणी हमे प्रत्यक्ष मे सुनाई पड सकती है। इसी को आकाशवाणी कहते हैं। हमे क्या करना चाहिए, क्या नही ? हमे क्या उचित है और क्या

अनुचित ? इसका प्रत्यक्ष सन्देश ईश्वर की ओर से प्राप्त होता है। अन्त करण की पुकार आत्मा का आवेश, ईश्वरीय सन्देश, आकाशवाणी-विज्ञान आदि नामो से इसी विचारधारा को पुकारते हैं। अपनी आत्मा के यन्त्र को स्वच्छ करके जो इस दिव्य सकेत को सुनने मे सफलता प्राप्त कर लेते हैं, वे आत्मदर्शी एव ईश्वर-परायण कहलाते हैं।

ईश्वर उनके लिए बिलकुल समीप होता है, वे ईश्वर की बातें सुनते हैं और अपनी उससे कहते हैं। इस दिव्य मिलन के लिए हाड-मास के स्थूल नेत्र या कानो का उपयोग करने की आवश्यकता नही पडती। आत्मा की समीपता मे बैठा हुआ अन्त करण अपनी दिव्य इन्द्रियो की सहायता से इस कार्य को आसानी से पूरा कर लेता है। यह अत्यन्त सूक्ष्म ब्रह्म शब्द, विचार तब तक धुँधले रूप मे दिखाई पडता है, जब तक कषाय-कल्मष आत्मा मे बने रहते हैं। जितनी आन्तरिक पवित्रता बढती जाती है, उतने ही वह दिव्य सन्देश बिलकुल स्पष्ट रूप मे सामने आते हैं। आरम्भ मे अपने लिए कर्तव्य का बोध होता है, पाप-पुण्य का सकेत होता है। बुरा कर्म करते समय अतर मे भय, घृणा, लज्जा, सकोच आदि का होना तथा उत्तम कार्य करते समय—आत्मसन्तोष, प्रसन्नता, उत्साह आदि का होना इसी स्थिति का बोधक है।

यह दिव्य सदेश आगे चलकर भूत, भविष्य वर्तमान की सभी घटनाओ को प्रकट करता है, किसके लिये क्या मन्तव्य बन रहा है और भविष्य मे किसके लिए क्या घटना घटित होने वाली है, यह सब कुछ उससे प्रकट हो जाता है। और भी ऊँची स्थिति पर पहुँचने पर उसके लिए सृष्टि के सब रहस्य खुल जाते हैं। कोई ऐसी बात नही होती, जो उससे छिपी हो, परन्तु जैसे ही इतना बडा ज्ञान उसे मिलता है, वैसे ही वह उसका उपयोग करने मे अत्यन्त सावधान हो जाता। बाल-बुद्धि के लोगो के हाथों में यह दिव्य ज्ञान पड जाय, तो उसे बाजीगरी के खिलवाड खडे करने मे ही नष्ट कर दें, पर अधिकारी पुरुष अपनी

निर्देश किया है, परन्तु उन सबमे नादानुसन्धान ! सुलभ और श्रेष्ठ है। है। हे नादानुसन्धान ! आपको नमस्कार करता हूँ। आप परमपद मे स्थिति-लाभ कराते हैं। आपकी कृपा मे मेरे प्राण और मन दोनो विष्णु के परम पद मे लीन हो जायेंगे। यदि योग-साम्राज्य मे गति प्राप्त करने की आकांक्षा हो, तो समस्त चिन्ताओं से मुक्त होकर सावधानी से मन को एकाग्र करके अनहद नाद का श्रवण करो।"

परिभाषा—

ब्रह्मबिन्दोपनिषद् में नाद-साधक को वेदज्ञ की संज्ञा दी गई है।

'शब्द' को ब्रह्म कहा है क्योंकि ईश्वर और जीव को एक शृङ्खला मे बाँधने का काम शब्द द्वारा ही होता है। सृष्टि की उत्पत्ति का प्रारम्भ भी शब्द से हुआ है। पच तत्वो मे सबमे पहिले आकाश बना, आकाश की की तन्मात्रा शब्द हैं। अन्य समस्त पदार्थों की भाँति शब्द भी दो प्रकारका हैं सूक्ष्म और स्थूल। सूक्ष्म शब्द को विचार कहते हैं और स्थूल शब्द को नाद।

ब्रह्म लोक से हमारे लिये ईश्वरीय शब्द-प्रवाह सदैव प्रवाहित होता है ईश्वर हमारे साथ वार्तालाप करना चाहता है, पर हम में से बहुत कम लोग ऐसे है जो उसे सुनना चाहते हैं या सुनने की इच्छा करते हैं। ईश्वर निरन्तर एक ऐसी विचारधारा प्रेरित करता है, जो हमारे लिए अतीव कल्याणकारी होती है। उसको यदि सुना और समझा जा सके तथा उसके अनुसार मार्ग निर्धारित किया जा सके तो निस्सन्देह जीवनोद्देश्य की ओर द्रुत गति से अग्रसर हुआ जा सकता है। यह विचारधारा हमारी आत्मा से टकराती है।

हमारा अन्तःकरण एक रेडियो है, जिसकी ओर यदि अभिमुख हुआ जाय, अपनी वृत्तियो को अन्तर्मुख बनाकर आत्मा मे प्रस्फुटित होने वाली दिव्य विचार-लहरियो को सुना जाय, तो ईश्वरीय वाणी हमे प्रत्यक्ष मे सुनाई पड सकती है। इसी को आकाशवाणी कहते हैं। हमे क्या करना चाहिए, क्या नही ? हमे क्या उचित है और क्या

अनुचित ? इसका प्रत्यक्ष सन्देश ईश्वर की ओर से प्राप्त होता है। अन्त करण की पुकार आत्मा का आवेश, ईश्वरीय सन्देश, आकाशवाणी-विज्ञान आदि नामो से इसी विचारधारा को पुकारते हैं। अपनी आत्मा के यन्त्र को स्वच्छ करके जो इस दिव्य सकेत को सुनने मे सफलता प्राप्त कर लेते हैं, वे आत्मदर्शी एव ईश्वर-परायण- कहलाते हैं।

ईश्वर उनके लिए बिल्कुल समीप होता है, वे ईश्वर की बातें सुनते हैं और अपनी उससे कहते हैं। इस दिव्य मिलन के लिए हाड-मास के स्थूल नेत्र या कानो का उपयोग करने की आवश्यकता नही पडती। आत्मा की समीपता मे बैठा हुआ अन्त करण अपनी दिव्य इन्द्रियो की सहायता से इस कार्य को आसानी से पूरा कर लेता है। यह अत्यन्त सूक्ष्म ब्रह्म शब्द, विचार तब तक धुँधले रूप मे दिखाई पडता है, जब तक कषाय-कल्मष आत्मा मे बने रहते हैं। जितनी आत रिक पवित्रता बढती जाती है, उतने ही वह दिव्य सन्देश बिल्कुल स्पष्ट रूप से सामने आते हैं। आरम्भ मे अपने लिए कर्तव्य का बोध होता है, पाप-पुण्य का सकेत होता है। बुरा कर्म करते समय अ तर मे भय, घृणा, लज्जा, सकोच आदि का होना तथा उत्तम कार्य करते समय-- आत्मसन्तोष, प्रसन्नता, उत्साह आदि का होना इसी स्थिति का बोधक है।

यह दिव्य सदेश आगे चलकर भूत, भविष्य वर्तमान की सभी घटनाओं को प्रकट करता है, किसके लिये क्या मन्तव्य बन रहा है और भविष्य मे किसके लिए क्या घटना घटित होने वाली है, यह सब कुछ उससे प्रकट हो जाता है। और भी ऊँची स्थिति पर पहुँचने पर उसके लिए सृष्टि के सब रहस्य खुल जाते हैं। कोई ऐसी बात नही होती, जो उससे छिपी हो, परन्तु जैसे ही इतना बडा ज्ञान उसे मिलता है, वैसे ही वह उसका उपयोग करने मे अत्यन्त सावधान हो जाता। बाल-बुद्धि के लोगो के हाथो में यह दिव्य ज्ञान पड जाय, तो वसे बाजीगरी के खिलवाड खडे करने मे ही नष्ट कर दें, पर अधिकारी पुरुष अपनी

इस शक्ति का किसी को परिचय नही होने देते और उसे भौतिक बखेडो से पूर्णतया बचाकर अपनी तथा दूसरो की आत्मोन्नति मे लगाते हैं।

शब्द ब्रह्म का दूसरा रूप जो विचार-सदेश की अपेक्षा कुछ सूक्ष्म है, वह नाद है। प्रकृति के अन्तराल मे एक ध्वनि प्रतिक्षण उठता रहती है, जिसकी प्रेरणा से आघातो के द्वारा परमाणुओ में गति उत्पन्न होती है और सृष्टि का समस्त क्रिया-कलाप चलता है। यह प्रारम्भिक शब्द 'ॐ' है। यह ॐ ध्वनि जैसे-जैसे अन्य तत्वो के क्षेत्र मे होकर गुजरती है, वैसे ही उसकी ध्वनि मे अन्तर आता है। बशी के छिद्रो मे हवा फूँकते हैं, तो उसमे एक ध्वनि उत्पन्न होती है। पर आगे के छिद्रो में से जिस छिद्र मे जितनी हवा निकाली जाती, उसी के अनुसार भिन्न-भिन्न स्वरो की ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं, इसी प्रकार ॐ ध्वनि भी विभिन्न तत्वो के सम्पर्क मे आकर विविध प्रकार की स्वर-लहरियो मे परिणत हो जाती है। इन स्वर लहरियो का सुनना ही नादयोग है।

डा० सम्पूर्णानन्द ने नाद तत्व की व्याख्या इस प्रकार की है—

इस जगत् मे पञ्चीकृत महाभूत काम कर रहे हैं। उनके एक-एक अणु मे कम्पन है। उस कम्पन मे यह जगत् शब्दायमान हो रहा है। जहाँ कम्पन है, वहाँ शब्द है। सूक्ष्मभूत अपचीकृत हैं, पर उनके परमाणुओ मे भी कम्पन है, और उस कम्पन से एक सूक्ष्म शब्द-राशि उत्पन्न होती है। जो साधक को 'अनाहत शब्द' प्रतीत होता है। कबीर ने कहा है—'तत्व झकार ब्रह्म डमाही'। उस शब्द-राशि का नाम अनाहत नाद है, पीछे के महात्माओ के शब्दो मे भी अनहद नाद है। जिस समय तक अभ्यासी इस अनाहत नाद को नही सुन पाता, तब तक उसका अभ्यास कच्चा है। पुन कबीर के शब्दो मे—'जोग जगा अनहद धुनि सुनिके।' जब अनाहत सुन पडने लगा, तब इसका अर्थ यह है कि योगी का धीरे धीरे अन्तर्जगत मे प्रवेश होने लगा। वह अपने भूले

हुए स्वरूप को कुछ-कुछ पहचानने लगा। शक्ति, वैभव और ज्ञान के भडार की झलक पाने लगा अर्थात् महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती के दर्शन पाने लगा, जो अभ्यासी वही उलझकर रह गया--और दुःख का विषय है कि सचमुच बहुत-से अभ्यासी इसके आगे नही बढते। पर जो तल्लीनता के साथ बढता जाता है, वह क्रमश. ऊपर के लोको मे प्रवेश करता जाता है। अन्त मे वह अवस्था आती है, जहाँ वह आकाश की सीमा का उल्लघन करने का अधिकारी हो जाता है। वही शब्द का अन्त है।

शिव और शक्ति का सयोग और पारस्परिक सम्बन्ध ही "नाद" कहलाता है। इसे अव्यक्त ध्वनि और अचल अक्षर मात्र भी कहा जाता है।

मध्यम वाणी को नाद की सज्ञा दी जाती है। नवनादो की समष्टि को भास्कर राय ने मध्यमा कहा है। यह परा-वाणी की तरह न तो अत्यन्त सूक्ष्म है और न वैखरी की तरह अत्यन्त स्थूल। इसलिए इसे मध्यमा कहते हैं। (वरिवस्या रहस्य १ अश पृ १७)

नाद को सदाशिव कहा जाता है। प्रपञ्चसार विवरण (प्रथम पटल) मे कहा है—

विन्दुरीश्वर नादस्तस्याश्चिन्मिश्र रूप पुरुषाख्यम।
बीजमचिदश ।

अर्थात् "बिन्दु ईश्वर का नाद है। उससे मिश्रित चित् स्वय पुरुष नाम वाला अचित् का अश है।"

एक तन्त्रशास्त्री के अनुसार "यह शिव बिन्दु, सम्पूर्ण प्राणियो में नादात्मक शब्द के रूप मे विद्यमान रहता है। अपने से अभिन्न विश्व का परामृष्ट करने वाला परावग्रुप विमर्श ही शब्द है। सब भूतो मे 'जीवकला' के रूप में स्फुरित होने के कारण उसे नाद कहते हैं।"

अनहद नाद का शुद्ध रूप है--अनाहत नाद। 'आहत' नाद वे

होते हैं, जो किसी प्रेरणा या आघात से उत्पन्न होते हैं। वाणी के आकाश तत्व से टकराने अथवा किन्हीं दो वस्तुओं के टकराने वाले शब्द 'आहत' कहे जाते है। बिना किसी आघात के दिव्य प्रकृति के अन्तराल से जो ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं, उन्हे 'अनाहत' या 'अनहद' कहते हैं। इस शब्द को सुनने की साधना को 'सुख कहते हैं। अनहद नाद एक बिना नाद की दैवी सन्देश-प्रणाली है। साधक इसे जानकर सब कुछ जान सकता है। इन शब्दो मे 'ॐ' ध्वनि आत्म-कल्याणकारक और विभिन्न प्रकार की सिद्धियो की जननी है।

तन्त्र का मत है कि प्राणात्मक उच्चार से जो एक अव्यक्त ध्वनि निकलती है, उसी को अनाहत नाद कहा जाता है। इसका कर्ता और बाधक कोई नही हैं। यह नाद हर प्राणी के हृदय मे अपने आप ध्वनित होता रहता है—

एको नादात्मको वर्ण. सर्ववर्णाविभागवान्।
सोऽनस्तमितरूपत्वाद् अनाहत इवोदित ॥

अर्थात् 'एक ही नाद के स्वरूप वाला वर्ण है, जो सब वर्णों क अविभाग वाला है। वह अनस्तमित रूप वाला होने से अनाहत की भांति उदित होता है।"

नाद-प्रवाह का प्रतिपादन करते हुए 'सेतुब न्ध' मे कहा गया है—"नाद सबसे पहले परा स्वरूप होकर मूलाधार से उठकर मणिपूर और अनाहत चक्रो मे आता है। वहाँ प्राण और मन मे मिलकर पश्यन्ती और मध्यमा का रूप ग्रहण करता है। फिर गले मे आकर वैखरी रूप वर्णों मे परिणित हो जाता है। नाद को समस्त वर्णों का कारण रूप कहा गया है। जिस तरह बीज मे फल और पुष्प रहते हैं, उसी तरह नाद मे सूक्ष्म रूप से वर्ण रहते है।

प्रकार—

अनाहत या अनहद शब्द प्रमुखत दस माने जाते हैं, जिनकी

ध्वनियाँ अलग-अलग हैं—१ महारक की पायजेब की झंकार जैसी, २ पालक की सागर की लहर-सी, ३ सृजक की मृदङ्ग-सी, ४ सहस्र-दल कमल की शङ्ख-सी, ५ चिदानन्दमंडल की मुरली-सी, ७ सच्चिदा-नंद मंडल की वीन-सी ८ अखंड अर्द्धमात्रा की सिंह-गर्जन-सी, ९ अगम मंडल की नफीरी-सी, १० अलखमंडल की बुलबुल-सी।

जैसे अनेक रेडियो-स्टेशनों से एक ही समय में अनेक प्रोग्राम ब्राडकास्ट होते रहते हैं, वैसे ही अनेक प्रकार के अनाहत शब्द भी प्रस्फु-टित होते रहते हैं। उनके कारण, उपयोग और रहस्य अनेक प्रकार के हैं। चौंसठ अनाहत अब तक गिने गये है, पर उन्हें सुनना हर किसी के लिये सम्भव नहीं। जिनकी आत्मिक शक्ति जितनी ऊँची होगी वे उतने ही सूक्ष्म शब्दों को सुनेंगे। पर उपर्युक्त दस शब्द सामान्य आत्म-बल वाले भी आसानी से सुन सकते हैं।

विराट रूप—

नाद के विराट रूप का वर्णन करते हुए स्वामी नयनानन्द सरस्वती ने लिखा है—

"विराट् में जितने मंडल हैं—उनमें से दस मंडलों ने शब्द भी जारी किए हैं। इन मंडलों में प्रत्येक मंडल अपना एक शब्द रखता है। विराट् में कुल छत्तीस मंडल हैं और वे सब अपना-अपना एक-एक शब्द रखते हैं। परन्तु केवल दस का शब्द प्रकट स्वर में चालू है और शेष छब्बीस मंडलों के शब्द स्वर रूप से गुप्त आवाज में चालू रहते हैं। उपर्युक्त ३६ मंडल अलग-अलग अपना रंग, रूप, शब्द और अधिकार रखते हैं। उन सबकी अर्द्ध मात्राएँ अलग हैं, उनके बीज यानी शिव भी अलग-अलग हैं। प्रत्येक मंडल से जो सूत्र यहाँ आता है, वह स्वर या शब्द के रूप में ही होता है। इसराज नामक बाजे में जो ३६ तार होते हैं, वे ३६ मंजिल के स्मारक हैं और ३६ प्रकार के अनाहत नाद के द्योतक हैं। दस प्रकार का अनहद कान से सुना जाता है। बाकी २६

प्रकार का अनहद—जो स्वर-रूप है—केवल अनुभव के कान से सुनाई पडता है। वे लोग यथार्थ नही जानते, जो अनहद को केवल दम ही प्रकार का जानते या मानते हैं। कारण यह कि जो दस मण्डल अखड अर्द्धमात्रा के नीचे अर्द्ध चन्द्राकार घेरे मे आबाद हैं—वही से प्रकट शब्द हुआ करता है और अनहद नाद के जितने प्रचारक ससार मे आये, वे सब उन मडलो के ही 'शिव' लोग थे। अखण्ड अर्द्धमात्रा से लेकर पूर्ण मात्रा तक जितनी मजिले है—या जितने मडल हैं, उनके शिव या कारण—शरीर इस मायिक भूमिका पर नही आये। इसीलिए उनके मडलो का स्वर लोगो को सुनाई नही पडा। हाँ, परमरम्य भविष्य महाकाल मे वे सब इस भूमि पर अवतार लेगे, उसी समय छत्तीस तार वाला इसराज बजेगा।"

लाभ—

पच तत्वो से प्रतिध्वनित हुई ॐकार की स्वर-लहरियो को सुनने की नाद योग-साधना कई दृष्टियो से बडी महत्वपूर्ण है। प्रथम तो इस दिव्य सगीत को सुनने मे इतना आनन्द आता है, जितना किसी मधुर-से-मधुर वाद्य या गायन सुननेमे नही आता। दूसरे, इस नाद-श्रवण से मानसिक तन्तुओ का प्रस्फुटन होता है। साप जब सगीत सुनता है, तो उसकी नाडियो मे एक विद्युत-लहर प्रवाहित हो उठती है, मृग का मस्तिष्क मधुर सगीत सुनकर इतना उत्साहित हो जाता है कि उसे तन-बदन का होश नही रहता। योरोप मे गायें दुहते समय मधुर बाजे बजाये जाते हैं, जिससे उनका स्नायु-समूह उत्तेजित होकर अधिक मात्रा मे दूध उत्पन्न करता है। नाद का दिव्य सगीत सुनकर मानव मस्तिष्क मे भी ऐसी स्फुरणा होती है, जिसके कारण अनेक गुप्त मानसिक शक्तियाँ विकसित होती हैं; इस प्रकार भौतिक और आत्मिक दोनो ही दिशाओ मे प्रगति होती है।

तीसरा लाभ एकाग्रता है। एक वस्तु पर—नाद पर ध्यान एकाग्र होने से मन की बिखरी हुई शक्तियाँ एकत्रित होती हैं और इस

प्रकार मन को वश मे करने तथा निश्चित कार्य पर उसे पूरी तरह दान देने की साधना सफल हो जाती है। यह सफलता कितनी शानदार है, इसे प्रत्येक अध्यात्म-मार्ग का जिज्ञासु भली प्रकार जानता है। आतशी काच द्वारा एक-दो इच जगह की सूर्य-किरणें एकत्रित कर देने से अग्नि उत्पन्न हो जाती है। मानव प्राणी अपने सुविस्तृत शरीर मे बिखरी हुई अनन्त दिव्य-शक्तियो का एकीकरण कर ऐसी महान् शक्ति उत्पन्न करता है, जिसके द्वारा इस ससार को हिलाया जा सकता है और अपने लिए आकाश मे मार्ग बनाया जा सकता है।

नाद मडल यमलोक से बहुत ऊँचे बताए जाते है। इसलिए नाद-साधक को यमदूत पकडने की सामर्थ्य नही रखते।

नाद साधक की बुद्धि का विकास इतना होता रहता है, जिससे वह सत्य का अन्वेषण करता रह सके और विवेक की अनुभूति प्राप्त कर सके।

नाद-मडलो का विवरण ऊपर दिया गया है। उनमे से साधक जिस स्तर तक पहुँच जाता है और मृत्यु-समय जिस शब्द को पकडने की स्थिति मे होता है, उसकी आत्मा उसी मडल मे जा पहुँचती है।

नाद साधक का इतना आत्मिक उत्थान हो जाता है कि काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहकार आदि षट्रिपु उस पर कोई प्रभाव नही दिखा सकते। आक्रमण करना तो इनका स्वभाव ही है, परन्तु नाद-साधक पर यह विजय प्राप्त नही कर सकते। वह सदा इनसे अप्रभावित ही रहता है, इसलिए दिनो-दिनो उसकी शक्तियो का विकास होता चलता है।

नाद-साधना से अन्तिम सीढी तक पहुँचना सम्भव है।

साधना—१

नाद की स्वर-लहरियो को पकडते-पकडते साधक 'ॐ' की रस्सी पकडता हुआ उस उद्गम ब्रह्म तक पहुँच जाता है, जो आत्मा का अभीष्ट

स्थान है। ब्रह्मलोक की प्राप्ति, दूसरे शब्दो मे मुक्ति, निर्वाण, परमपद आदि नामो से पुकारी जाती है। नाद के आधार पर मनोलय करता हुआ साधक योग की अन्तिम सीढी तक पहुँचता है और अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। नाद का अभ्यास किस प्रकार करना चाहिये अब इस पर कुछ प्रकाश डालते हैं —

अभ्यास के लिये ऐसा स्थान प्राप्त कीजिये जो एकान्त हो और जहाँ बाहर की सार्थक आवाज न आती हो। तीक्ष्ण प्रकाश इस अभ्यास मे बाधक है। इसलिये कोई अधेरी कोठरी ढूँढनी चाहिये। एक पहर रात हो जाने के बाद से लेकर सूर्योदय से पूर्व तक का समय इसके लिये बहुत ही अच्छा है। यदि इस समय की व्यवस्था न हो तो प्रात ६ बजे तक और शाम को दिन छिपे बाद का कोई समय नियत किया जा सकता है। नित्य नियमित समय पर अभ्यास करना चाहिये। अपने नियत कमरे मे एक आसन या आराम कुर्सी बिछाकर बैठो। आसन पर बैठो तो पीठ पीछे कोई मसनद या कपडे की गठरी आदि रखलो। यह भी न हो तो अपना आसन एक कोने मे लगाओ। जिस प्रकार शरीर को आराम मिले, उस तरह बैठ जाओ और शरीर को ढीला छोडने का प्रयत्न करो।

भावना करो कि मेरा शरीर रुई का ढेर मात्र है और मैं इस समय इसे पूरी तरह स्वतन्त्र छोड रहा हूँ। थोडी देर मे शरीर बिल्कुल ढीला हो जायगा और अपना भार अपने आप न सहकर इधर-उधर को ढुलने लगेगा। आराम कुर्सी, मसनद या दीवार का सहारा ले लेने मे शरीर ठीक प्रकार अपने स्थान पर बना रहेगा। साफ रुई की मुलायम सी दो डाटें बनाकर उन्हें कानो से लगाओ कि बाहर की कोई आवाज भीतर प्रवेश न सके। उङ्गलियो से कान के छेद बन्द करके भी काम चल सकता है। अब बाहर की कोई आवाज तुम्हे सुनाई न पडेगी भी उस ओर ध्यान से हटाकर अपने मूर्धा स्थान पर ले जाओ और वहाँ जो शब्द हो रहे हैं, उन्हें ध्यानपूर्वक सुनने का प्रयत्न करो।

आरम्भ में शायद कुछ भी सुनाई न पड़े, पर दो चार दिन प्रयत्न करने के बाद जैसे-जैसे सूक्ष्म कर्णेन्द्रिय निर्मल होती जायगी, वैसे शब्दो की स्पष्टता बढती जायगी। पहिले पहल कई शब्द सुनाई देते हैं। शरीर मे जो रक्त प्रवाह हो रहा है, उसकी आवाज रेल की तरह धक्-धक् सुनाई पडती है। वायु के आने-जाने की आवाज बादल गरजने जैसी होती है, रसो के पकने और उनके आगे की ओर गति करने की आवाज चटकने की-सी होती है। यह तीन प्रकार के शब्द शरीर की क्रियाओ द्वारा उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार दो तरह के शब्द मानसिक क्रियाओ के हैं। मन मे चचलता की लहरें उठती हैं, वे मन पर विशिष्ट प्रक्रिया करती हैं। वे मानस-तन्तुओ पर टकराकर ऐसे शब्द करती हैं, मानो टीन के ऊपर मेह बरस रहा हो और जब मस्तिष्क बाह्य-ज्ञान को ग्रहण करके अपने में धारण करता है तो ऐसा मालूम होता है मानो कोई प्राणी सांस ले रहा हो। यह पाँचो शब्द शरीर और मन के हैं। कुछ ही दिन के अभ्यास से साधारणत दो-तीन सप्ताह के प्रयत्न से यह शब्द स्पष्ट रूप से सुनाई पडते हैं। इन शब्दो के सुनने से सूक्ष्म इन्द्रियाँ निर्मल होती जाती हैं और गुप्त शक्तियो को ग्रहण करने की उनकी योग्यता बढती जाती है।

जब नाद श्रवण करने की योग्यता बढ़ जाती है, तो बशी या सीटी से मिलती जुलती अनेक प्रकार की शब्दावलियाँ सुनाई पडती हैं, यह सूक्ष्म लोक मे होने वाली क्रियाओ की परिचायक है। बहुत दिनो से बिछुडे हुए बच्चे को यदि उसकी माता की गोद में पहुँचाया जाता है, तो वह आनन्द से विभोर हो जाता है—ऐसा ही आनन्द सुनने वाले को आता है।

जिन सूक्ष्म शब्द-ध्वनियो को आज वह सुन रहा है, वास्तव मे वह उसी तत्व के निकट से आ रही हैं, जहाँ से आत्मा और परमात्मा का बिलगाव हुआ है और जहाँ पहुचकर दोनो फिर एक हो सकते हैं।

स्थान है। ब्रह्मलोक की प्राप्ति, दूसरे शब्दो मे मुक्ति, निर्वाण, परमपद आदि नामो से पुकारी जाती है। नाद के आधार पर मनोलय करता हुआ साधक योग की अन्तिम सीढी तक पहुँचता है और अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। नाद का अभ्यास किस प्रकार करना चाहिये अब इस पर कुछ प्रकाश डालते हैं —

अभ्यास के लिये ऐसा स्थान प्राप्त कीजिये जो एकान्त हो और जहाँ बाहर की सार्थक आवाज न आती हो। तीक्ष्ण प्रकाश इस अभ्यास मे बाधक है। इसलिये कोई अँधेरी कोठरी ढूँढनी चाहिये। एक पहर रात हो जाने के बाद से लेकर सूर्योदय से पूव तक का समय इसके लिये बहुत ही अच्छा है। यदि इस समय की व्यवस्था न हो तो प्रात ६ बजे तक और शाम को दिन छिपे बाद का कोई समय नियत किया जा सकता है। नित्य नियमित समय पर अभ्यास करना चाहिये। अपने नियत कमरे में एक आसन या आराम कुर्सी बिछाकर बैठो। आसन पर बैठो तो पीठ पीछे कोई मसनद या कपडे की गठरी आदि रखलो। यह भी न हो तो अपना आसन एक कोने मे लगाओ। जिस प्रकार शरीर को आराम मिले, उस तरह बैठ जाओ और शरीर को ढीला छोडने का प्रयत्न करो।

भावना करो कि मेरा शरीर रुई का ढेर मात्र है और मैं इस समय इसे पूरी तरह स्वतन्त्र छोड रहा हूँ। थोडी देर मे शरीर बिल्कुल ढीला हो जायगा और अपना भार अपने आप न सहकर इधर-उधर को ढुलने लगेगा। आराम कुर्सी, मसनद या दीवार का सहारा ले लेने मे शरीर ठीक प्रकार अपने स्थान पर बना रहेगा। साफ रुई की मुलायम सी दो डाटें बनाकर उन्हे कानो से लगाओ कि बाहर की कोई आवाज भीतर प्रवेश न सके। उङ्गलियो से कान के छेद बन्द करके भी काम चल सकता है। अब बाहर की कोई आवाज तुम्हे सुनाई न पडेगी भी उस ओर ध्यान से हटाकर अपने मूर्धा स्थान पर ले जाओ और वहाँ जो शब्द हो रहे हैं, उन्हें ध्यानपूर्वक सुनने का प्रयत्न करो।

आरम्भ में शायद कुछ भी सुनाई न पड़े, पर दो चार दिन प्रयत्न करने के बाद जैसे-जैसे सूक्ष्म कर्णेन्द्रिय निर्मल होती जायगी, वैसे शब्दों की स्पष्टता बढ़ती जायगी। पहिले पहल कई शब्द सुनाई देते हैं। शरीर में जो रक्त प्रवाह हो रहा है, उसकी आवाज रेल की तरह धक्-धक्-धक् सुनाई पड़ती है। वायु के आने-जाने की आवाज बादल गरजने जैसी होती है, रसों के पकने और उनके आगे की ओर गति करने की आवाज चटकने की-सी होती है। यह तीन प्रकार के शब्द शरीर की क्रियाओं द्वारा उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार दो तरह के शब्द मानसिक क्रियाओं के हैं। मन में चंचलता की लहरें उठती हैं, वे मन पर विशिष्ट प्रक्रिया करती हैं। वे मानस-तन्तुओं पर टकराकर ऐसे शब्द करती हैं, मानो टीन के ऊपर मेह बरस रहा हो और जब मस्तिष्क बाह्य-ज्ञान को ग्रहण करके अपने में धारण करता है तो ऐसा मालूम होता है मानो कोई प्राणी साँस ले रहा हो। यह पाँचों शब्द शरीर और मन के हैं। कुछ ही दिन के अभ्यास से साधारणतः दो-तीन सप्ताह के प्रयत्न से यह शब्द स्पष्ट रूप से सुनाई पड़ते हैं। इन शब्दों के सुनने से सूक्ष्म इन्द्रियाँ निर्मल होती जाती हैं और गुप्त शक्तियों को ग्रहण करने की उनकी योग्यता बढ़ती जाती है।

जब नाद श्रवण करने की योग्यता बढ़ जाती है, तो वंशी या सीटी से मिलती जुलती अनेक प्रकार की शब्दावलियाँ सुनाई पड़ती हैं, यह सूक्ष्म लोक में होने वाली क्रियाओं की परिचायक है। बहुत दिनों से बिछुड़े हुए बच्चे को यदि उसकी माता की गोद में पहुँचाया जाता है, तो वह आनन्द से विभोर हो जाता है—ऐसा ही आनन्द सुनने वाले को आता है।

जिन सूक्ष्म शब्द-ध्वनियों को आज वह सुन रहा है, वास्तव में यह उसी तत्त्व के निकट से आ रही हैं, जहाँ से आत्मा और परमात्मा का विलगाव हुआ है और वहाँ पहुँचकर दोनों फिर एक हो सकते हैं।

धीरे-धीरे यह शब्द स्पष्ट होने लगते है और अभ्यासी को उनके सुनने मे अद्‌भुत आनन्द आने लगता है। कभी-कभी तो वह उन शब्दो मे मस्त होकर आनन्द से विह्वल हो जाता है और अपने तन-मन की सुध भूल जाता है। अन्तिम शब्द ॐ है, यह बहुत ही सूक्ष्म है। इसकी ध्वनि घटा-ध्वनि के समान होती है। घडियाल मे हथोडी मार देने पर जैसे वह कुछ देर तक झनझनाती रहती है, उसी प्रकार 'ॐ' का घन्टा-शब्द सुनाई पडता है।

ॐकार ध्वनि जब सुनाई पडने लगती है, तो निद्रा, तद्रा या बेहोशी जैसी दशा उत्पन्न होने लगती है। उसी स्थिति के ऊपर बढने वाली आत्मा परमात्मा मे प्रवेश करती जाती है और पूर्णतया परमात्म-अवस्था प्राप्त कर लेती है।

• • •

बिन्दु-साधना

महिमा--

शास्त्रो मे बिन्दु-साधना का महत्त्व इस प्रकार वर्णित है—

सिद्धे बिन्दौ महादेवि किं न सिध्यति भूतले ।

"हे पार्वती ! बिन्दु के सिद्ध हो जाने पर ऐसी कौन-सी सिद्धि है, जो साधक को प्राप्त न हो सके ।"

ऊर्ध्वरेता भवेद्यावत तावत कालभयं कुतः ।

—हठयोग प्रदीपिका

"जब तक साधक बिन्दु को ऊर्ध्वगामी रखता है, तब तक उसको मृत्यु का भय नही होता ।"

मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात् ।

—शिव-संहिता

"बिन्दु का पतन ही मृत्यु और बिन्दु का धारण (स्थिरता) ही जीवन है ।"

परिभाषा और व्याख्या—

बिन्दु-साधना का एक अर्थ ब्रह्मचर्य है । इस बिन्दु का अर्थ 'वीर्य' भी है । आनन्दमय कोश की साधना मे बिन्दु का अर्थ होगा--परमाणु । सूक्ष्म-से-सूक्ष्म जो अणु है, वहाँ तक अपनी गति हो जाने पर भी ब्रह्म की समीपता तक पहुँचा जा सकता है और सामीप्य-सुख का अनुभव किया जा सकता है ।

किसी वस्तु को कूटकर यदि चूर्ण बनालें और चूर्ण को खुर्दबीन से देखें, तो छोटे-छोटे टुकडो का एक ढेर दिखाई पडेगा। यह टुकडे कई और टुकडो से मिलकर बने हैं। इन्हे भी वैज्ञानिक यन्त्रो की सहायता से कूटा जाये, तो अन्त मे जो न टूटने वाले, न कुटने वाले टुकडे रह जायेंगे, इन्हे परमाणुओ कहेगे। इन परमाणु को लगभग सौ जातियां अब तक पहचानी जा चुकी हैं, जिन्हे अणुतत्व कहा जाता है।

अणुओ के दो भाग हैं—एक सजीव, दूसरा निर्जीव। दोनो ही एक पिंड या ग्रह के रूप मे पूर्ण मालूम पडते हैं। पर वस्तुत उनके भीतर और भी टुकडे हैं। प्रत्येक अणु अपनी धुरी पर बडे वेग से परिभ्रमण करता है। पृथ्वी भी सूर्य की परिक्रमा के लिए प्रति सैकिंड १८॥ मील की चाल से चलती है, पर १०० परमाणुओ की गति चार हजार मील प्रति सैकिंड मानी जाती है।

यह परमाणु भी अनेक विद्युत कणो से मिलकर बने हैं, जिनकी दो जातियां हैं—१ ऋण-कण और २ धन-कण। धन-कणो के चारो ओर ऋण-कण प्रति सैकिंड एक लाख अस्सी हजार मील की गति से परिभ्रमण करते हैं। उधर धन-कण, ऋण की परिक्रमा के केन्द्र होते भी शान्त नहीं बैठते। जैसे पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा लगाती है और सूर्य अपने सौर-मडल को लेकर कृत्तिका नक्षत्र की परिक्रमा करता है, वैसे ही धन कण भी परमाणु की 'अन्तरगति' का कारण होते हैं। ऋण-कण, जो कि द्रुतगति से निरन्तर परिभ्रमण मे सलग्न हैं, अपनी शक्ति-सूर्य से अथवा विश्व-व्यापी अग्नि-तत्व से प्राप्त करते हैं।

वैज्ञानिको का कथन है कि यदि एक परमाणु के अन्दर का शक्ति-पुञ्ज छूट पडे तो क्षण भर मे लन्दन जैसे तीन नगरो को भस्म कर सकता है, इस परमाणु के विस्फोट की विद्या मालूम करके ही एटम बम का आविष्कार हुआ है। एक परमाणु के फोड देने से जो भयङ्कर विस्फोट होता है, उसका परिचय गत महायुद्ध मे मिल चुका

है, इसकी और भी भयकरता का पूर्ण प्रकाश होना अभी बाकी है, जिसके लिए वैज्ञानिक लगे हुए हैं।

यह तो परमाणु-शक्ति की बात रही, अभी उनके अङ्ग—ऋण-कण और घन-कणो के भी सूक्ष्म भागो का पता चला है। वे भी अपने से अनेक गुने सूक्ष्म परमाणुओ से बने हुए हैं जो ऋण-कणो के भीतर एक लाख छियासी हजार तीन सौ तीस मील प्रति सैकेण्ड की गति से परिभ्रमण करते हैं। अभी उनके भी अन्तर्गत कर्षाणुओ की खोज हो रही है और विश्वास किया जाता है कि उन कर्षाणुओ की अपेक्षा ऋण-कण तथा घन-कणो की गति तथा शक्ति अनेको गुनी है। उसी अनुपात से इन सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम अणुओ की गति तथा शक्ति होगी।

जब परमाणुओ के विस्फोट की शक्ति लन्दन जैसे तीन शहरो को जला देने की है, तो सर्वाणु की शक्ति एव गति की कल्पना करना भी हमारे लिए कठिन होगा। उसके अन्तिम सूक्ष्म-केन्द्र को अप्रतिम, अप्रमेय, अचिन्त्य ही कह सकते हैं।

देखने मे पृथ्वी चपटी मालूम पडती है पर वस्तुत वह लट्टू की तरह अपनी धुरी पर घूमती रहती है। चौबीस घण्टे मे उसका एक चक्कर पूरा हो जाता है। पृथ्वी की दूसरी चाल भी है, वह सूर्य की परिक्रमा करती है। इस चक्कर मे उसे एक वर्ष लग जाता है। तीसरी चाल पृथ्वी की यह है कि सभी अपने ग्रह-उपग्रहो को साथ लेकर बडे वेग से अभिजित नक्षत्र की ओर जा रही है। अनुमान है कि वह कृतिका नक्षत्र की परिक्रमा करता है, इसमे पृथ्वी भी उसके साथ है। लट्टू जब अपनी कील पर घूमता है, तो वह इधर-उधर झुकता-उठता भी रहता है, इसे मँडराने की चाल कहते हैं। जिसका एक चक्कर करीब २६ हजार वर्ष मे पूरा होता है। कृत्तिका नक्षत्र भी सौर मडल आदि मे अपने उपग्रहो को लेकर ध्रुव की परिक्रमा करता है, उस दशा मे पृथ्वी की गति पाँचवी हो जाती है।

सूक्ष्म परमाणु के सूक्ष्मतम भाग तक मानव-बुद्धि की पहुंच हुई है और बडे मे-बडे महापरमाणुओ के रूप मे पांच गति तो पृथ्वी की विदित हुई। आकाश के असख्य ग्रह नक्षत्रो का पारस्परिक सम्बन्ध न जाने कितने बडे महा-अणु के रूप मे पूरा होता होगा, उस महानता की कल्पना भी मस्तिष्क को थका देती है। इसे भी अप्रतिम, अप्रमेय और अचिन्त्य ही कहा जायेगा।

सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और महत्-से-महत् केन्द्रो पर जाकर बुद्धि थक जाती है और उससे छोटे या बडे की कल्पना नही हो सकती, उस केन्द्र को बिन्दु कहते हैं।

अणु को योग की भाषा मे 'अण्ड' भी कहते हैं। वीर्य का एक कण 'अण्ड' है। वह इतना छोटा होता है कि खुर्दबीन से भी मुश्किल से ही दिखाई देता है, पर जब वह विकसित होकर स्थूल रूप मे आता है, तो वही बडा अण्डा हो जाता है। उस अण्डे के भीतर जो पक्षी रहता है, उसके अनेक अ ग-प्रत्यग होते हैं, उन विभागो मे असख्य सूक्ष्म विभाग और उनमे भी अगणित कोषाड रहते हैं। इस प्रकार शरीर भ एक अणु है, इसी को अ ड या पिंड कहते हैं। अखिल विश्व ब्रह्माड मे अगणित सौर-मडल, आकाश-गगा और ध्रुव-चक्र हैं।

इन हो की दूरी और विस्तार का कुछ ठिकाना नही। पृथ्वी बहुत बडा पिंड है, पर सूर्य तो पृथ्वी से भी तेरह लाख गुना बडा है। सूर्य से भी करोडो गुने ग्रह आकाश मे मौजूद हैं। इनकी दूरी का अनुमान इससे लगाया जाता है कि प्रकाश की गति प्रति सेकिण्ड पौने दो लाख मील है और उन ग्रहो का प्रकाश पृथ्वी तक आने मे तीस लाख वर्ष लगते हैं। यदि कोई ग्रह आज नष्ट हो जाय, उसका अस्तित्व न रहने पर भी उसकी प्रकाश-किरणें आगामी तीस लाख वर्ष तक यहाँ आती रहेंगी। जिन नक्षत्रो का प्रकाश पृथ्वी पर आता है, उनके अति-रिक्त ऐसे ग्रह बहुत अधिक हैं, जो अत्यधिक दूरी के कारण पृथ्वी पर

दूरबीनों से भी दिखाई नहीं देते उनसे बड़े और दूरस्थ ग्रह जब अपनी परिक्रमा करते होंगे, अपने ग्रह-मंडल को साथ लेकर परिभ्रमण को निकलते होंगे, तो वे अपने अधिक विस्तृत शून्य में घूम जाते होंगे, इस शून्य के विस्तार की कल्पना कर लेना मानव-मस्तिष्क के लिए बहुत कठिन है।

इतना बड़ा ब्रह्माण्ड भी एक अणु या अण्ड है। इसलिए इसे ब्रह्म+अण्ड=ब्रह्माण्ड कहते हैं। पुराणों में वर्णन है कि जो ब्रह्माण्ड हमारी जानकारी में है, उसके अतिरिक्त भी ऐसे ही और अगणित ब्रह्माण्ड हैं और उन सबका तत्त्व एक महान् अण्ड है। इस महा-अण्ड की तुलना में पृथ्वी उससे छोटी बैठती है, जितना कि परमाणु की तुलना में सर्गाणु छोटा होता है।

इन लघु-से-लघु और महान्-से-महान् अण्ड में जो शक्ति व्याप्त है, इन सबको गतिशील, विकसित, परिवर्तित और चैतन्य रखती है उस सत्ता को 'बिन्दु' कहा गया है। यह बिन्दु ही परमात्मा है, इसी को छोटे से-छोटा और बड़े-से-बड़ा कहा जाता है। "अणोरणीयान् महतो-महीयान्" कहकर उपनिषदों ने उस परब्रह्म का परिचय दिया है।

जर्मन दार्शनिक इमेनुएल कांट ने इन दोनों शक्तियों के सम्बन्ध में अपनी एक पुस्तक के उपसंहार में लिखा है—

"संसार में मुझे केवल दो बातों से भय लगता है—पहिली बात यह है कि जब मैं रात को सितारों से भरे आकाश की ओर देखता हूँ तो मेरे मन में विचार आता है कि यह सृष्टि कितनी विशाल है। जिस तरह से पृथ्वी को भी वैज्ञानिक एक सितारा मानते हैं, केवल इसी की विशालता का अनुमान लगायें, तो मस्तिष्क चकराने लगता है। इससे सूर्य पाँच लाख गुना बड़ा है। सूर्य से बड़ा एक ज्येष्ठा तारा है, वह उससे कई लाख गुना बड़ा है। पृथ्वी सूर्य के आस-पास चक्कर काट रही है। इसका नियन्त्रण कैसे होता है और कौन करता है? इन लाखों

करोडो तारो को देखकर तो मुझे भय लगता है। विचार आता है कि उनका सचालक कितना शक्तिशाली है, कितना महान् है ? उसके सामने मेरी शक्ति कितनी सीमित है, नगण्य है। जब सृष्टि के सचालक की असीम शक्ति और अपनी सीमित शक्ति मे बहुत अन्तर पाता हू तो मुझे भय लगता है, मेरा मन काँप उठता है।

दूसरे प्रकार के भय का कारण यह है कि मैं जब कोई बुरा काम करने लगता हूं, तो मेरे अन्तर मे एक शक्तिशाली आवाज आती है कि यह अनुचित कार्य है, इसे मत करो। उस ध्वनि मे एक प्रकार का अनुशासन होता है, आज्ञा होती है। ऐसा लगता है कि वह मुझसे बडा है, जो अधिकारपूर्वक आदेश देता है। तब मैं सोचता हूँ कि जिस प्रकार का आदेश मेरे अन्तर मे आता है, उस प्रकार का जीवन मैं नही बना पाता। जब उस आदेश और अपने जीवन की यथार्थता की बात मेरे मन मे आती है, तो मुझे भय लगता है क्योकि उन दोनो मे बहुत अन्तर है।"

आगे काट साहब लिखते हैं—"आकाशस्थ तारो का सचालन करने वाली महान् शक्ति और मेरे अन्दर छिपी शक्ति मुझे एक ही जान पडती हैं।"

तान्त्रिक शास्त्रियो ने विभिन्न प्रकार से बिन्दु की परिभाषा की है। कहा है कि "यह बिन्दु शक्ति की वह अवस्था विशेष है, जहाँ से उसकी सृष्टि-क्रिया प्रारम्भ होती है। बिन्दु तत्त्वो को ईश्वर तत्व के नाम से भी पुकारते है। इस अवस्था मे शक्ति चिद्रूपिणी होकर अव्यक्त इदम् को तादात्म्य-भाव मे लाकर उसके साथ चिद्बिन्दु का रूप धारण करती है। दूसरे शब्दो मे कहा जा सकता है कि इस अवस्था मे (अहम्) अपनी चेतना मे अखिल (इदम्) को देखता है।"

पाचरात्र और भागवत सम्प्रदाय मे वैष्णव आगम के अन्तर्गत जो 'विशुद्ध तत्व' कहा जाता है, उसी को बिन्दु कहते हैं।

शिव की समवायिनी शक्ति दो तरह की है—एक ज्ञान शक्ति और दूसरी क्रिया-शक्ति। क्रिया-शक्ति को ही 'विन्दु' नाम से अभिहित किया गया है।

महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज ने अपनी पुस्तक 'भारतीय संस्कृति और साधना' में लिखा है—

"तदतीत अवस्था में शिव और शक्ति का सामंजस्य रहता है। उस समय शिव-शक्ति के गर्भ में अनन्त महत् भाव से अर्थात् शक्ति के साथ अभिन्न रूप से, विद्यमान रहता है। परन्तु, जब पराशक्ति स्वेच्छा से अपने स्फुरण को स्वयं ही देखती है, तभी विश्व की सृष्टि होती है, वस्तुतः, इस स्फुरण का दर्शन ही विश्व-दर्शन है और विश्व-दर्शन ही सृष्टि है। इस अवस्था में दृष्टि ही सृष्टि है। अनुत्तर दशा में स्वरूप में अभिन्नतया रहने पर भी विश्व देखा नहीं जाता। इसी से वह अवस्था सृष्टि-व्यापार नहीं है। इस दृष्टि या सृष्टि-व्यापार में शिव तटस्थ रहते हैं। उनकी स्वरूपभूता स्वातन्त्र्य-शक्ति ही सब कुछ करती है। शिव अग्निस्वरूप हैं, संवर्त्तानल अथवा प्रलयानल स्वरूप। शक्ति सोमस्वरूपा। दोनों का साम्य ही तान्त्रिक भाषा में विन्दु नाम से कहा जाता है।"

श्री वीरमणिप्रसाद उपाध्याय (एम० ए०, डी० लिट०) के अनुसार—

"परशिव-स्वरूप प्रकाश जब प्रपंच के अनुसंधान अथवा उन्मीलन की इच्छा से अपने में ही विश्रान्त, परा, प्रकृति, माया, अविद्या, आदि पदों से व्यवह्रियमाण, जगद्बीजभूत विमर्श को परमार्थतः अपने में ही कायम रखते हुए भी बाह्य सा विसर्जन करता है, तब विमर्श 'विसृज्यते इति विसर्गः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'विसर्ग' कहलाता है। पुनः वही शिवरूप प्रकाश जब प्रपंच के संहार अर्थात् निगिरण की इच्छा से प्रकृति को अपने में निमीलित करने लगता है, तब प्रकाश 'विन्द्यतेऽविच्छद्यते' इस व्युत्पत्ति के अनुसार विन्दु कहलाता है।

डा० शिवशङ्कर अवस्थी ने 'मन्त्र और मातृकाओ का रहस्य' पुस्तक मे इसका विभिन्न प्रकार से स्पष्टीकरण किया है ।

समस्त सृष्टि-चक्र का मूल बिन्दु के नाम से अभिहित किया गया है । यह आख्या वस्तुत आकारहीन ब्रह्म के सृष्टिरूप मन्त्र की रचना के अनुरूप ही है । अपार ससार के विविध भावी स्थूल आकार-प्रकारो को अपने मे सूक्ष्म रूप से समेटे हुए अवाङ्मनसगोचर पर-तत्व सर्वप्रथम बिन्दु के रूप मे आकलित होता है । शब्दातीत परतत्व की ही सज्ञा महाबिन्दु है, जिसे अनिर्देश्य, अग्राह्य, अशन आदि निषेधो द्वारा कहा जाता है ।

जगत् रूप अ कुर का कन्द होने के कारण उसे ही कारण-बिन्दु कहते हैं । प्रपचसार तत्र मे कहा गया है--

विचिकीर्षुर्घनीभूता सा चिन्म्येति बिन्दुताम् ।

— (प्र० सा० प्रथम पटल)

अर्थात् ' विशेष रूप से करने की इच्छा वाला पुरुष का वह घनीभूत वह ज्ञान बिन्दु के स्वरूप को प्राप्त हो जाता है ।"

कर्माभिन्न रूप ही बिन्दु है । प्रकृति का ही, प्रलयावस्था से जो परिपक्व दशा के अनन्तर सृष्ट्युन्मुख कर्मों से अभिन्न, स्व आकार से निरूपित रूप है, वही बिन्दु है ।

कार्य, बिन्दु, नाद और बीज का—पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी के रूप मे वर्णन किया गया है । चित्प्रधान काल-लक्षण ईश्वर ही कार्य-बिन्दु है । आचार्य पद्मपाद ने लिखा है—"यह बिन्दु परम पुरुष रूप है ।"

ह्लाद, तीक्ष्णता और दाहकता से अविच्छिन्न, प्रमाण, प्रमेय और परिमित प्रमात रूप सोम, सूय और अग्नि की आश्रयभूत क्रिया-शक्ति के भिन्न-भिन्न रूपो मे प्रस्फुरित होने पर भी उपाधिशून्य, पूर्ण, पर-प्रकाश, विदिक्रिया मे स्वतन्त्र, पर-प्रमातृ रूप परमेश्वर शिव ही बिन्दु के नाम से कहे जाते हैं ।

'तत्व रक्षा-विधान' नामक ग्रन्थ मे स्वय परमेश्वर ने हृदय,

भ्रूमध्य, द्वादशान्त--स्थानों में विश्रान्ति-भेद से नर, शक्ति, शिवात्मक, इच्छाद्यात्मक तथा शिवतत्व, विद्यातत्व और आत्मतत्व के रूप में वेदयिता परप्रकाश रूप बिन्दु ही विश्व के अवभासन की इच्छा से प्रस्फुरित होता है, ऐसा कहा है।

बिन्दु का स्थान आज्ञाचक्र के बाद बतलाया जाता है। योग की भाषा में इसे तृतीय नेत्र और ज्ञान-चक्षु भी कहते हैं।

ध्यानबिन्दुपनिषद् (३७) में बिन्दु-साधक को वेदज्ञ माना गया है—

तैलधारामिवाच्छिन्नं दीर्घघण्टानिनादवत्।
अवाच्यं प्रणवस्याग्रं यस्तं वेद स वेदवित्।

अर्थात् "तेल की धारा के समान अविच्छिन्न और दीर्घ घण्टानिनाद के सदृश्य बिन्दु, नाद, कला से अतीत को जो जानता है, वह वेदज्ञ है।"

एक तन्त्राचार्य ने ईश्वर-साक्षात्कार के लिए बिन्दु-साधना को आवश्यक बताया है—"बिन्दु की बात पहले ही कही गई है। इस भूमि में ज्योतिर्मय ज्ञानरूप से ईश्वरबोध की सूचना होती है। यहाँ प्रवेश हुए बिना जागतिक ज्ञान विलुप्त नहीं हो सकता। समाधिजनित प्रज्ञा से यह ऊपरी अवस्था है, समाधिजनित ज्ञान उत्कृष्ट होने पर भी जागतिक ज्ञान ही है। किन्तु *अर्द्धमात्रा का ज्ञान चिन्मय अनुभव है*, इसलिए यह श्रेष्ठ है। लौकिक ज्ञान त्रिपुटीका लोप नहीं होता, विराट् अभेद ज्ञान का उदय से भी भेदज्ञान की निवृत्ति क्रमशः होती है। वह भेदज्ञान क्रमशः स्तर-भेद करते-करते कटता है। तब पहले के देश-काल का ज्ञान रहता है सही, पर वह तनिक दूसरे प्रकार का होता है। योगियों को जिन पञ्च-शून्यों का परिचय मिलता है, उसमें बिन्दु ही प्रथम शून्य है। बिन्दु के स्तर में बीज नहीं रहता अर्थात् प्रकृति का स्फुरण नहीं रहता इसलिए उसको पुरुष का अभिन्न स्वरूप भी कहा जा सकता है।"

वैज्ञानिक स्पष्टीकरण—

बिन्दु का वैज्ञानिक स्पष्टीकरण करते हुए श्री सत्यव्रत शर्मा ने लिखा है—

"शाक्त मत के अनुसार विश्व-प्रपंच का पर्यवसान एक 'बिन्दु' में होता है। इस बिन्दु को हम 'आयामरहित गणितीय बिन्दु' कह सकते हैं। इस बिन्दु को एक गणितीय रेखा लपेटे हुए है, जो इसके प्रत्येक पृष्ठभाग को स्पर्श भी करती है अर्थात् यह दोनों मिलकर एक 'बिन्दुमय' हो जाते हैं। ब्रह्माण्ड-संकोच की इस प्रक्रिया पर विचार प्रकट करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त खगोल-शास्त्री अर्नेस्ट जे० विपिक ने अपनी एक पुस्तक में लिखा है—

'सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड (सारा गैलेक्सी समुदाय अपने जीवित या मृत सूर्यों और ग्रहों के साथ) अपने को एक सूक्ष्म आकाश या बिन्दु में लय कर देगा।'

रेखा शक्ति की वृत्तीय प्रकृति है, इसलिए वस्तुओं में गोलाई और वक्रता (Curvature) है। 'सापेक्षतावाद' के अनुसार, चूंकि सरल रेखा में गति सम्भव ही नहीं है, इसलिए प्रत्येक ग्रह-उपग्रह वक्र पथों पर गतिशील हैं। और इस प्रकार विविध ब्रह्माण्डों (Spheroids) का निर्माण करते हैं।

शक्ति अपने दो रूपों—स्थैतिक अर्थात् कुण्डलिनी और गत्यात्मक अर्थात् प्राण में प्रकट होती है। यह एक सामान्य बात है कि प्रत्येक संचार की एक स्थैतिक पृष्ठभूमि होती ही है। शरीर में यह स्थिति केन्द्र मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी शक्ति है। यह शक्ति ही सम्पूर्ण शरीर और इसमें प्रवाहित सभी प्राण शक्तियों का आधार है। यह शक्ति-केन्द्र चित् का स्थूल रूप है।

'इलेक्ट्रन थियरी' के अनुसार 'अणु' सौर मंडल से मिलता-जुलता एक सूक्ष्म ब्रह्माण्ड है। अणु-केन्द्र में धनात्मक आवेश वाले

'प्रोटोन' का निवास है। इसके चारों ओर ऋणात्मक आवेश के तमाम इलेक्ट्रोन विभिन्न कक्षाओं में गतिशील हैं। दोनों आवेश मिलकर अणु को सन्तुलित रखते हैं, जिससे यह साधारण रूप में भग्न न हो जाय—'पिंडे पिंडे ब्रह्माडे ब्रह्माडे' के अनुसार अणु में घटने वाली यही घटना समग्र विश्व में हो रही है। विश्व में सारे ग्रह सूर्य के चारों ओर घूमते हैं और सूर्यसहित सारा ग्रह-मडल भी किसी अन्य सापेक्ष स्थिर केन्द्र के चारों ओर घूमता है और इस प्रकार हम 'ब्रह्म-बिन्दु' तक पहुँच जाते हैं, जिस निरपेक्ष स्थिर बिन्दु के चारों ओर सारे मडल घूमते हैं और यही बिन्दु सर्वनियन्ता है।

साधना—

इस बिन्दु का चिन्तन करने से आनन्दमय कोश स्थित जीव को इस परब्रह्म के रूप की कुछ झाँकी होती है और उसे प्रतीत होता है कि परब्रह्म की—महा ब्रह्माड की तुलना में मेरा अस्तित्व, मेरा पिंड कितना तुच्छ है। इस तुच्छता का भान होने से अहङ्कार और विगलित हो जाते हैं। इसी ओर जब अपने पिंड की—शरीर की—तुलना करते हैं, तो प्रतीत होता है कि अटूट शक्ति के अक्षय भडार सर्गाणु की इतनी अटूट सत्ता और शक्ति जब हमारे भीतर है, तो हमें अपने को अशक्त समझने का कारण नहीं है। उस शक्ति का उपयोग जान लिया जाय, तो ससार में होने वाली कोई भी बात हमारे लिए असम्भव नहीं रह सकती।

जैसे महा-ब्रह्माड की तुलना में हमारा शरीर अत्यन्त क्षुद्र है और हमारी तुलना में उसका विस्तार अनुपमेय है। इसी प्रकार सर्गाणुओं की दृष्टि में हमारा पिंड (शरीर) एक महाब्रह्माड जैसा विशाल होगा। इसमें जो स्थिति समझ में आती है वह प्रकृति ब्रह्माड से भिन्न एक दिव्य शक्ति के रूप में विदित होती है। लगता है कि मैं मध्य-बिन्दु हूँ, केन्द्र हूँ, सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल में मेरी व्यापकता है।

लघुता-महत्ता का एकान्त चिन्तन ही बिन्दु-साधन कहलाता है।

इस साधना के साधक को सांसारिक जीवन की अवास्तविकता और तुच्छता का भली प्रकार बोध हो जाता है कि मैं अनन्त शक्ति का उद्गम होने के कारण इस सृष्टि का महत्वपूर्ण केन्द्र हूं। जैसे जापान पर फटा हुआ परमाणु बम ही 'ऐतिहासिक एटम बम' के रूप मे चिरस्मरणीय रहेगा वैसे ही जब अपने शक्ति पुञ्ज का सदुपयोग किया जाता है, तो उसके द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से संसार का भारी परिवर्तन करना सम्भव हो जाता है।

विश्वामित्र ने राजा हरिश्चन्द्र के पिंड को एटम बम बनाकर 'असत्य' के साम्राज्य पर इस प्रकार विस्फोट किया था कि लाखो वर्ष बीत जाने पर भी उसकी एक्टिव किरणें अभी समाप्त नही हुई हैं और अपने प्रभाव से अनेको को बराबर प्रभावित करती चली आ रही हैं। महात्मा गांधी ने बचपन में राजा हरिश्चन्द्र का चरित्र पढा था, उनने अपने आत्म-चरित्र मे लिखा है कि मैं उसे पढकर इतना प्रभावित हुआ कि स्वयं भी हरिश्चन्द्र बनने की ठान, ठान ली। अपने संकल्प-बल द्वारा वे सचमुच हरिश्चन्द्र बन भी गये। राजा हरिश्चन्द्र आज नहीं हैं, पर उनकी आत्मा आज भी उसी प्रकार अपना महान कार्य कर रही है, न जाने कितने अप्रकट गांधी उसके द्वारा निर्मित होते रहते होगे। गीताकार आज नही है, पर आज उनकी गीता कितनो को अमृत पिला रही है। यह पिंड का सूक्ष्म प्रभाव ही है, जो प्रकट या अप्रकट रूप से स्वपर कल्याण का महान् आयोजन प्रस्तुत करता है।

कालमार्क्स के सूक्ष्म शक्ति-केन्द्र मे प्रस्फुटित हुई चेतना आज आधी दुनिया को कम्युनिस्ट बना चुकी है। पूर्वकाल मे श्रीकृष्ण, महात्मा ईसा, मुहम्मद, बुद्ध आदि ऐसे अनेक महापुरुष हुए हैं, जिन्होने संसार पर बडे महत्वपूर्ण प्रभाव डाले हैं। इन प्रकट महापुरुषो के अतिरिक्त ऐसी अनेक अप्रकट आत्मायें भी हैं, जिन्होने संसार की सेवा मे, जीवो के कल्याण में गुप्त रूप मे बडा भारी काम किया है। हमारे देश मे

योगी अरविन्द, महर्षि रमण, रामकृष्ण परमहंस, समर्थ गुरु रामदास आदि द्वारा जो कार्य हुआ तथा आज भी अनेक महापुरुष जो कार्य कर रहे हैं, उसको स्थूल दृष्टि से नहीं समझा जा सकता है। युग-परिवर्तन निकट है, उसके लिए रचनात्मक और ध्वंसात्मक प्रवृत्तियों का सूक्ष्म जगत् में जो महान् आयोजन हो रहा है, उस महाकार्य को हमारे चर्मचक्षु देख पावें तो जानें कि कैसा अनुपम एवं अभूतपूर्व परिवर्तन-चक्र प्रस्तुत हो रहा है और वह चक्र निकट भविष्य में ही कैसे-कैसे विलक्षण परिवर्तन करके मानव-जाति को एक नये प्रकाश की ओर ले जा रहा है।

विषयान्तर चर्चा करना हमारा प्रयोजन नहीं है। यहाँ तो हमें यह बताना है कि लघुता और महत्ता के चिन्तन की बिन्दु-साधना से आत्मा का भौतिक अभिमान और लोभ विगलित होता है। साथ ही उस आंतरिक शक्ति का विस्तार होता है, जो स्वपर कल्याण के लिए अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है।

बिन्दु-साधक की आत्म-स्थिति उज्ज्वल होती जाती है, उसके विकार मिट जाते हैं। फलस्वरूप उसे उस अनिर्वचनीय आनन्द की प्राप्ति होती है, जिसे प्राप्त करना जीवन-धारण का प्रमुख उद्देश्य है।

एक तन्त्र-शास्त्री ने बिन्दु साधना का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है—"इसी बिन्दु से ज्ञान-भूमि की सूचना मिलती है। चित्त को एकाग्र करके उपसंहृत किये बिना अर्थात् विक्षिप्त अवस्था में, बिन्दु में स्थिति नहीं हो सकती। बिन्दु-अवस्था में स्थित होने पर भी यथार्थ लक्ष्य की प्राप्ति में अनेकों व्यवधान रह जाते हैं। यद्यपि बिन्दु भूमि में साधक अहंभाव में प्रतिष्ठित होकर आपेक्षिक द्रष्टा बनकर निम्नवर्ती समस्त प्रपंच को निरपेक्ष भाव से देखने में समर्थ होता है, तथापि जब तक वह बिन्दु पूर्णतः तिरोहित नहीं हो जाता अर्थात् पूर्णतः अहंभाव का विसर्जन अथवा आत्म-समर्पण नहीं होता, तब तक महाबिन्दु अथवा शिव-भाव की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। इसीलिए बिन्दु-भाव को

प्राप्त होकर साधक को क्रमशः कनाक्षय करते करते पूर्णतया विगलित अवस्था में उपनीत होना पड़ता है।"

बिन्दु-साधक के लिए अहंकार का नाश आवश्यक है। बड़े-बड़े तपस्वी साधक भी इस महारोग में फँसे देखे गये हैं। ऋषि मुनि भी इससे नहीं बच सके हैं, परन्तु बिन्दु साधक का तो लक्ष्य ही यही है। इससे इस साधना की महत्ता की कल्पना सहज में ही की जा सकती है।

हमारे शास्त्रों ने भी आत्म-विकास के जिज्ञासु को इससे बचने का आग्रह किया है।

गीता १८।१६ "जो संस्कृत बुद्धि न होने के कारण यह न समझे कि मैं ही अकेला कर्ता हूँ, समझना चाहिए कि वह दुर्मति कुछ नहीं जानता।" १८।५८ "मुझमें चित रखने पर तू मेरे अनुग्रह से संकटों को अर्थात् कर्म के शुभाशुभ फलों को पार कर जावेगा। परन्तु यदि अहंकार के वश हो मेरी न सुनेगा, तो नाश पावेगा।" ईशावास्योपनिषद् (९) "जो मनुष्य अविद्या की उपासना करते हैं, वे अज्ञान-घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं और जो मनुष्य विद्या में रत हैं अर्थात् मिथ्याभिमान में रत हैं, वे उससे भी मानो अधिकतर अन्धकार में प्रवेश करते हैं।" महोपनिषद् में "अहंकार के कारण विपत्ति आती है, अहंकार के कारण दुष्ट मनो-व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। अहंकार के कारण कामनायें उत्पन्न होती हैं। अहंकार से बढ़कर मनुष्य का कोई दूसरा शत्रु नहीं है।"

अहंकार हमारी आत्मिक शक्तियों पर जोंक का-सा काम करता है, यह ठीक है। इससे बचना आवश्यक है, परन्तु इसका यह भी अर्थ नहीं कि हम अपने आत्मगौरव को सर्वथा भूल जाये और अपने को पतित, पापी, नीच, दुष्ट, दुर्गामी, निर्बल, निस्सहाय और असमर्थ समझने लगें। हमें शरीर-भाव से ऊपर उठकर आत्म-भाव में स्थित होना होगा। वेदों की अन्तरात्मा को प्रकट करने वाली उपनिषदों की

उस ललकार को सुनना होगा, जिसमें उन्होंने सोऽहम्,तत्वमसि, अयमात्मा ब्रह्म, सोऽहमस्मि का सिंहनाद किया है और कहा है कि मनुष्य तुच्छ कीडा नहीं, वरन् सच्चिदानन्द परमात्मा का पवित्र अ श है। उसे अपने निज स्वरूप की वास्तविकता का बोध होना चाहिए। ब्रह्मबिन्दूपनिषद् मे कहा है—"जो व्यक्ति यह भावना करता है कि 'वह ब्रह्म मैं ही हूँ' वह उस भावना के द्वारा ब्रह्म ही हो जाता है।"

हमे यह जानना होगा कि मनुष्य वस्तुत तुच्छ, क्षुद्र, नाचीज, शूद्र, नश्वर, हाड-माँस का पुतला, वासनाओ का गुलाम नहीं है, वह निर्विकार, ब्रह्माण्डव्यापी, सृष्टिकर्त्ता, सच्चिदानन्द अमृतत्व की तेजस्वी बूँद है। सम्राटो-के-सम्राट परमात्मा का वह सच्चा उत्तराधिकारी राजकुमार है। इतनी बडी सृष्टि का मुकुटमणि बनाकर शासन करने योग्य शारीरिक और मानसिक विलक्षण शक्तियो की सेना देकर, अनेकानेक साधन और सुविधायें देकर, सुसज्जित युवराज की तरह प्रजा का पालन करनेके लिए ससारमे ईश्वरने उसे भेजा है। वह अपने क्षेत्र का उत्तरदायी अफसर गवर्नर जनरल है—क्या यह कम गौरव की बात है ? क्या चौरासी लाख योनियो मे भ्रमण करने वाले कोटानिकोटि जीव जिस पद को प्राप्त करने मे असमर्थ हैं, उस सृष्टि के सर्वोच्च अफसर का पद प्राप्त करना कोई मामूली बात है ? जिन सुखो, सौभाग्यो, सुविधाओ, साधनो, शक्तियो, योग्यताओ का स्वप्न भी असख्य प्राणी न कर पाते होगे, उनसे सब प्रकार सु-सम्पन्न होना क्या कोई कम बात है ? निस्सन्देह आत्मा, परमात्मा के ही समान महान् है। उसमे अपने पिता की सम्पूर्ण शक्तियाँ और सम्भावनायें छिपी हुई हैं। करोडो, कुबेरो के खजाने, ऋद्धि-सिद्धियो के अगणित भडार उसके रोम-रोम मे छिपे पडे हैं। मनुष्य पारस पत्थर है, मनुष्य चिन्तामणि है, मनुष्य कल्पवृक्ष है, मनुष्य देवताओ का देवता है। विश्व की महानतम श्रेष्ठ वस्तु मनुष्य है। उससे ऊँची और कोई वस्तु इस लोक मे नहीं है। सृष्टि

का जर्रा-जर्रा उसकी ममता के सामने मस्तक झुकाये खड़ा है, प्रकृति उसकी आरती उतार रही है, वरुण उसका चँवर डुला रहा है, इन्द्र उसके चरण धो रहा है। सूर्य और चन्द्र उसकी देहरी पर दीपक की तरह टिमटिमा रहे हैं। करोड़ों कंठ से हमें कहने दीजिए कि मनुष्य का गौरव महान् है।

इस गौरव की जो वास्तविक अनुभूति कर लेता है वही सच्चा बिन्दु साधक है।

● ●

कला-साधना

कला का अर्थ है—किरण। प्रकाश यों तो अत्यन्त सूक्ष्म है, पर उस सूक्ष्मता का ऐसा समूह, जो हमें एक निश्चित प्रकार का अनुभव करावे, 'कला' कहलाता है। सूर्य से निकलकर अत्यन्त सूक्ष्म प्रकाश-तरगें भू-तल पर आती हैं, उनका एक समूह ही इस योग्य बन पाता है कि नेत्रो से उसका अनुभव किया जा सके। सूर्य-किरणों के सात रग प्रसिद्ध हैं। परमाणुओं के अन्तर्गत जो 'प्रमाण' होते हैं, उनकी विद्युत-तरगें जब हमारे नेत्रो से टकराती हैं, तभी किसी रग-रूप का ज्ञान हमे होता है। रूप को प्रकाशवान बनाकर प्रकट करने का काम कला द्वारा ही होता है।

कलायें दो प्रकार की होती हैं—१ आप्ति, और २ व्याप्ति। आप्ति वे हैं जो प्रकृति के अणुओं से प्रस्फुटित होती हैं। व्याप्ति वे हैं जो पुरुषों के अन्तराल से आविर्भूत होती हैं इन्हे 'तेजस' भी कहते हैं। वस्तुये पञ्च तत्वों से बनी हुई होती हैं, इसलिए परमाणुओं से निकलने वाली किरणें अपने प्रधान तत्व की विशेषता भी साथ लिए होती हैं। यह विशेषता रग द्वारा पहचानी जाती है। किसी वस्तु का प्राकृतिक रग देखकर बताया जा सकता है कि इसमे कौन सा तत्व किस मात्रा मे विद्यमान है।

व्याप्ति कला, किसी मनुष्य के तेजस में परिलक्षित होती है। वह तेजस मुख के आस-पास प्रकाश-मडल की तरह विशेष रूप से फैला होता है, यों तो सारे शरीर के आस-पास प्रकाश रहता है। इसे अँग्रेजी

मे "ओरा" और संस्कृति मे "तेजोवलय" कहते है। देवताओ के चित्रो मे उनके मुख के आस पास एक प्रकाश का गोला सा चित्रित होता है यह उनकी कला का ही चिह्न है। अवतारो के सम्बन्ध मे उनकी शक्ति का माप उनकी कथित कलाओ से किया जाता है। परशुरामजी मे तीन, रामचन्द्रजी मे बारह, कृष्ण मे सोलह कलाये बताई गई है। इसका तात्पर्य है कि उनमे साधारण मात्रा मे इतनी गुनी आत्मिक-शक्ति थी।

सूक्ष्मदर्शी लोग किसी व्यक्ति या वस्तु की आतरिक स्थिति का पता उसके तेजोवलय और रूप-रग, चमक तथा चैतन्यता को देखकर मालूम कर लेते है।

'कला' विद्या की जिसे जानकारी है, वह भूमि के अन्तर्गत छिपे हुए पदार्थों को, वस्तुओ के अन्तर्गत छिपे हुए उनके गुण, प्रभाव एव महत्वो को आसानी से जान लेता है। किसी मनुष्य मे कितनी कलाये है, उसमे क्या-क्या शारीरिक, मानसिक एव आत्मिक विशेषतायें हैं तथा किन किन गुण, दोष, योग्यताओ, सामर्थ्यों की उसमे कितनी न्यूनाधिकता है ? यह सहज ही पता चल जाता है। इस जानकारी के होने से किसी व्यक्ति से समुचित सम्बन्ध रखना सरल हो जाता है।

कला-विज्ञान का ज्ञाता अपने शरीर की तात्विक न्यूनाधिकता का पता लगाकर इसे आत्म बल से ही सुधार सकता है और अपनी कलाओ से समुचित सशोधन, परिमार्जन एव विकास कर सकता है। कला ही सामर्थ्य है। अपनी आत्मिक सामर्थ्य का, आत्मिक उन्नति का माप कलाओ की परीक्षा करके प्रकट हो जाता है और साधक यह निश्चय कर सकता है कि उन्नति हो रही है अथवा नही ? उसे सन्तोष-जनक सफलता मिल रही है या नही ?

सब ओर से चित्त हटाकर, नेत्र बन्द करके भृकुटी के मध्य भाग मे ध्यान एकत्रित करने से मस्तिष्क मे तथा उसके आस-पास रङ्ग बिरङ्गी धज्जियाँ, चिन्दियाँ तथा तितलियाँ-सी उडती दिखाई पडती हैं।

इनके रंगों का आधार तत्त्वों पर निर्भर होता है। पृथ्वी तत्त्व का रंग पीला, जल का श्वेत, अग्नि का लाल, वायु का हरा, आकाश का नीला होता है। जिस रङ्ग की झिलमिल होती है उसी के आधार पर यह जाना जा सकता है कि इस समय इसमें किन तत्त्वों की अधिकता और किसकी न्यूनता है।

प्रत्येक रङ्ग में अपनी-अपनी विशेषता होती है। पीले रंग में क्षमा, गम्भीरता, उत्पादन, स्थिरता, वैभव, मजबूती, मर्यादा, भारी-पन। श्वेत रङ्ग में रसिकता, कोमलता, शीघ्र प्रभावित होना, तृप्ति, शीतलता, सुन्दरता, वृद्धि, प्रेम। लाल रंग में—गर्मी, हरारत, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, अनिष्ट, शूरता, सामर्थ्य, उत्तेजना, कामुकता, तेज, प्रभाव-शीलता, चमक, स्फूर्ति। हरे रंग में—चञ्चलता, कल्पना, स्वप्नशीलता, हल्कापन, जड़ता, दर्द, अपहरण, धूर्तता, गतिशीलता, विनोद, प्रगति-शीलता, प्राण-पोषण, परिवर्तन। नीले रंग में विचारशीलता, बुद्धि, सूक्ष्मता, विस्तार, सात्त्विकता, प्रेरणा, व्यापकता, संशोधन, संवर्द्धन, सिंचन, आकर्षण आदि गुण होते हैं।

जड़ या चेतन किसी भी पदार्थ के प्रकट रंग एवं उससे निकलने वाली सूक्ष्म प्रकाश ज्योति से यह जाना जा सकता है कि इस वस्तु या प्राणी का गुण, कर्म, स्वभाव एवं प्रभाव कैसा हो सकता है? साधारणतः यह पाँच तत्त्वों की कला है, जिनके द्वारा यह कार्य हो सकते हैं—(१) व्यक्तियों तथा पदार्थों की आन्तरिक स्थिति को समझना, (२) अपने शारीरिक तथा मानसिक क्षेत्र में असन्तुलित किसी गुण दोष को संतुलित करना, (३) दूसरों की शारीरिक तथा मानसिक विकृतियों का संशोधन करके सुव्यवस्था स्थापित करना, (४) तत्त्वों के मूल आधार पर पहुँचकर तत्त्वों की गतिविधि तथा क्रिया-पद्धति को जानना (५) तत्त्वों पर अधिकार करके सांसारिक पदार्थों का निर्माण, पोषण तथा विनाश करना।

यह उपरोक्त पाँच लाभ ऐसे हैं, जिनकी व्याख्या की जाये, तो वे

ऋद्धि सिद्धियों के समान आश्चर्यजनक प्रतीत होंगे। यह पाँच भौतिक कलायें हैं, जिनका उपयोग राजयोगी, हठयोगी, मन्त्रयोगी तथा तान्त्रिक अपने अपने ढंग से करते हैं और इस तान्त्रिक शक्ति का अपने-अपने ढंग से सदुपयोग दुरुपयोग करके भले-बुरे परिणाम उपस्थित करते हैं। कला द्वारा सांसारिक भोग-वैभव भी मिल सकता है। आत्म-कल्याण भी हो सकता है और किसी को शोषित अभिचारित एवं दुखी, शोक-संतप्त भी बनाया जा सकता है। पञ्च-तत्वों की कलाये ऐसी ही प्रभावपूर्ण होती हैं।

आत्मिक कलाएँ तीन होती हैं—सत, रज और तम। तमोगुणी कलाओं का मध्य केन्द्र शिव है। रावण, हिरण्यकश्यप, भस्मासुर, कुम्भकरण, मेघनाद आदि असुर इन्ही तामसिक कलाओं के सिद्ध पुरुष थे। रजोगुणी कलाएँ विष्णु से आती है। इन्द्र, कुबेर, वरुण, बृहस्पति, अर्जुन, भीम, युधिष्ठिर, कर्ण आदि मे इन राजसिक कलाओं की विशेषता थी। सतोगुणी सिद्धियाँ ब्रह्मा से आविर्भूत होती हैं। व्यास, वशिष्ठ, अत्रि, बुद्ध, महावीर, ईसा, गांधी आदि ने सात्विकता के केन्द्र से ही शक्ति प्राप्त की थी।

आत्मिक कलाओं की साधना गायत्री योग के अन्तर्गत ग्रंथि भेद द्वारा होती है। रुद्र-ग्रंथि और ब्रह्म ग्रन्थि खुलने से इन तीनों ही कलाओं का साक्षात्कार साधक को होता है। पूर्वकाल में लोगों के शरीर मे आकाश तत्व अधिक था, इसलिए उन्हे इन्ही साधनाओं से अत्यधिक आश्चर्यमयी सामर्थ्य प्राप्त हो जाती थी। पर आज के युग मे जन-समुदाय के शरीरों मे पृथ्वी-तत्व प्रधान है। इसलिए अणिमा महिमा आदि तो नही, पर सत, रज-तम की अधिकता से अब भी आश्चर्यजनक हित साधन हो सकता है।

प्रकार—

कुलागम तंत्र मे विभिन्न प्रकार की कलाओं के नाम और गुण इस प्रकार दिए गए हैं—

अग्निसूर्येन्दुब्रह्मेन्द्रविष्णुरुद्रसदाशिवै ।
चतुर्विंशतिमन्त्रैः स्यान्मद्यञ्चैव परामृतम् ॥
अमृता मानदा पूषा तुष्टिः पुष्टी रतिर्धृतिः ।
शशिनी चन्द्रिका कान्तिर्ज्योत्स्ना श्रीः प्रीतिरङ्गदा ॥
पूर्णा पूर्णामृता चेति कथिता कुलनायिके ।
सौम्याः कामप्रदायिन्यः षोडश स्वरजा कला ॥
तपनी तापिनी धूम्रा मरीचिर्ज्वालिनी रुचिः ।
सुषुम्ना भोगदा विश्वा बोधिनी धारिणी क्षमा ।
कभाद्या वसुदा सौरष्ठडान्ता द्वादशेरिता ॥
धूम्रार्चिरुष्मा ज्वलिनी ज्वालिनी विस्फुलिङ्गिनी ।
सुश्री सुरूपा कपिला हव्यकव्यवहे अपि ॥
आग्नेया यादिवर्णाद्या दश धर्मप्रदा कला ।
सृष्टिर्मेधा स्मृतिर्ऋद्धिः कान्तिर्लक्ष्मीर्द्युतिः स्थिरा ॥
स्थितिः सिद्धिरिति प्रोक्ता कचवर्गकला दश ।
अकारप्रभवा ब्रह्मजाता स्युः सृष्टये कला ॥
जरा च पालिनी शान्तिरीश्वरी रतिकामिके ।
वरदाह्लादिनीप्रीतिदीर्घा स्युष्टतवर्गजा ॥
उकारप्रभवा विष्णुजाता स्युः स्थितये कला ।
तीक्ष्णा रौद्री भया निद्रा तद्रा क्षुत् क्रोधिनी क्रिया ॥
उत्कारी मृत्युरित्युक्ता पयवर्गकला दश ।
मकारप्रभवा रुद्रजाता संहृतये कला ॥

अर्थात् "अग्नि, सूर्य, इन्दु, ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु रुद्र और सदाशिव के चौबीस मन्त्रों से मद्य परामृत हो जाता है। हे कुलनायिके !

अमृता, मानदा, तूषा, तुष्टि, पुष्टि, रति, धृति, शशिनी, चन्द्रिका, कान्ति, ज्योत्स्ना, श्री, प्रीति, अङ्गदा, पूर्णा और पूर्णामृता, ये परम सौम्य और कामनाओं को प्रदान करने वाली स्वरजा सोलह कलाये कही गई हैं। तपिनी, तापिनी, धूम्रा, मरीचि, ज्वालिनी, रुच, सुषुम्ना, भोगदा, विश्वा, बोधिनी, धारिणी, क्षमा य कभाद्या सौराष्ठडान्त वसु प्रदान करने वाली बारह कलाये बताई गई हैं। धूम्रा, अर्चि, उष्मा, ज्वलिनी, ज्वालिनी विस्फुलिंगनी, सुश्री सुरूपा, कपिला और हव्य-कव्य-वहा ये आग्नेया या यर्णाद्या दश धर्म को प्रदान करने वाली कलायें कही गई हैं। सृष्टि, मेधा, स्मृति, ऋद्धि, कान्ति, लक्ष्मी, द्युति स्थिरा, स्थिति और सिद्धि ये कचवग की दस कलायें होती हैं। अकार से प्रसव वाली तथा ब्रह्म से जात ये सृष्टि के लिये कलायें होती हैं। जरा, पालिनी, शान्ति, ईश्वरी, रति, कामिका, वरदा, आह्लादिनी, प्रीति, दीर्घा ये टत-वर्ग से उत्पन्न होने वाली एवं उकार प्रसवा भगवान् विष्णु के द्वारा जान स्थिति के लिए दस कलाये होती है। तीक्ष्णा, रौद्री, भया, निद्रा, तन्द्रा, क्षुत्, क्रोधिनी, क्रिया, उत्कारी, मृत्यु ये पयवग की दस कलायें मकार प्रभव और जात, संहार के लिये होती है।

पाँच कलाओं द्वारा तात्विक साधना—

पृथ्वी-तत्व—इस तत्व का स्थान मूलाधार चक्र अर्थात् गुदा से दो अंगुल अंड कोश की ओर हटकर सीवन में स्थित है। सुषुम्ना का आरम्भ इसी स्थान से होता है। प्रत्येक तत्व-चक्र का आकार कमल के पुष्प जैसा है। यह 'भूलोक' का प्रतिनिधि है। पृथ्वी-तत्व का ध्यान इसी मूलाधार चक्र में किया जाता है।

पृथ्वी-तत्व की आकृति चतुष्कोण, रङ्ग पीला, गुण गन्ध है। इसलिए इसको जानने की इन्द्रियाँ नासिका तथा कर्मेन्द्रिय गुदा है। शरीर में पीलिया कमलवाय आदि रोग इसी तत्व की विकृति से पैदा होते हैं। भय आदि मानसिक विकारों में इसकी प्रधानता होती है।

इस तत्त्व के विकार मूलाधार चक्र में ध्यान स्थिर करने से अपने आप शान्त हो जाते हैं।

साधन-विधि—पहले जब तक पद्मासन लगा सकें, तब किसी शान्त स्थान में और पवित्र आसन पर दोनों पैरों को पीछे की ओर मोड़कर उन पर बैठें। दोनों हाथ घुटनों के ऊपर इस प्रकार रखें कि उनकी अंगुलियाँ सामने की ओर रहें। फिर नासिका के अग्र भाग पर दृष्टि रखते हुए मूलाधार चक्र में 'ल' बीज वाली चौकोर पीले रंग की पृथ्वी का ध्यान करें। इस प्रकार करने से नासिका सुगन्ध से भर जायेगी और शरीर उज्ज्वल कान्ति वाला हो जाता है। ध्यान करते समय ऊपर कहे हुए पृथ्वी तत्त्व के समस्त गुणों को अच्छी तरह ध्यान में लाने का प्रयत्न करना चाहिए और 'ल' इस बीज मन्त्र का मन-ही-मन (शब्द रूप से नहीं, वरन् ध्यान रूप से) जप करते जाना चाहिए।

जल-तत्त्व—पेडू के नीचे जननेन्द्रिय के ऊपर मूल भाग में स्वाधिष्ठान चक्र में जल-तत्त्व का स्थान है। यह चक्र भुवः लोक का प्रतिनिधि है। शुक्ल श्वेत, आकृति अर्द्ध चन्द्राकार और गुण रसों का स्वाद है। कटु, अम्ल, तिक्त आदि रसों का स्वाद इसी तत्त्व के कारण आता है। इसकी ज्ञानेन्द्रिय जिह्वा और कर्मेन्द्रिय लिंग है। मोहादि विकार इसी तत्त्व की विकृति से होते हैं।

साधन-विधि—पृथ्वी तत्त्व का ध्यान करने के लिये बताई हुई विधि से आसन पर बैठकर 'व' बीज वाले अर्द्ध चन्द्राकार चन्द्रमा की तरह कान्ति वाले जल-तत्त्व का स्वाधिष्ठान चक्र में ध्यान करना चाहिए। इससे भूख-प्यास मिटती है और सहन-शक्ति उत्पन्न होती है।

अग्नि-तत्त्व—नाभि स्थान में स्थित मणिपूरक चक्र में अग्नि-तत्त्व का निवास है। यह स्वः लोक प्रतिनिधि है। इस तत्त्व की आकृति त्रिकोण लाल, गुण रूप है। ज्ञानेन्द्रिय नेत्र और कर्मेन्द्रिय पाँव है। क्रोधादि मानसिक विकार तथा सूजन आदि शारीरिक विकार इस तत्त्व

की गड़बड़ी से होते हैं। इसके सिद्ध हो जाने पर मन्दाग्नि, अजीर्ण आदि पेट के विकार दूर हो जाते है और कुडलिनी शक्ति के जाग्रत होने मे सहायता मिलती है।

साधन-विधि—नियत समय पर बैठकर 'र' बीज मन्त्र वाले त्रिकोण आकृति के और अग्नि के समान लाल प्रभा वाले अग्नि-तत्व का मणिपूरक चक्र मे ध्यान करे। इस तत्व के सिद्ध हो जाने पर सहन करने की शक्ति बढ जाती है।

वायु-तत्व—यह तत्व हृदय-देश मे स्थित अनाहत चक्र मे है एव महालोक का प्रतिनिधि है। रग हरा, आकृति षटकोण तथा गोल दोनो तरह की है। गुण स्पर्श, ज्ञानेन्द्रिय त्वचा और कर्मेन्द्रिय हाथ हैं। वात, व्याधि, दमा आदि रोग इसी की विकृति से होते हैं।

साधन विधि—नियत विधि से स्थित होकर 'य' बीज वाले गोलाकार, हरी आभा वाले, वायु-तत्व का अनाहत-चक्र मे ध्यान करे। इससे शरीर और मन मे हलकापन आता है।

आकाश-तत्व—शरीर मे इसका निवास विशुद्ध चक्र मे है। यह चक्र कठ-स्थान मे जनलोक का प्रतिनिधि है। इसका रग नीला, आकृति अडे की तरह लम्बी-गोल, गुण शब्द, ज्ञानेन्द्रिय कान तथा कर्मेन्द्रिय वाणी है।

साधन-विधि—पूर्वोक्त आसन पर 'ह' बीज मन्त्र का जप करते हुए चित्र-विचित्र रग वाले आकाश-तत्व का विशुद्ध चक्र मे ध्यान करना चाहिए। इससे तीनो कालो का ज्ञान, ऐश्वर्य तथा अनेक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

नित्यप्रति पाँच तत्वो का छ मास तक अभ्यास करते रहने से तत्व सिद्ध हो जाते हैं। फिर तत्व को पहचानना और उसे घटाना-बढाना सरल हो जाता है। तत्वो की सामर्थ्य तथा कलायें बढने से साधक कलाधारी बन जाता है। उसकी कलायें अपना चमत्कार प्रकट करती रहती हैं।

• * ❀

बलिदान का तात्विक स्पष्टीकरण

लोक मे जिन कारणो से तन्त्र के प्रति उपेक्षा भाव व्याप्त है उनमे से एक बलिदान भी है। साधको मे यह भाव प्रचलित है कि देवी-देवता बलि मे प्रसन्न होते है और इच्छित वर प्रदान करते हैं। इष्ट-पूजा के षोडश उपचारो मे बलिदान को प्रधान उपचार माना जाता है। परन्तु इसे गलत रूप मे समझा गया है। एक लेखक का कहना है कि तन्त्रो की भाषा साकेतिक होने के कारण तत्प्रतिपाद्य पूजा-प्रकार का यथार्थ निरूपण करना एक दुरूह व्यापार है।' साकेतिक भाषा को न समझकर लोगो ने प्रत्यक्ष रूप मे पशुओ का बलिदान करना आरम्भ कर दिया और यह समझने लगे कि वह एक अत्यन्त उच्चकोटि का धार्मिक कृत्य कर रहे हैं। परन्तु वास्तव मे उन्होने एक ऐसी धारणा को जन्म दिया, जिससे लाखो करोडो की व्यर्थ मे हत्या की गई मांसाहार की कुप्रवृत्ति को बल मिला, हिंसा का विकास हुआ और साथ-साथ मानवता का ह्रास भी। अर्थ के अनर्थ से मानव-जाति की इतनी क्षति हुई और हो रही है। तन्त्र के इस अत्यन्त आवश्यक विधान को समझना चाहिए ताकि इसे सही अर्थों मे किया जा सके।

बलिदान शब्द बहुत ही उत्तम अर्थों मे प्रयोग मे लाया जाता है। जो व्यक्ति किसी विशेष उद्देश्य के लिए बलिदान हुए हैं, जनता उनका अपार सम्मान करती आई है। देश और जाति पर बलिदान होने वालो की महानता की छाप मानव-हृदय पर पडे बिना रह नही सकती। बलिदानी की भावनाएँ, विचार और उद्देश्य इतने श्रेष्ठ और

उच्च होते है कि उसके सामने वह अपने समस्त सांसारिक स्वार्थो को भूल जाता है। आत्मिक भूमिका मे पदारूढ़ होने वाला व्यक्ति ही इसका अधिकारी होता है, क्योकि जिसे अपने शरीर, परिवार और धन-सम्पत्ति मे मोह है, वह बलिदान की चारदीवारी से कोसो दूर रहता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति इन नाशवान् वस्तुओ से ऊपर उठ जाता है, वही अपने आपको समर्पण करने का साहस कर सकता है। यही कारण है कि ऐसे ही व्यक्ति जनता के मनो पर अपनी छाप छोड जाते हैं, उन्ही की जय-जयकार होती है, स्मारक बनते है, वार्षिकोत्सव होते है, लोग उनकी जीवन-घटनाओ का अनुकरण करने का प्रयत्न करते हैं।

बलिदान वह वस्तु है, भावनाओ की वह उच्च स्थिति है जहाँ जाकर साधक अपनेपन को भूल जाता है। यह एक ऐसी स्वस्थ परम्परा है, जिसका जीवित रहना आवश्यम्भावी है। इसी के ऊपर राष्ट्रो और जातियो का भविष्य टिका हुआ है। जिस देश के नागरिक केवल अपने स्वार्थ का ही ध्यान रखते हैं और परमार्थ त्याग तथा बलिदान की ओर नही झुकते, वह देश और जाति उन्नति का मार्ग नही ढूढ सकती।

मुगल बादशाह शाहजहाँ की लडकी का इलाज करके एक अग्रेज डाक्टर ने अपने स्वार्थों का बलिदान करके अपने देश के लिए एक सुविधा प्राप्त कर ली थी। उसी के कारण अग्रेज भारत मे आये और व्यापारी की हैसियत मे आकर शासक बन गये तथा भारत को जौंक की तरह चूसकर चले गये। यदि सर टामस रो अपने लिए कुछ धन सम्पत्ति की आकाक्षा करता, तो आज भारत का इतिहास ही कुछ और होता।

जिन देशवासियो की ऐसी उच्च भावनायें रहती हैं, वही देश आकाश मे सितारो की तरह चमकते हैं। देश की स्वतन्त्रता पर मर

मिटने वाले भगतसिंह आदि को क्या देश भूल जाएगा? सुभाष बोस जैसे महारथियों को, जिन्हें परतन्त्रता की जंजीरों को तोड़ने के लिए हजारों संकटों का सामना करना पड़ा—देशवासी अपने मानस पटल से कैसे दूर कर सकेंगे? जिन्होंने अपना जीवन, समस्त धन-सम्पत्ति किसी विशेष उद्देश्य के लिए खपा दी है, वह जनता के हृदय सम्राट कैसे न बनेंगे और इतिहासकार उन्हें कैसे अपनी लेखनी से दूर रख सकेंगे?

इस बलिदान की परम्परा का हमारे देश में असाधारण मान रहा है। यहाँ एक ऐसा वर्ग विशेष था, जो अपने स्वार्थों की परवाह न करते हुए निरन्तर राष्ट्रोत्थान में प्रयत्नशील रहता था। उन्होंने अपनी कामनाओं, इच्छाओं और अभिलाषाओं का बलिदान कर दिया था। जो किसी ने दे दिया, उसे पाकर ही सन्तुष्ट रहते थे और निरन्तर पठन-पाठन, मनन, चिन्तन साधना, तप में मग्न रहते थे। देश में श्रेष्ठ विचारों के प्रसार का उत्तरदायित्व उन्हीं पर था। इसलिए निर्धन ब्राह्मणों का सांसारिक दृष्टि से धनवान राजा-महाराजाओं को भी विशेष सम्मान करना पड़ता था। वह उनके आदेश के बिना कोई भी कार्य करने का साहस नहीं कर सकते थे। जब से ब्राह्मणों ने अपनी इस त्याग वृत्ति का बलिदान कर दिया और अपनी स्वार्थपरता तथा लोभ में लिप्त हो गए, तभी से उनका पतन आरम्भ हुआ।

इस त्याग-बलिदान की परम्परा को बनाए रखने और जीवित रखने के लिए ही हमारे धर्म-शास्त्रों में आचार्यों ने नाना प्रकार के विधान बनाए हैं, जो भिन्न-भिन्न प्रकार के लोगों के अनुरूप हैं। जिस तरह से अलग-अलग स्तर के लोगों के लिए अलग-अलग तरह की शिक्षा, साधना, उपासना आदि के विधान बनाए गए हैं, उसी तरह बलिदान के भी कई स्तर हैं। उनके द्वारा धीरे धीरे साधक ऊपर की उनके द्वारा जाता है।

पशुता से बचते रहने और मनुष्यता के विकास के लिए आस्तिकता की अत्यन्त आवश्यकता है। उसके बिना मनुष्य स्वेच्छाचारी हो जाता है। इसके लिए हमारे यहाँ नाना प्रकार के विधान हैं। अपने इष्टदेव को प्रसन्न करने के लिए अपने को प्रिय लगने वाली वस्तुओ का त्याग, बलिदान करना होता है। यह त्याग वस्तु के मूल्य और सौंदर्य पर निर्भर नही करता, वरन् साधक की भावना पर अवलम्बित है। भावना ही यहाँ प्रधान रहती है। भगवान तो श्रद्धापूर्वक समर्पण किए हुए एक तुलसी पत्र से ही प्रसन्न हो जाते हैं और अश्रद्धापूर्वक राज्य-प्रसादो का भोग लगने पर भी वह टस-से-मस नही होते। हमारे इतिहास तथा पुराणो मे ऐसी कथाएँ आती हैं,जिसमे अभिमानयुक्त हीरे-जवाहरात देने वाले राजा की अपेक्षा प्रभु एक निर्धन ब्राह्मण की भक्ति-भावना से केवल पुष्पो से ही रीझ गए। बलिदान की इस भूमिका मे पदार्पण करने वाले सच्चे साधक ही आगे बढते हैं।

भावना से ऊँचा उठकर साधक विचार की सीमा मे आता है। मनुष्य की महानता या क्षुद्रता विचारो पर ही निर्भर है। इन्हे सात्विक आहार पर भी ध्यान देना पड़ता है। माँस, मदिरा, बीड़ी, सिगरेट का सेवन करने वालो के विचारो में गँदलापन आ जाता है। वह धुँधलापन उन्हे पथ-भ्रष्ट कर देता है, सन्मार्ग से च्युत कर देता है। यह ऐसी वस्तुएँ हैं, जो उनके शारीरिक, मानसिक, आत्मिक सभी प्रकार के स्वास्थ्य के लिए हानिकारक सिद्ध होती हैं। उन्हे ग्रहण करने वाला दिन ब दिन पतन की ओर ही जाता है। अत जीवन-लक्ष्य की ओर बढने वाले को इनका बलिदान करना चाहिए। तभी विचार रूपी देव को प्रसन्नता प्राप्त होती है।

राजसिक वस्तुओ के सेवन से भी सात्विकता ढकी रहती है। वृत्तियो का निर्माण अन्य तथ्यो के अतिरिक्त आहार पर भी निर्भर है। राजसिक वस्तुओ के सेवन से कामुकता की वृद्धि होती है। काम का

घटना या बढना जिह्वा की लोलुपता पर भी आधारित है। जिह्वा को नियन्त्रण में रखने वाला साधक कामेन्द्रिय को आसानी से वश में कर सकता है। इससे सभी इन्द्रियो का संयम हो जाता है। जिह्वा पर नियन्त्रण रखने के लिए अपनी प्रिय वस्तुओ का बलिदान करना पडता है। तीर्थों मे जाने वाले यात्री वहाँ पर अपनी प्रिय वस्तुओ का त्याग कर आते हैं। इसका अभिप्राय इस त्याग वृत्ति के बढाने से ही है। इसमें लोग मिठाई, प्याज, लहसुन, मादक वस्तुओ का बलिदान कर देते हैं।

आहार विहार का ध्यान रखता हुआ साधक दुर्गुणो को त्यागने और सद्गुणो को ग्रहण करने का प्रयत्न करता है। इसके लिए वह काम रूपी बकरे, क्रोध रूपी भेड, मोह रूपी महिष आदि का बलिदान करता है। इन पशुओ का बलिदान करके 'पशु मनुष्य' मनुष्य बन जाता है। फिर 'मनुष्य-मनुष्य' अपने मनुष्योचित गुणो का विकास करता हुआ देवत्व की ओर बढता है। उसका जीवन एक आदर्श बन जाता है। सत्य, प्रेम, न्याय, दया, परोपकार ईमानदारी, सदाचार, सन्तोष आदि गुण स्वत उसकी ओर आने लगते हैं। उसका विवेक जाग्रत हो जाता है। वह सभी प्राणियो को अपना समझता है। उनमे अपनापन देखता है, प्रभु का साक्षात्कार करता है, कण-कण मे उसे वही दिखाई है। तब वह किससे छल, कपट धोखा करे और किससे झूठ बोले ? किसको हानि पहुँचाये और किससे प्रेम करे ? उसे दूसरो का सुख दु ख अपना ही सुख-दु ख लगने लगता है। ऐसा अनुभव करने पर वह अपने आपको भूल जाता है और उनका दर्द दूर करने के लिए अपनी कही जाने वाली समस्त धन-सम्पत्ति को न्यौछावर कर देता है, शरीर का मोह त्यागकर उसकी आहुति उस जन कल्याण यज्ञ मे दे देता है, वह अपनेपन का बलिदान कर देता है, अपने को सबमें और सबको अपने मे देखता है। अपनी जीवात्मा को काटकर परमात्मा पर आहुति चढा देता है। इस बलिदान के द्वारा परमात्मा से अज्ञानवश जीवात्मा की जो

पृथकता दीखती है, वह एकबारगी ही नष्ट हो जाती है और साधक उसके स्वरूप में स्थित होकर अद्वितीय ब्रह्म का साक्षात्कार करता है। सबसे उत्तम कोटि का बलिदान यही आत्म-बलिदान है, जिससे साधक धन्य हो जाता है। सब प्रकार के सुख-दुःखों से निवृत्त होकर आनन्द के समुद्र में डुबकियाँ लगाना है।

बलि में आत्माभिमान की बलि सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। देवी का सच्चा सेवक वही माना जाता है, जो यन्त्र की तरह उनकी आज्ञाओं का पालन करता है, जिनमें कर्तृत्व की भावना नहीं रहती जो सांसारिक ममता और अभिमान की बलि देकर माता की इच्छानुसार कार्य करते रहते हैं। श्री रामकृष्ण परमहंस कहा करते थे—'तुम यन्त्री आमि यन्त्र, तुमि गृही आमि घर, तोमार कर्म तुमि करो मा, लोके बोले करि आमि' अर्थात् मैं बाजा हूँ, आप बजाने वाली हैं। मैं घर हूँ तो आप घर में निवास करने वाली मालकिन हैं। आप ही सब कुछ कर रही हैं। अज्ञानता से लोग अपने को कर्ता मानते हैं।' कर्तव्याभिमान न रखना ही सच्चा आत्मबलिदान है।

'ऐतरेय ब्राह्मण' की दूसरी पञ्चिका के छठे अध्याय के तीसरे खण्ड में कहा है—

सर्वाभ्यो वा एष देवताभ्य आत्मानमालभते।

अर्थात् यजमान सब देवताओं की तुष्टि के लिए अपने आत्मा की बलि करता है।'

परमार्थ-सार का कथन है कि—

माया परिग्रहवशाद् बोधो मलिन पुमान पशुर्भवति।

अर्थात् 'माया के कारण मलिन बुद्धि होने से मनुष्य पशु-भाव को प्राप्त होता है।'

बुद्धि मानव के जीवन पथ की उत्तम निर्देशिका है। उसके विकास से ही मानव की प्रगति सम्भव है। उसकी सात्विक, राजसिक

और तामसिक प्रवृत्तियाँ व्यक्ति को उसी रंग में रंग देती हैं। आत्म-कल्याण के साधक को सात्त्विक बुद्धि की ही अपेक्षा रहती है। तामसिक बुद्धि वाला तो पशु जीवन ही व्यतीत करता है। इस पशु जीवन से ऊपर उठकर मानवता की सीमाओं में प्रवेश करना ही वास्तविक जीवन है। जीवात्मा के अच्छे और बुरे कार्य इन्द्रियों के माध्यम से होते हैं। इन्द्रियाँ नरक और मोक्ष दोनों का कारण बनती हैं। यदि उनका आकर्षण विषयों की ओर रहता है, तो निश्चय ही नरक की प्राप्ति होगी। मोक्ष मार्ग पर बढ़ने के लिए आवश्यक है कि उन्हें नियन्त्रण में रखा जाय, अपनी इच्छानुसार चलाया जाय, उनका नौकर न होकर स्वामी बना जाय, उनमें जो पशुता के भाव व्याप्त हैं, उन्हें दूर करके सात्त्विकता का विकास किया जाए। तन्त्र की भाषा में इन्द्रियों की जो तामसिकतारूपी पशुता है, उसे अपने इष्टदेव की प्रसन्नता के लिए काट-काटकर देवी को अर्पित करना चाहिए—यही यथार्थ बलिदान है। शास्त्रों में जहाँ-तहाँ पशु-बलि के आदेश आए हैं, वह अलङ्कारिक भाषा में हैं। उनके विभिन्न अर्थ हैं, जो निम्न प्रकार हैं।

उपनिषद् का वचन है—

काम क्रोध लोभाद्य पशव ।

अर्थात् "काम, क्रोध, लोभ, मोह यह पशु हैं, इन्हीं को मारकर यज्ञ में हवन करना चाहिए।"

काम क्रोध सुलोभ मोह काच्छिक्षत्वा विवेकासिना ।
मास निर्विषय परात्म सुखद भुञ्जति तेषा बुधा ॥

—भैरवयामल

अर्थात् "विवेकी पुरुष काम, क्रोध, लोभ और मोह रूपी पशुओं को विवेकरूपी तलवार से काट कर दूसरे प्राणियों को सुख देने वाले निर्विषयरूपी मांस का भक्षण करते हैं।"

पृथकता दीखती है, वह एकबारगी ही नष्ट हो जाती है और साधक उसके स्वरूप में स्थित होकर अद्वितीय ब्रह्म का साक्षात्कार करता है। सबसे उत्तम कोटि का बलिदान यही आत्म-बलिदान है, जिससे साधक धन्य हो जाता है। सब प्रकार के सुख-दु:खों से निवृत्त होकर आनन्द के समुद्र में डुबकियाँ लगाता है।

बलि में आत्माभिमान की बलि सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। देवी का सच्चा सेवक वही माना जाता है, वे यन्त्र की तरह उनकी आज्ञाओं का पालन करता है, जिनमें कर्तृत्व की भावना नहीं रहती जो सांसारिक ममता और अभिमान की बलि देकर माता की इच्छानुसार कार्य करते रहते हैं। श्री रामकृष्ण परमहंस कहा करते थे—'तुम यन्त्री आमि यन्त्र, तुमि गृही आमि घर, तोमार कर्म तुमि करो मा, लोके बोले करि आमि' अर्थात् मैं बाजा हूँ, आप बजाने वाली हैं। मैं घर हूँ तो आप घर में निवास करने वाली मालकिन हैं। आप ही सब कुछ कर रही हैं। अज्ञानता से लोग अपने को कर्ता मानते हैं।' कर्तव्याभिमान न रखना ही सच्चा आत्मबलिदान है।

'ऐतरेय ब्राह्मण' की दूसरी पञ्चिका के छठे अध्याय के तीसरे खण्ड में कहा है—

सर्वाभ्यो वा एष देवताभ्य आत्मानमालभते।

अर्थात् यजमान सब देवताओं की तुष्टि के लिए अपने आत्मा की बलि करता है।'

परमार्थ-सार का कथन है कि—

माया परिग्रहवशाद् बोधो मलिन पुमान पशुर्भवति।

अर्थात् 'माया के कारण मलिन बुद्धि होने से मनुष्य पशु-भाव को प्राप्त होता है।'

बुद्धि मानव के जीवन पथ की उत्तम निर्देशिका है। उसके विकास से ही मानव की प्रगति सम्भव है। उसकी सात्विक, राजसिक

गीता मे लिखा है कि मन और बुद्धि को अर्पण करना चाहिए (१२।१८) किन्तु विषयासक्त मन-बुद्धि की संज्ञा पशु है और अर्पण ही बलि है।

एक विद्वान का कहना है कि पशु-जगत् मे इन्द्रियाँ सर्वोपरि हैं और उन्ही का साधन वहाँ प्रधान साधन है। किन्तु मनुष्य मे जीवात्मा सर्वोपरि है और जीवात्मा तथा इन्द्रियो के मध्य मे अन्तःकरण है। इनके पशु-स्वभाव को कामात्मक स्वार्थ के लिए व्यवहृत न कर ईश्वर के अनेक होने के संकल्प (एकोऽहं बहुस्याम्) अर्थात् इच्छा शक्ति की, जिसकी संज्ञा महाविद्या है, पूर्तिरूपी यज्ञ मे व्यवहृत होने के लिए महाविद्या को समर्पित करना अर्थात् ईश्वर के दिव्य गुण, शक्ति, सामर्थ्य आदि के प्रकाशित करने योग्य बनाना ही यथार्थ पशु बलि है। जीवात्मा रूपी होता को सद्बुद्धि रूपी स्रुवा मे इस पशु-स्वभाव के साथ संयोजित कर ब्रह्माग्नि मे अर्पण करना अर्थात् ब्रह्म के सृष्टि-हित-कार्य मे प्रवृत्त करना यज्ञ मे इनकी बलि करना है।

तन्त्र के एक प्रसिद्ध लेखक ने अपने एक ग्रंथ मे बकरे को काम, भैंसे को क्रोध, बिलाव को लोभ, भेडे को मोह और ऊंट को मत्सर्य कहा है और इन्ही विकारो के त्याग को पशु-बलि कहा है।

यजुर्वेद मे ऐसे उदाहरण मिलते हैं,जिनसे यह अभिप्राय निकलता है कि अग्नि, वायु और सूय ही पशु हैं। यथा—

अग्नि पशुरासीत्तेनायजन्त।

अर्थात् अग्नि पशु था, उस द्वारा यज्ञ किया।

वायु पशुरासीत्तेनायजन्त।

अर्थात् वायु पशु था, उस द्वारा यज्ञ किया।

सूर्यं पशुरासीत्तेनायजन्त।

अर्थात् सूर्य पशु था, उस द्वारा यज्ञ किया।

एतरेय ब्राह्मण १।२।१० में 'पशवो व इवा हुमा' इस पृथ्वी को ही पशु कहा गया है। क्या इन सबको काट-काटकर होमा जायगा ? अन्न से बनी हुई वस्तु (रोटी-पूरी आदि) तथा खाद्य-पदार्थों को भी पशु माना गया है।

चरक संहिता मे अजं औषधि का वर्णन है—

अजाना-मौषधि रज शृ गति विज्ञायते।

—चरक संहिता अ० १

क्या उपरोक्त वाक्य मे वर्णित 'अजा' बूटो के स्थान पर बकरी को औषधि बनाया जायगा ?

महाभारत में भी अजा का अर्थ औषधि और बीज ही किया गया है—

बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्य मिति वा वैदिकी श्रुति ।
अज सज्ञानि बीजानि, छाग तो हन्तुमर्हथ ॥
नेष धर्म सता देवा यत्र वध्येत वै पशु ॥

—महाभारत शान्ति० ३३७

अर्थात् "बीजो का यज्ञ मे हवन करना चाहिए, ऐसी ही वेद की श्रुति है। अज सज्ञक बीज होते हैं। इसलिए बकरे का हनन करना उचित नही, जिस कर्म में पशु की हत्या होती है, वह सज्जनो का धर्म नही।"

वैद्यक ग्रन्थो मे अनेक पशुवाचक शब्द आते हैं। यथा—

अश्व—अश्वगन्धा। ऋषभ७—ऋषभक कन्द। श्वान—कुकुरमुत्ता। वराह—वराहीकन्द। काक—काकमाची। अज—अजमोद। मत्स्य—मत्सयाक्षी। लोम—जटामासी। महिष—महिषाक्ष गुग्गुल। मेष—चकवड, मेषपर्णी। मातुल—धतूरा। मृग—सहदेवी बूटी। पशु—मोथरा। कुमारी—घिकुमारी। रुधिर—केशर। पेश—जटामासी। हृद—दारचीनी।

पशुवाचक शब्दो के अन्य प्रकार के भी अर्थ होते थे—

(१) अज या छाग—तीन या सात वर्ष के पुराने धान, राशि-चक्र मे की मेष राशि।

(२) धेनु—धाना (अथर्व० १२४।३२), पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यौलोक, दिशायें आदि (अथर्व० ४।३६)।

(३) गौ—तण्डुले, शमीवृक्ष (अथर्व० १०।१।१०) रश्मि, चन्द्रमा, दुग्ध, चर्म, धनुष की डोरी आदि (निरुक्त अ० २, पा० २ खण्ड १–३)।

(४) अश्व—तण्डुल के कण (अथर्व० का० ११,सू० ३ पर्याय १, म० ५) सूर्य, अश्वपर्णी या असगन्ध औषधि (यजु० १२।१८), एक नक्षत्र आदि।

(५) अक्षा—सोफ औषधि आदि (यजु० १०।२८।११)।

(६) वृषभ—ओदन(अथर्व० ११ १।३५), बादल, ऋषभ औषधि आदि।

पुरुष सूक्त मे लिखा है कि 'अवघ्नन् पुरुष पशून्'—अर्थात् ईश्वर को ही पशु मान यज्ञ मे समर्पण किया। ईश्वर के अपने को यज्ञ अथवा बलि करने से ही वृद्धि हुई और ऋषि देवता आदि ने भी उन्ही की शक्ति की बलि अथवा प्रयोग कर सृष्टि-यज्ञ किया, यही आदि पशु-बलि हुई।

ऊपर अनेक प्रकार के पशुवाचक शब्द बतलाए गए हैं, जो हमारे साहित्य मे उपलब्ध हैं। माँस लोलुपो ने केवल उसके स्थूल अर्थ को लेकर बलि करना आरम्भ कर दिया, यह अर्थ का अनर्थ है। अशास्त्रोक्त है।

कुछ विद्वान तन्त्रो के उदाहरण देकर पशु-बलि का समर्थन करते हैं, परन्तु वास्तव मे प्रत्यक्ष पशुओ की बलि की कही भी पुष्टि नही की गई है। महाकाल संहिता में कहा है—

सात्विको जीवहत्या वै कदाचिदपि नाचरेत् ।
इक्षुदण्डञ्च कूष्माण्ड तथा वन्यफलादिकम् ॥
क्षीरपिण्डं शालिचूर्णं पशु कृत्वा चरेद्बलिम् ।

अर्थात् "सात्विक विचारो के साधक कभी भी पशुओ की बलि देकर जीव-हत्या नही करते । वे ईख, कोहडा या वन्य फलो की बलि देते है या खोवा, आटा या चावल के पिंड का पशु बनाकर बलि देते हैं ।"

महानिर्वाण तन्त्र मे कहा है—

काम क्रोधो द्वौ पशु इमावेव मनसा बलिमर्पयेत् ।
काम क्रोधो विघ्नकृतो बलि दत्वा जप चरेत् ॥

इसमें काम और क्रोध को विघ्नकारी पशु स्वीकार किया गया है । उनका बलिदान ही सच्ची उपासना मानी गई है ।

इन्द्रियाणि पशून हत्वा'

अर्थात् "इन्द्रियरूप पशु का वध करें ।"

तन्त्र ने इस प्रकार की बलि को स्वीकृति प्रदान की है और यही वास्तविक बलिदान है ।

• ० •

यन्त्रों का प्रेरणात्मक अध्ययन

यन्त्र किसी देवी या देवता का प्रतीक होते हैं। इनका रूप ज्यामितिक होता है। यह रेखाओ, वक्र रेखाओ, त्रिभुजो वर्गो और वृत्तो से मिलाकर बनाए जाते हैं। ये अलग-अलग ढग से बनाए गए हैं। कई का तो बनाना भी कठिन होता है। इनका रूप बिना उद्देश्य के नहीं होता। इन रेखाओ, त्रिभुजो, वर्गों, वृत्तो, यहाँ तक कि कोण, अश का भी विशेष अर्थ होता है। जिस तरह से देवताओ की मूर्तियो के रग-रूप विशेष गुणो का प्रतिनिधित्व करते हैं, उसी तरह यन्त्रो मे गम्भीर लक्ष्य निहित होते हैं। उन्हे केवल एक निम्न वर्ग की अन्ध-विश्वासयुक्त उपासना और परपरा मानना भूल होगी।

इनका निर्माण पत्थर, धातु या अन्य वस्तुओ के तल पर होता है। रेखाओ और त्रिभुजो आदि के माध्यम से बने चित्रो को मडल कहा जाता है। यह किसी भी देवता के प्रतीक हो सकते हैं, परन्तु यन्त्र किसी विशिष्ट देवता का प्रतीक होते हैं।

अर्थ—

यन्त्र का अर्थ ग्रह होता है। यह 'यम्' धातु से बनता है, जिसमे ग्रह का ही बोध होता है क्योंकि यही नियन्त्रण की प्रक्रिया दृष्टिगोचर होती है।

हम यान्त्रिक-युग मे रह रहे हैं। यन्त्र का भौतिक अर्थ मशीन होता है, जो मानव से अधिक श्रमसाध्य और चमत्कारी कार्य

कर सकती है और हर कार्य मे सहायक सिद्ध होती है। मानव एक व्यक्ति को भी उठाकर थोडी दूरी तक नही जा सकता परन्तु रेल, मोटर सैकडो व्यक्तियो को सैकडो मील तक तीव्र गति से ले जाती हैं। हमारे नेत्र एक सीमित दूरी तक ही देख सकते हैं, परन्तु यन्त्र की सहायता से मीलो दूर की वस्तु देखी जा सकती है। इसी तरह विराट ब्रह्म को देखना हो, भी यन्त्र की अपेक्षा रहती है, उसकी भावना करनी पडती है। तांत्रिक यन्त्र को निर्गुण ब्रह्म के शक्ति-विकास का प्रतीक माना जाता है।

एक लेखक ने यन्त्र के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए लिखा है—'जिससे पूजा की जाये, वह यन्त्र है। तन्त्र परम्परा मे इसे देवता के द्वारा प्राण-प्रतिष्ठा प्राप्त यन्त्र शरीर के रूप मे देखा जाता है। यन्त्र उस देवता के रूप का प्रतीक है, जिसकी उपस्थिति को वह मूर्तिमान करता करता है और जिसका कि मन्त्र ध्वनि प्रतीक होता है।'

यन्त्र को देवता का शरीर कहते हैं और मन्त्र को देवता की आत्मा।

पूजा मे यन्त्र वह वस्तु मानी जाती है, जिस पर मन केन्द्रित किया जाता है।

सर जॉन वुडरफ ने 'प्रिंसिपल्स आफ तन्त्र' पुस्तक मे लिखा है कि इसका यन्त्र नाम इसलिए पडा कि यह काम, क्रोध व दूसरे मनो विकारो व उनके दुष्परिणामो को नियन्त्रित करता है।

कुलार्णव तन्त्र के अनुसार यन्त्र के नामकरण की व्याख्या इस प्रकार है—

यमभूतादि सर्वेभ्यो भयेभ्योऽपि कुलेश्वरि।
त्रायते सततञ्चैव तस्माद् यन्त्रमितीरितम्॥

"यम और समस्त प्राणियो से तथा सब प्रकार के भयो से त्राण करता है। हे कुलेश्वरि! सर्वदा त्राण करने के कारण से ही यन्त्र, यह नाम कहा जाता है।'

काम क्रोधादिदोषोत्थ सर्वंद खनियन्त्रणात् ।
यन्त्रमित्याहुरेतस्मिन् देव प्रीणाति पूजित ॥

'काम क्रोधादि दोषो के समस्त दुःखो का नियन्त्रण करने से यन्त्र--यह नाम कहा जाता है। इस पर पूजित देव तुरन्त ही प्रसन्न हो जाते हैं।''

महिमा—

तन्त्रो मे लिखा है कि श्रीचक्र के एक बार के दर्शन का फल विधिपूर्वक सौ यज्ञो के सम्पादन के तुल्य है। १६ प्रकार के महादानो से जो पुण्य फल मिलता है, वह श्रीचक्र के एक बार के दर्शन से उपलब्ध हो जाता है। साढ़े तीन करोड तीर्थों मे स्नान करने का फल एक बार के श्रीचक्र के दर्शन के बराबर है। यह माहात्म्य सभी चक्रो का है।

श्रीचक्र पादोदक का माहात्म्य का वर्णन करते हुए तन्त्रो मे कहा गया है कि गगा, यमुना, गोदावरी, नर्मदा, पुष्कर, गोमती, वाराणसी, हरिद्वार, गया, प्रयाग, बद्रिकाश्रम, सिंधु, रेवा, सेतुबन्ध, सरस्वती आदि जितने भी तीर्थ इस विश्व मे हैं, उनमे स्नान करने से जो पुण्य होता है, श्री चक्र पादोदक के सेवन से उनसे भी सहस्र-कोटि गुना अधिक फल प्राप्त होता है।

यन्त्रो मे बिन्दु, रेखा, त्रिकोण, वृत्त आदि ज्यामिति विज्ञान का प्रयोग होता है। इसकी महत्ता प्रदर्शित करते हुए यूनानी तत्त्वज्ञ प्लेटो ने अपनी पाठशाला के बाह्य कक्ष पर यह घोषणा लिखवा दी थी कि जो विद्यार्थी ज्यामिति से अपरिचित हो, वह इस पाठशाला मे प्रवेश के लिए प्रयत्न न करे।

योगिनी तन्त्र मे लिखा है कि देवी की पूजा मूर्ति, मण्डल अथवा यन्त्र के द्वारा होनी चाहिए। आध्यात्मिक उन्नति के विशेष स्तर तक पहुँचने पर ही साधक इसकी पूजा का अधिकारी होता है। सिद्ध योगी

अ तर-पूजा मे प्रवेश करते हुए यन्त्र की पूजा मे आरम्भ करता है, जो ब्रह्म-विज्ञान का सकेत है ।

उद्देश्य —

यन्त्र केवल रेखाओ व त्रिकोणो आदि से बने ज्यामिति विज्ञान के प्रदर्शक चित्र ही नही है, उनकी रचना विशेष आध्यात्मिक दृष्टिकोण से की जाती है । जिस प्रकार से विभिन्न प्रकार के देवी देवताओ क रग-रूप के रहस्य होते हैं, उसी तरह सभी यन्त्र विशेष उद्देश्य से बनाए गए हैं, ताकि उनका ध्यान कर सकें । वास्तव मे यन्त्रो मे पिंड और ब्रह्मांड का दर्शन पिरोया हुआ है । भारतीय दर्शन का यह मत है कि जो कुछ ब्रह्मांड मे है, जैसे—सूर्य, चन्द्र, ग्रह नक्षत्र आदि । वह देव-शक्तियाँ हमारे सूक्ष्म शरीर मे विद्यमान रहती हैं पर तु हम उनका अनुभव नही कर पाते । मानव का गौरव महान है, परन्तु खेद है कि वह इससे अपरिचित है । जब साधक मूर्ति-पूजा, पाठ, स्तुति, जाप, यज्ञ आदि विविध विधि-विधानो द्वारा आत्मिक प्रगति के स्तर तक पहुँच जाता है, तो गुरु उसे यन्त्र-पूजा का अधिकार प्रदान करते हैं । इसका अर्थ यह है कि उसे अपने पिंड में विद्यमान आध्यात्मिक शक्तियो को अनुभव करने के मार्ग पर चलना है । सूय, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्रो की शक्तियाँ हमारे लिए प्रत्यक्ष चमत्कार दिखाई देती हैं । हमारा पिंड उस विश्व ब्रह्मांड का सक्षिप्त सस्करण है, अत हमारे पिंड मे व्याप्त वह शक्तियाँ भी उतनी चमत्कारी हो सकती है, यदि उन्हे विधिपूर्वक जगा सके । यन्त्र का ध्यान करते हुए साधक ब्रह्मांड का ध्यान करता है । अपने पिंड को वह ब्रह्म जितना ही विस्तृत अनुभव करने लगता है । एक समय आता है जब दोनो मे कोई अन्तर नही रहता और वह अपने शरीर—अपनी ही पूजा करता है । उसके ध्यान मे पिंड और ब्रह्मांड का ऐक्य हो जाता है । वह भगवती को अपना ही रूप समझता है । फिर उसे सारा जगत् ही अपना रूप लगने लगता है, वह अपने को सबमे समाया हुआ

पाता है, अपने अतिरिक्त उसे और कुछ दृष्टिगोचर ही नही होता। वह अद्वैत सिद्धि के मार्ग पर प्रशस्त होता है और ऐसी अवस्था मे आ जाता है कि ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय एक ही रूप लगने लगते हैं। साधक का शरीर अब अनन्त विश्व और अखड ब्रह्म का रूप धारण कर लेता है। यन्त्र की पूजा करते हुए जिन शब्दो का उच्चारण किया जाता है, उससे भी यही भाव निकलता है। वे शब्द यह है—"आहुति ब्रह्म है, होमी जाने वाली सामग्री भी ब्रह्म है, ब्रह्मरूपी अग्नि मे ब्रह्मरूपी होता आहुति देता है। जो ब्रह्म को आहुति देने मे एकाग्र हो जाता है, उसे ही ब्रह्म की एकाग्रसिद्धि प्राप्त होती है।"

यन्त्र द्वारा इस अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचने के लिए विभिन्न प्रकार की साधनाएं करनी पड़ती है। इनका सकेत यन्त्र के विभिन्न अगो से परिलक्षित होता है। उनका चिंतन-मनन करना होता है। विचार, साधना से ही उत्कर्ष होता है। यन्त्र के बीच मे बिन्दु होता है, वह गतिशीलता का द्योतक है। शरीर और ब्रह्माड का प्रत्येक परमाणु अपनी धुरी पर तीव्रतम गति से हर क्षण चक्कर काट रहा है। यह सर्वव्यापक है। अब हमे भी उन्नति के मार्ग पर सन्तुष्ट नही रहना है, हर क्षण आगे बढने के लिए तत्पर और गतिशील रहना है, तभी शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा क्रियाशील हो सकते है। बिन्दु आकाश तत्व का प्रतिनिधित्व करता है क्योकि इसमे अनुप्रवेश भाव रहता है, जो आकाश का गुण है।

चतुरस्र (Square) मे बहुमुखता का भाव है, जिससे विस्तार का सकेत मिलता है, जो पृथ्वी का गुण। अत चार व अधिक भुजाओ वाले आकार पृथ्वी के द्योतक माने जाते हैं।

चित्र मे जब ऊपर की ओर नोक निकली हो, बाण द्वारा सकेत हुआ हो या अग्नि शिखा बनी हो, तो वह उन्नति का भाव प्रदर्शित करता है क्योकि अग्नि का स्वभाव ऊपर को उठने का ही है। उसे

कितना ही टोका जाए, वह ऊँची ही उठना चाहेगी। त्रिभुज का शीर्ष कोण (Vertical Angle) जब ऊपर की ओर बना होता है, तो यह अग्नि-शिखा का ही प्रतीक माना जाता है। जब यह शीर्षकोण नीचे की ओर होता है, तो जल-तत्व का द्योतक माना जाता है क्योंकि नीचे की ओर प्रवाहित होना ही जल का स्वभाव है।

वृत्त (Circle) वायु का द्योतक माना जाता है क्योंकि वृत्त मे चक्राकार गति के लक्षण पाये जाते हैं। जब एक बिन्दु दूसरे के चारो ओर चक्कर लगाता है, तो वृत्त बनता है। वायु भी घूमती है और जिसके साथ सम्पर्क मे आती है, उसे घुमाने लगती है। अग्नि और जल दोनो के साथ यही स्थिति रहती है। अर्द्ध वृत्त या वृत्त के किसी भाग को वायु का चिह्न नही माना जा सकता, क्योंकि उसमे चक्राकार घूमने की प्रवृत्ति नही होती। उसे तो कुंचित (Curved) की सज्ञा दी जा सकती है। त्रिभुज में जब दो किनारे मिलते हैं, तो वह अन्तर शून्य पर आ जाता है। इसलिए अर्धवृत्त या वृत्त के किसी अ श को जल का द्योतक माना जाता है।

यन्त्र मे सबसे बाहर जो चतुष्कोण बना होता है, उसे 'भूपुर' कहते हैं। यह 'भूपुर' विश्व नगर का प्रतीक माना जाता है। किसी भी दशा मे इसमे प्रवेश करके आगे बढने का अर्थ साधना मे प्रगति का चिन्ह है। बिन्दु यन्त्र के बीच मे रहता है। वह अन्तिम लक्ष्य माना जाता है। वही ईश्वर के दर्शन होते है।

अब हम कुछ विशिष्ट यन्त्रो का अध्ययन करेंगे।

श्रीयन्त्र—
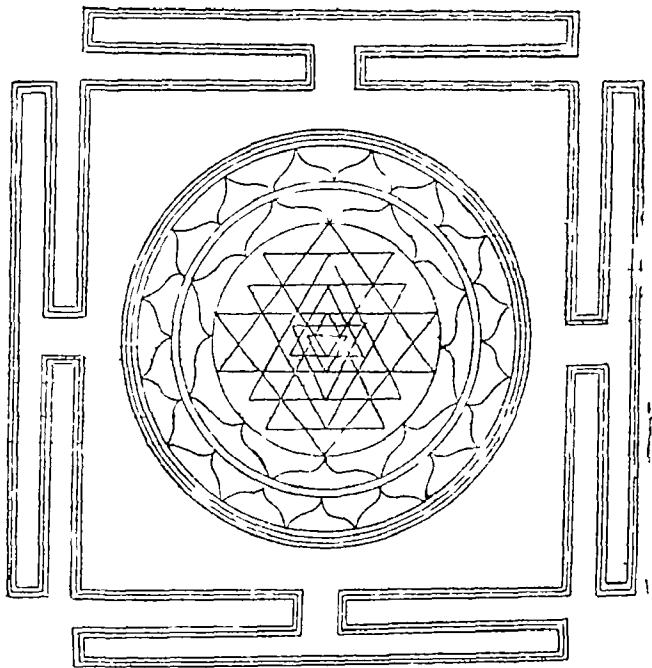
चित्र न० १—श्रीयन्त्र

यह यंत्र भगवती त्रिपुर सुन्दरी का है। इसे सर्वश्रेष्ठ यंत्र कहते हैं। यह सबसे प्रसिद्ध है। इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध मे 'योगिनी हृदय' मे कहा है कि 'जब परात्परा शक्ति अपने संकल्प बल से ही विश्व-ब्रह्माड का रूप ग्रहण करती हैं और अपने स्वरूप को निहारती है, तभी श्री चक्र का आविर्भाव होता है। इसी से भैरवयामल में कहा गया है—

चक्र त्रिपुरसुन्दर्या ब्रह्माण्डाकारमीश्वरि ।

अर्थात् 'हे ईश्वरि ! त्रिपुरसुंदरी का आकार ब्रह्मांडाकार है।' भावनोपनिषद् मे भी कहा है—

नव चक्र मयो देह ।

इस यन्त्र मे ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति और विकास का प्रदर्शन किया गया है ।

श्रीयन्त्र मे श्री शब्द का अर्थ इस प्रकार किया गया है—'श्रयते या सा श्री' अर्थात् 'जो श्रयण की जाए वह श्री है ।' जो नित्य पर-ब्रह्म का आश्रयण करती है, वह श्री है । जिस प्रकार प्रकाश या गर्मी की अग्नि से अभिन्नता रहती है, उसी तरह ब्रह्म और शक्ति भी दोनो अभिन्न रहते हैं । आगम का भी यही सिद्धात है—

न शिवेन विना देवो न देव्या च विना शिव ।
नानयोरन्तर किञ्चिच्चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ।।

अर्थात् "शिव के बिना देवी नही है और बिना देवी के शिव नही हैं । इन दोनो मे कुछ भी अन्तर नही होता है, जिस तरह से कि चन्द्र और उसकी चन्द्रिका में कोई अन्तर नही रहा करता है ।"

ब्रह्म की उत्पत्ति, स्थिति और पालन की सामर्थ्य प्राप्त करने का श्रेय 'श्री' के कारण ही है । श्री शङ्कराचार्य के अनुसार—

शिव शक्त्या युक्तो यदिभवति शक्त प्रभवितु ।
न चेदेव देवो न खलु कुशल स्पन्दितुमपि ।।

अर्थात् "जो शिव शक्ति के सहित होता है, वही शक्तियुक्त अर्थात् सामर्थ्य वाला होता है । यदि शक्ति से हीन होता है, तो वह देव स्पन्दन करने के भी योग्य नही होता है ।"

ब्रह्म स्वय निरञ्जन, निष्कल और निर्गुण है । आगम मे कहा गया है—

अचिन्त्यामिताकारशक्तिस्वरूपा
प्रतिव्यक्त्यधिष्ठानसत्त्वैकमूर्ति ।
गुणातीतनिर्द्वन्द्वबोधैकगम्या
त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा ।।

अर्थात् "चिन्तन करने के अयोग्य, अमित आकार और शक्ति के स्वरूप वाली, प्रति व्यक्ति मे अधिष्ठान सत्ता रखने वाली, एक मूर्ति, गुणो से परे और निर्द्वन्द्व बोध ही केवल जानने के योग्य आप एक परम ब्रह्म रूप से सिद्ध हैं।"

इस अपार महिमा वाली त्रिपुरसुन्दरी के यत्र का अध्ययन आवश्यक है। श्रीयत्र के उपरोक्त प्रथम चित्र से हम देखेंगे कि इसमे कई वृत्त हैं। सबसे अन्दर वाले वृत्त के केन्द्र मे बिन्दु स्थित है। इस बिन्दु के चारो ओर नौ त्रिकोण बनाए गए हैं। इनमे से पाँच की नोक ऊपर की ओर है और चार की नीचे की ओर। जिनकी नोक ऊपर की ओर है, उन्हे भगवती का प्रतिनिधि माना जाता है और शिवयुवती की सज्ञा दी जाती है। नीचे की ओर नोक वाले शिव का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन्हे श्रीकठ कहते हैं। ऊर्ध्वमुखी पाँच त्रिकोण, पाँच प्राण, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्रा और पाँच महाभूतो की प्रतीक हैं। शरीर में यह अस्थि, मेदा, माँस, असृक और त्वक के रूप मे विद्यमान हैं। अधोमुखी चार त्रिकोण शरीर मे जीव, प्राण, शुक्र और मज्जा की द्योतक हैं और ब्रह्माड में मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार के प्रतीक हैं। पाँच ऊर्ध्वमुखी और और चार अधोमुखी त्रिकोण नौ मूल प्रकृतियो का प्रतिनिधित्व करती हैं। इस यत्र मे एक आठ दल वाला और दूसरा सोलह दल वाला कमल है। पहला अन्दर वाले वृत्त के बाहर है और दूसरा दूसरे वृत्त के बाहर है। 'आनन्द लहरी' मे भगवान शङ्कराचार्य ने इनका वर्णन इस प्रकार किया है—

चर्तुर्भि श्रीकण्ठै शिवयुवतिभि पञ्चभिरपि
प्रभिन्नाभि शम्भोर्नवभिरपि मूलप्रकृतिभि ।
त्रयश्चत्वारिशद्वसुदलकलाब्जत्रिवलय—
त्रिरेखाभि सार्धं तव भवनकोण परिणता ॥

अर्थात् 'चार श्रीकंठो के, पांच शिव की युवतियो के, शम्भु की नौ प्रभिन्न मूल प्रकृतियो के, तेतालीस वसु-दल कलाब्ज की त्रिविलय तीन रेखाओं के साथ आपके भवन-कोण परिणत होते हैं।"

इस यंत्र मे ऊर्ध्वमुखी त्रिकोण अग्नि-तत्व के, वृत्त वायु के विन्दु आकाश का और भूपुर पृथ्वी तत्व का प्रतीत माना जाता है। यह यंत्र सृष्टिक्रम का है। इसकी उपासना समय मत वाले करते हैं। भगवान शङ्कराचार्य इसी मत के उपासक थे। उनके हर मठ मे यह यन्त्र रहता है।

कौल मत का श्रीयंत्र अलग तरह का होता है। अन्तर केवल इतना ही है कि उसमे पांच शक्ति त्रिकोण, जो समय मत वाले श्रीयंत्र मे ऊर्ध्वमुखी होती हैं, वह इसमे अधोमुखी हो जाती हैं और चार शिव त्रिकोण जो अधोमुखी रहती हैं वह इसमे ऊर्ध्वमुखी हो जाती हैं। इस तरह से यह संहार-क्रम का यंत्र बन जाता है।

यंत्रराज यंत्र —
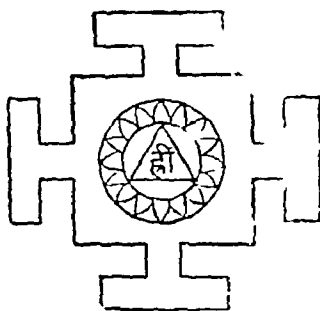
यंत्रराज यंत्र

इस यंत्र का उल्लेख महानिर्वाण तंत्र (५।१७१।१७३) मे है। इसका लक्ष्य दिव्य-भाव की सिद्धि है। इस यंत्र की सहायता से

मानव हर सम्भव विकास कर सकता है। इन यत्र मे जो अर्थ निकलते हैं, उन पर यदि ध्यान केन्द्रित किया जाए तो सिद्धि अवश्य होती है।

यत्र के भीतरी कक्ष मे एक ऊर्ध्वमुखी त्रिकोण है, जो एक वृत्त से घिरा हुआ है, उसके बाहर एक और वृत्त है, जो भूपुर से घिरा हुआ है। इस प्रतीक चित्र मे सृष्टि-क्रम का अध्ययन किया गया है। ऊपर की ओर मुख वाला त्रिकोण अग्निशिखा को प्रदर्शित करता है, जो वृत्त अर्थात् वायु-तत्त्व से आवृत है। जब दोनो क्रियाशील होते हैं, तो विश्व का विस्तार है, जो भूपुर के रूप में दिखाया गया है। इस विस्तार-भाव मे प्रगति और रचना का भाव भी निहित है। हर क्षण रचना हो रही है। विश्व गतिशील है। हमारा पिंड स्थित विश्व भी ऐसा ही होना चाहिए। हम निरन्तर प्रगति-पथ पर अग्रसर हो रहे हैं—इस भावना के साथ यत्र की पूजा करनी चाहिए।

मुक्तियंत्र—

इसका वर्णन 'कुमारी कल्प' मे है। इसमे पाँच त्रिकोण है, हैं, जो एक षट्कोण में स्थित हैं। ऊर्ध्वमुखी त्रिकोण अग्नि-तत्व का और अधोमुखी जल-तत्व का प्रतीक हैं। अग्नि सदैव ऊपर को जाती है और जल नीचे की ओर। परन्तु दोनो की इन प्रवृत्तियो की भी एक मर्यादा है। उस सीमा तक पहुँचने पर अग्नि जल-रूप हो जाता है और नीचे की ओर जब जल अग्नि मे गिरता है, तो वह अग्नि रूप में बदल जाता है। अथर्ववेद के बृहज्जाबालोपनिषद् मे इस विषय का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि इस जगत् के आत्मा अग्नि और सोम हैं (सोम जल का पर्यायवाची है)। दोनो अग्नि-रूप ही हैं। अग्नि
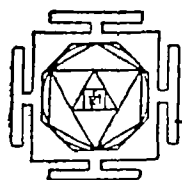
मुक्तियत्र

से सोम उत्पन्न होता है और सोम से अग्नि की वृद्धि होती है। अतः अग्नि और सोम के सम्मिलित यज्ञ से ही सृष्टि की रचना होती है। अग्नि ऊपर की ओर जाकर सोम नीचे की ओर आकर अग्नि बन जाता है। इन दोनों के सम्पुट में निरन्तर यह विश्व रहता है। अग्नि जब सोम न बन जाए, तब तक ऊपर को ही जाती रहती है और सोम जब तक अग्नि न बन जाए, वह नीचे की ओर प्रवृत्त रहता है। इसका अर्थ है कि शिव शक्तिमय है और शक्ति शिवमय है। शिव और शक्ति जहां न हो, ऐसा कोई स्थान नहीं है।"

इस भावना के साथ ही इस यन्त्र की पूजा की जाती है।

जगत् विकारमय है, इसमें विकारों का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, षट् विकार प्रसिद्ध हैं। इन पर विजय प्राप्त करके ही साधक मुक्ति पथ पर अग्रसर हो सकता है। षट्कोण से यही अभिप्राय है कि षट्कोणों से अपने विकाररूपी शत्रुओं को घेरकर नियन्त्रण में रखना चाहिए और अपने अन्तिम लक्ष्य की पूर्ति करनी चाहिए। इस भौतिक जगत् की सीमित इच्छाओं और कामनाओं पर विजय प्राप्त करके अपने को असीम के साथ मिला देना चाहिए। जगत् की हर एक वस्तु को अपना रूप मानना चाहिए और अपने को पञ्चभौतिक शरीर न मानकर आत्मिक भाव में स्थिर समझना चाहिए और अपने में सारे विश्व को समाविष्ट मानना चाहिए। यह भाव क्रिया-रूप में आने लगे, यही इस यन्त्र की पूजा का वास्तविक उद्देश्य है।

सर्वतोभद्र यन्त्र—

इसका उल्लेख गौतमीय तन्त्र (२०।१०२-१०९) में किया गया है। इसे महायन्त्र कहते हैं। इसकी महान महिमा का वर्णन करते हुए तन्त्र में कहा गया है कि यह गोचर और अगोचर सभी
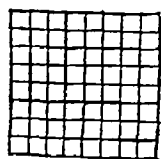
सर्वतो भद्र यन्त्र

प्रकार के फलो का दाता है, भले ही वर्तमान के हो या भविष्य के। सर्वतोभद्र का अभिप्राय है—सब ओर से एक जैसा बराबर। विष्णु भगवान के रथ का भी यही नाम शास्त्रो मे आता है। यह यत्र आदर्श जीवन व्यतीत करने का शिक्षण है। आदर्श जीवन एक कांटे की तरह है, जिसके दोनो पलडे बराबर हो। आय-व्यय, श्रम-विश्राम और सग्रह-त्याग दोनो बराबर हो। यदि एक की ओर अधिक झुकाव होगा, तो सासारिक जीवन में व्यवधान उपस्थित हो जायेगे। दोनो की नाप-तौल बराबर होनी चाहिए। गृहस्थ और समाज मे सभी से एक जैसा व्यवहार हो। भेद की उत्पत्ति कलह, क्लेश और झगडो की जड तो है ही, साथ ही उस व्यक्ति के आध्यात्मिक गिरावट का भी चिन्ह है। भौतिक जीवन के मान, अपमान, सुखो, दु खो, ऐश्वर्यों और अभावो मे एक जैसा रहना ही इस यन्त्र की प्रेरणा है। पद, मान और धन पाकर अहङ्कार से फूले नही और अपमान दु ख और अभाव के जीवन से निराश न हो। दोनो स्थितियो में समान भाव वाला हो, जैसे जनक ने कहा था कि मेरा एक हाथ रमणी के कन्धे पर रख दो और दूसरा हवनकु ड मे रख दो। दोनो स्थितियो मे मेरे मन में कोई अन्तर नही आएगा। जीवन को इस स्तर तक लाना ही सर्वतोभद्र यन्त्र का उद्देश्य है।

स्मरहर यन्त्र—

इसका उल्लेख श्यामास्तव (श्लोक १८) मे है। इसका प्रयोग काम पर विजय के लिए किया जाता है। काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मत्सर, भय, शोक, निराशा आदि मनोविकार असुर रूपी शत्रुओ के रूप में हर व्यक्ति के जीवन में आते हैं। जब तक इनसे कडा सघर्ष करके इन्हे परास्त नही कर लिया जाता, तब तक जीवन का उत्थान असम्भव है। भगवान बुद्ध के सामने भी यही परिस्थितियां आई थीं। उन्हे भी मनोविकारों ने घेरा था, उन्हें भी उनसे लोहा लेना पडा था। इन पर विजय प्राप्त किए बिना आत्मिक प्रगति हो ही नहीं सकती।

इनके प्रति सजग रहना ही इस यन्त्र की प्रेरणा है । इसके सहयोग
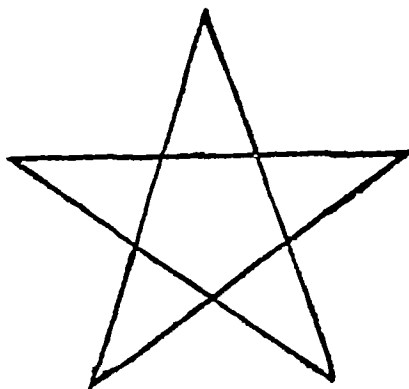
स्मरहर यन्त्र

से उन्हें वश मे किया जा सकता है। इसलिए इसको स्मरहर यन्त्र कहते हैं।

इसी तरह से अन्य यन्त्रों का अध्ययन किया जा सकता है। यह यन्त्र केवल रेखाचित्र मात्र ही नही, वरन् उद्देश्यपूर्ण प्रेरणायें हैं।

• • •

वर्णों की रेखाकृतियाँ शक्ति के स्रोत हैं

शक्ति का रूप—

वर्ण को यन्त्र की सज्ञा दी गई है, प्रत्येक वर्ण एक शक्ति विशेष है। तन्त्र मे वर्ण के पर्यायवाची शब्द हैं—माता, शक्तियाँ, देवियाँ, रश्मि और कला। शिव सूत्र (प्र० प्रकाश) में कहा है—

> अकारादिक्षपर्यन्ता कलान्ता शब्दकारणाम् ।
> मातर शक्तयो देव्यो रश्मयश्च कला स्मृता ॥

अर्थात् "अकारादि से क्षकार पर्यन्त वे कलाएँ हैं, जो शब्द के निर्माण का कारण है। मातृका देवियाँ शक्तियाँ हैं और उनकी रश्मियाँ कला बतलाई गई हैं।"

वे निमलता के प्रतीक हैं। सून-सहिना यज्ञ वै० ख० ४७ अ० मे कहा है—

> अकारादिक्षरान्तैर्वर्णैरत्यन्तनिर्मलै ।
> अशेषशब्दैर्या भाति तामानन्दप्रदा नुम ॥

अर्थात् "अकार आदि से लेकर क्ष के अन्त तक अत्यन्त निर्मल वर्णों से और अशेष शब्दो से जो शोभिन होती है, उस आनन्द के प्रदान करने वाली को हम नमस्कार करता है।"

योग की भाषा में वर्णों का आविर्भाव इस प्रकार हुआ—

आधारादिषट्कमलदलेषु पातिता द्वादशान्तस्थितचन्द्र मण्डलात्सृता अमृतबिन्दवोऽकारादिक्षकारान्तवर्णात्मना परिणता उक्तं ह्याचार्ये—

मूलाधारात्स्फुरिततडिदाभा प्रभा सूक्ष्म रूपो-
दगच्छन्त्यामस्तकमगात्तरा तेजसा मूलभूता।
सौषुम्णाध्वाचरणनिपुणामा सवित्रानुविद्धा-
ध्याता सद्योऽमृतमथ रवे स्त्रावयेत् सार्धसोमात्।
शिरसि निपतित या बिन्दुधारा सुधाया।
भवति लिपिमयी सा ताभिरङ्ग मुखाद्यम्॥

—तात्पर्यदीपिका

अर्थात् 'आधारादि षट्कमल के दलों में पातित द्वादशान्त स्थित चन्द्र-मण्डल से निःसृत अमृत की बिन्दुएँ अकार से क्षकार के अन्त तक वर्णों के स्वरूप में परिणत होने वाली हैं। आचार्यों ने कहा है—

मूलाधार में स्फुरित विद्युत् की आभा के समान प्रभाव वाला जो सूक्ष्मरूप उसमें निकलती हुई, मस्तक में लेकर अगणुतर तेज की मूल-भूता, सुषुम्ना के मार्ग से संचरण करने में निपुण, सविता से अनुबद्ध उसका जब ध्यान किया जाता है, तो वह तुरन्त ही साध, सोम, रवि से अमृत का स्रवण किया करती है। वह सुधा की बिन्दु धारा सिर पर गिरी हुई लिपिमयी हो जाती है उनमें मुखादि अङ्ग भी पूरित होते हैं।"

कुछ विशेष वर्णों की विशिष्ट शक्तियों का उल्लेख अलग-अलग तन्त्रों में आता है। प्रत्यभिज्ञाशास्त्र में कहा है—

सार्णोनाण्डत्रय व्याप्तम्।

'स' वर्ण के द्वारा संसार स्फुट रूप में प्रकाशित होता है।

'परात्रिंशका' में 'सकार' को तृतीय ब्रह्म की संज्ञा दी गई है। यथा—

तृतीय ब्रह्म सुश्रोणि।

क्योकि गीता मे त्रिविध ब्रह्म का उल्लेख आया ही है—

ॐ तत् सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधि स्मृत. ।

'मकार' की महिमा अन्यत्र भी उपलब्ध होती है—

सोम चामृतनाय च सुधा सार सुधानिधिम् ।

सकार षड्रसाधार नामभि परिकीर्तितम ।

—विवेक पृ १६४

अर्थात् "सोम, अमृतनाथ, सुधासार, सुधानिधि, सकार षट्रसो का आधार है, जो इन नामो से कीर्त्तित किया गया है ।"

कामधेनु तन्त्र मे वर्णों की विशेषताओ का वर्णन करते हुए उन्हे विश्व-ब्रह्माड मे व्याप्त पचास युवतियाँ कहा गया है, जो ब्रह्मरूप हैं और कोई भी यत्र तथा विद्या इनसे परे नही है ।

अन्य वर्णों की शक्तियो का भी विश्लेषण किया गया है । जैसे कि 'अ' चित् शक्ति, 'आ' आनन्द शक्ति 'इ' इच्छा-शक्ति, 'उ' ज्ञान-शक्ति के नाम है । 'ए', 'ऐ', 'ओ', 'औ' यह चारो वर्ण क्रिया-शक्ति के प्रतीक स्वीकार किए गए हैं ।

डा० शिवशङ्कर अवस्थी ने वर्णों की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"वर्ण केवल साकेतिक ध्वनियाँ ही नही हैं, उनके मूल मे विश्व-सस्था और शरीर-सस्था के सम्पूर्ण सघटक, सस्थापक और सहारक तत्व विद्यमान हैं । एक ओर जहाँ उनके द्वारा काम, क्रोध, लोभादि उद्भावित होकर मनुष्य की आत्मा को अत्यन्त स्वार्थी और सकुचित बना डालते हैं, वह वर्ण-समुदाय ही व्यक्ति को आत्मिक दृष्टि से अत्यन्त उदार एव मुक्त करने की क्षमता भी रखता है । सत्य तो यह है कि वर्ण ही ज्ञान-विज्ञान की कुजी है । सम्पूर्ण वाच्यात्मक विश्व वाचक वर्णों से ही अधीन है ।

सृष्टि के आदिम क्षण से ही शब्द और अर्थ अविनाभूत है । सूक्ष्म को आत्मसात् कर लेने पर समस्त स्थूल भी गृहीत हो जाता है,

इसमे कोई आश्चर्य की बात नही, समस्त मातृका-वर्ण मन्त्रो अथवा विद्याओ के जनक है"

ध्वनि की विशेषता—

'सेतुबन्ध' मे लिखा है कि वर्ण मे ध्वनि विद्यमान रहती है, जिससे नाद-तत्व की उत्पत्ति होती है। नाद-तत्व का अनुसन्धान करने वाले आचार्यो का कहना है कि सबसे पहले उसका आरम्भ मूलाधार चक्र मे होता है। फिर वह मणिपूर और अनाहत चक्रो मे आता है, जहाँ प्राण और मन से उसका मिलन होता है और वह पश्यन्ती तथा मध्यमा का रूप धारण कर लेता है। वही नाद-तत्व गले मे आता है और वैखरी रूप ले लेता है। जैसे बीज मे वृक्ष, फल और फूल सूक्ष्म रूप से निवास करते हैं, उसी तरह से नाद-तत्व मे वर्ण-राशि रहती है।

आज के विज्ञान-युग का मानव ध्वनि के चमत्कारो से अपरिचित नही है। मनोरजन से लेकर रोग-निवृत्ति तक के सभी क्षेत्रो मे इसने आश्चर्यजनक शक्ति-प्रदर्शन किया है। आध्यात्मिक क्षेत्र मे तो इसका प्रयोग लाखों वर्षो से होता आ रहा है।

रेखाकृतियो का विज्ञान—

वर्णों की रेखाकृतियो का विज्ञान भी कम महत्वपूर्ण नही है, क्योंकि इनका निर्धारण, अनुमान या उच्चारण की सुविधा से कुछ विशेषज्ञो अथवा विद्वानो द्वारा नही किया गया है। अन्य लिपियो का कारण बाह्य भौतिक कारण है। जैसे चीन की लिपि वृक्ष आदि प्राकृतिक वस्तुओ को देखकर बनाई गई है। हमारी वर्णमाला अलौकिक है। यह ऋषियो की समाधि-अवस्था की अनुभूतियो का परिणाम है। अनुभवगम्य ध्वनियो से ही आकृति का निश्चय किया गया था। इसका परीक्षण एक जर्मन वैज्ञानिक ने किया था। उसने सभी वर्णो की आकृतियो जैसी धातु की नलियाँ बनवाई। उनमे विशेष विधि से वायु

क्योंकि गीता में त्रिविध ब्रह्म का उल्लेख आया ही है—

ॐ तत् सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधि स्मृत. ।

'मकार' की महिमा अन्यत्र भी उपलब्ध होती है—

सोम चामृतनाय च सुधा सार सुधानिधिम् ।

सकार षड्रसाधार नामभि परिकीर्तितम ।

—विवेक पृ १६४

अर्थात् "सोम, अमृतनाथ, सुधासार, सुधानिधि, सकार षट्रसो का आधार है, जो इन नामो से कीर्त्तित किया ग-ा है।"

कामधेनु-तन्त्र मे वर्णों की विशेषताओ का वर्णन करते हुए उन्हे विश्व-ब्रह्माड मे व्याप्त पचास युवतियाँ कहा गया है, जो ब्रह्मरूप है हैं और कोई भी यत्र तथा विद्या इनसे परे नही है।

अन्य वर्णों की शक्तियों का भी विश्लेषण किया गया है। जैसे कि 'अ' चित्-शक्ति, 'आ' आनन्द शक्ति 'इ' इच्छा-शक्ति, 'उ' ज्ञान-शक्ति के नाम हैं। 'ए', 'ऐ', 'ओ', 'औ' यह चारो वर्ण क्रिया-शक्ति के प्रतीक स्वीकार किए गए हैं।

डा० शिवशङ्कर अवस्थी ने वर्णों की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"वर्ण केवल साकेतिक ध्वनियाँ ही नही हैं, उनके मूल मे विश्व-सस्था और शरीर-सस्था के सम्पूर्ण सघटक, सस्थापक और सहारक तत्व विद्यमान हैं। एक ओर जहाँ उनके द्वारा काम, क्रोध, लोभादि उद्भावित होकर मनुष्य की आत्मा को अत्यन्त स्वार्थी और सकुचित बना डालते हैं, वह वर्ण-समुदाय ही व्यक्ति को आत्मिक दृष्टि से अत्यन्त उदार एव मुक्त करने की क्षमता भी रखता है। सत्य तो यह है कि वर्ण ही ज्ञान-विज्ञान की कु जी है। सम्पूर्ण वाच्यात्मक विश्व वाचक वर्णों के ही अधीन है।

सृष्टि के आदिम क्षण मे ही शब्द और अर्थ अविनाभूत है। सूक्ष्म को आत्मसात् कर लेने पर समस्त स्थूल भी गृहीत हो जाता है,

इसमे कोई आश्चर्य की बात नही, समस्त मातृका-वर्ण मन्त्रो अथवा विद्याओ के जनक है ।"

ध्वनि की विशेषता—

'सेतुबन्ध' मे लिखा है कि वर्ण मे ध्वनि विद्यमान रहती है, जिसमे नाद-तत्व की उत्पत्ति होती है। नाद-तत्व का अनुसन्धान करने वाले आचार्यों का कहना है कि सबसे पहले इसका आरम्भ मूलाधार चक्र से होता है। फिर वह मणिपूर और अनाहत चक्रो मे आता है, जहाँ प्राण और मन से उसका मिलन होता है और वह पश्यन्ती तथा मध्यमा का रूप धारण कर लेता है। वही नाद-तत्व गले में आता है और वैखरी रूप ले लेता है। जैसे बीज मे वृक्ष फल और फूल सूक्ष्म रूप से निवास करते हैं, उसी तरह से नाद-तत्व मे वर्ण राशि रहती है।

आज के विज्ञान-युग का मानव ध्वनि के चमत्कारो से अपरिचित नही है। मनोरंजन से लेकर रोग-निवृत्ति तक के सभी क्षेत्रो मे इसने आश्चर्यजनक शक्ति-प्रदर्शन किया है। आध्यात्मिक क्षेत्र मे तो इसका प्रयोग लाखो वर्षों से होता आ रहा है।

रेखाकृतियो का विज्ञान—

वर्णों की रेखाकृतियो का विज्ञान भी कम महत्वपूर्ण नही है, क्योकि इनका निर्धारण, अनुमान या उच्चारण की सुविधा से कुछ विशेषज्ञो अथवा विद्वानो द्वारा नही किया गया है। अन्य लिपियो का कारण बाह्य भौतिक कारण है। जैसे चीन की लिपि वृक्ष आदि प्राकृतिक वस्तुओ को देखकर बनाई गई है। हमारी वर्णमाला अलौकिक है। यह ऋषियो की समाधि-अवस्था की अनुभूतियो का परिणाम है। अनुभवगम्य ध्वनियो से ही आकृति का निश्चय किया गया था। इसका परीक्षण एक जर्मन वैज्ञानिक ने किया था। उसने सभी वर्णों की आकृतियों जैसी धातु की नलियाँ बनवाई। उनमे विशेष विधि से वायु

को फूँका गया। परिणामस्वरूप उसी तरह का उच्चारण होने लगा, जिस तरह हम बोलते हैं। इससे स्पष्ट है कि इन वर्णों का ध्वनि से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अब वर्णों के जो हम स्थूल रूप देखते है, इनके सूक्ष्म रूप हैं, जिन्हें हमारे अतीन्द्र महर्षियों ने ज्ञान-चक्षुओं से देखा था।

स्वरूप—

'कामधेनु-तन्त्र' में वर्णों के स्वरूप की चर्चा की गई है—

शृणु तत्वमकारस्य अतिगोप्य वरानने।
शरच्चन्द्रप्रतीकाश पञ्चकोणमय सदा।
पञ्चदेवमय वर्णं शक्तित्रयसमन्वितम्।
निर्गुण त्रिगुणोपेत स्वय कैवल्यमूर्तिमान्।
बिन्दुतत्वमय वर्णं स्वय प्रकृतिरूपिणी।
आकार परमाश्चर्यं शङ्खज्योतिर्मय प्रिये।
ब्रह्मविष्णुमय वर्णं तथा रूद्रमय प्रिये।
पञ्चप्राणमय वर्णं स्वय परमकुण्डली।
इकार परमानन्द सुगन्धकुसुमच्छविम्।
हरिब्रह्ममय वर्णं सदा रूद्रयुत प्रिये।
सदाशक्तिमय देवि गुरुब्रह्ममय तथा।
सदाशिवमय वर्ण पर ब्रह्मसमन्वितम्।
हरिब्रह्मात्मक वर्ण गुणत्रयसमन्वितम्।
इकार परमेशानि स्वय कुण्डली मूर्तिमान।

—कामधेनु तन्त्र (हस्तलिखित)

इकार परमेशानि स्वय परमकुण्डली।
ब्रह्मविष्णुमय वर्णं तथा रुद्रमय सदा।
पञ्चदेवमय वर्णं पीतविद्युल्लताकृतिम्।
चतुर्ज्ञानमय वर्णं पञ्चप्राणमय सदा।

अर्थात् 'हे वरानने! अकार का तत्व सुनो, जो अत्यन्त गोपनीय

है। यह शरत्कालीन चन्द्रमा के तुल्य है और सदा पांच कारणों से पूर्ण है। पांच देवों से युक्त है तथा वर्ण और शक्तित्रय से युक्त है। निर्गुण है और तीन गुणों से युक्त है। यह स्वयं कैवल्य की मूर्ति वाला है। बिन्दु-तत्व से पूर्ण है और स्वयं ही प्रकृतिरूपी है। हे प्रिये, आकार परम आश्चर्य है, जो गन्ध की ज्योति सयुक्त है। हे प्रिये! वर्ण ब्रह्मा और विष्णु से परिपूर्ण है तथा रुद्रमय है। पाँच प्राणमय वर्ण है और स्वयं परम कुण्डली है। इकार परम आनन्द, सुन्दर गन्ध वाले कुसुम की शोभा से युक्त है। हे देवि! यह सदा विष्णु, ब्रह्मा, और रुद्र से युक्त है। हे देवि! सदा तीन शक्ति और गुरु-ब्रह्म से युक्त है। सदा शिवमय वर्ण है तथा परब्रह्म से समन्वित है। हरि ब्रह्म-स्वरूप वाला वर्ण है और तीन गुणों से संयुक्त है। हे परमेशानि! स्वयं यह मूर्तिमान कुण्डली है।

उकार हे परमेशानि! स्वयं परम कुण्डली है। ब्रह्म विष्णुमय वर्ण तथा सदा रुद्रमय है। पाँच देवमयवर्ण है और विद्युल्लता के आकार वाला पीत है। चतुर्ज्ञानमय वर्ण है तथा सदा पाँच प्राणमय होता है।"

उकारं परमेशानि अत्र कुण्डलिनी स्वयम्।
पीतचम्पकसङ्काशं पञ्चदेवमयं सदा।
पञ्चप्राणमयं देवि चतुर्वर्गप्रदायकम्।
शङ्खकुन्दसमाकारं ऊकारं परमकुण्डली।
पञ्चप्राणमयं वर्णं पञ्चदेवमयं सदा।
धर्मार्थकाममोक्षं च सदासुखप्रदायकम्॥
ऋकारं परमेशानि कुण्डली मूर्तिमान् स्वयम्।
अत्र ब्रह्मा च विष्णुश्च रुद्रश्चैव वरानने।
सदाशिवयुतं वर्णं सदा ईश्वरसंयुतम्।
पञ्चप्राणमयं वर्णं चतुर्ज्ञानमयं तथा।
रक्तविद्युल्लताकारं ऋकारं प्रणमाम्यहम्॥

को फूँका गया। परिणामस्वरूप उसी तरह का उच्चारण होने लगा, जिस तरह हम बोलते हैं। इससे स्पष्ट है कि इन वर्णों का ध्वनि से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अब वर्णों के जो हम स्थूल रूप देखते है, इनके सूक्ष्म रूप हैं, जिन्हें हमारे अतीन्द्र महर्षियों ने ज्ञान-चक्षुओं से देखा था।

स्वरूप—

'कामधेनु-तन्त्र' में वर्णों के स्वरूप की चर्चा की गई है—

शृणु तत्वमकारस्य अतिगोप्य वरानने।
शरच्चन्द्रप्रतीकाश पञ्चकोणमय सदा।
पञ्चदेवमय वर्ण शक्तित्रयसमन्वितम्।
निर्गुण त्रिगुणोपेत स्वय कैवल्यमूर्तिमान्।
विन्दुतत्वमय वर्ण स्वय प्रकृतिरूपिणी।
आकार परमाश्चर्य शङ्खज्योतिर्मय प्रिये।
ब्रह्मविष्णुमय वर्ण तथा रुद्रमय प्रिये।
पञ्चप्राणमय वर्ण स्वय परमकुण्डली।
इकार परमानन्द सुगन्धकुसुमच्छविम्।
हरिब्रह्ममय वर्ण सदा रुद्रयुत प्रिये।
सदाशक्तिमय देवि गुरुब्रह्ममय तथा।
सदाशिवमय वर्ण पर ब्रह्मसमन्वितम्।
हरिब्रह्मात्मक वर्ण गुणत्रयसमन्वितम्।
इकार परमेशानि स्वय कुण्डली मूर्तिमान।

—कामधेनु-तन्त्र (हस्तलिखित)

इकार परमेशानि स्वय परमकुण्डली।
ब्रह्मविष्णुमय वर्ण तथा रुद्रमय सदा।
पञ्चदेवमय वर्ण पीतविद्युल्लताकृतिम्।
चतुर्ज्ञानमय वर्ण पञ्चप्राणमय सदा।

अर्थात् 'हे वरानने! अकार का तत्व सुनो, जो अत्यन्त गोपनीय

है। यह शरत्कालीन चन्द्रमा के तुल्य है और सदा चार कोणों से पूर्ण है। पाँच देवों से युक्त है तथा वर्ण और शक्तित्रय से युक्त है। निर्गुण है और तीन गुणों से युक्त है। यह स्वयं कैवल्य की मूर्ति वाला है। बिन्दु-तत्व से पूर्ण है और स्वयं ही प्रकृतिरूपी है। हे प्रिये, आकार परम आश्चर्य है, जो शब्द की ज्योति सयुक्त है। हे प्रिये! वर्ण ब्रह्मा और विष्णु से परिपूर्ण है तथा रुद्रमय है। पाँच प्राणमय वर्ण है और स्वयं परम कुण्डली है। इकार परम आनन्द, सुन्दर गन्ध वाले कुसुम की शोभा से युक्त है। हे देवि! यह सदा विष्णु, ब्रह्मा, और रुद्र से युक्त है। हे देवि! सदा तीन शक्ति और गुरु-ब्रह्म से युक्त है। सदा शिवमय वर्ण है तथा परब्रह्म से समन्वित है। हरि ब्रह्म-स्वरूप वाला वर्ण है और तीन गुणों से सयुक्त है। हे परमेशानि! स्वयं यह मूर्तिमान कुण्डली है।

इकार हे परमेशानि! स्वयं परम कुण्डली है। ब्रह्म विष्णुमय वर्ण तथा सदा रुद्रमय है। पाँच देवमयवर्ण है और विद्युल्लता के आकार वाला पीत है। चतुर्ज्ञानमय वर्ण है तथा सदा पाँच प्राणमय होता है।"

उकार परमेशानि अव कुण्डलिनी स्वयम् ।
पीतचम्पकसङ्काश पञ्चदेवमय सदा ।
पञ्चप्राणमय देवि चतुर्वर्गप्रदायकम् ।
शङ्खकुन्दसमाकार उकार परमकुण्डली ।
पञ्चप्राणमय वर्ण पञ्चदेवमय सदा।
धर्मार्थकाममोक्ष च सदासुखप्रदायकम् ।।
ऊकार परमेशानि कुण्डली मूर्तिमान् स्वयम् ।
अत्र ब्रह्मा च विष्णुश्च रुद्रश्चैव वरानने ।
सदाशिवयुत वर्ण सदा ईश्वरसयुतम् ।
पञ्चप्राणमय वर्ण चतुर्ज्ञानमय तथा ।
रक्तविद्युल्लताकार ऊकार प्रणमाम्यहम् ।।

ऋकारं परमेशानि स्वयं परमकुण्डलम् ।
पीतविद्युल्लताकारं पञ्चदेवमयं सदा ।
चतुर्ज्ञानमयं वर्णं पंचप्राणयुतं सदा ।
त्रिशक्तिसहितं वर्णं प्रणमामि सदा प्रिये ।।

—कामधेनु-तन्त्र

अर्थात् "हे परमेशानि ! उकार स्वयं परम कुंडलिनी है। पीत चम्पा के समान है और सदा पंचदेवमय है। हे देवि ! पाँच प्राणमय और चारों वर्गों का प्रदायक है। शंख और कुन्द के आकार वाला ऊकार परम कुंडली है। पाँच प्राणमय वर्ण और सदा पंच देवमय है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और सुख का देने वाला है। हे परमेशानि ! ऋकार स्वयं मूर्तिमान कुंडली है। हे वरानने ! यहाँ ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र हैं। सदा शिवयुत् वर्ण और सदा ईश्वर मे संयुत् है। पांच प्राणमय वर्ण तथा चतुर्ज्ञानमय है। रक्तविद्युल्लता के आकार के तुल्य है और स्वयं परम कुंडली है।

पीत विद्युल्लता के आकार के समान सदा पांच देवों से परिपूर्ण है। चतुर्ज्ञानमय वर्ण है और सदा पांच प्राणों से युक्त है। त्रिशक्ति से युक्त वर्ण है। हे प्रिये ! मैं सदा इसे प्रणाम करता हूं।"

ऌकारं चंचलापाङ्गि कुण्डली परदेवता ।
अत्र ब्रह्मादयः सर्वे तिष्ठन्ति सततं प्रिये ।
पञ्चदेवमयं वर्णं चतुर्ज्ञानमयं सदा ।
पञ्चप्राणयुतं वर्णं तथा गुणत्रयात्मकम् ।
बिन्दुत्रयात्मकं वर्णं पीतविद्युल्लता तथा ।।
एकारं परमेशानि ब्रह्मविष्णुशिवात्मकम् ।
रञ्जनीकुसुमप्रख्यं पञ्चदेवमयं सदा ।
पञ्चप्राणात्मकं वर्णं तथा बिन्दुत्रयात्मकम् ।
चतुर्वर्गप्रदं देवि स्वयं परमकुण्डली ।।

ऐकार परम दिव्य महाकुण्डलिनी स्वयम् ।
कोटिचन्द्रप्रतीकाश पचप्राणमय सदा ।।
ब्रह्मविष्णुमय वर्ण विन्दुत्रयसमन्वितम् ।
ओकार चचलापाङ्गि पचदेवमय सदा ।
रक्तविद्युल्लताकार त्रिगुणात्मानमीश्वरम् ।।
पचप्राणमय वर्ण नमामि देवमातरम् ।
एतद्वर्ण महेशानि स्वय परमकुण्डली ।।

अर्थात् "हे चचल अ गो वाली ! ऋकार कु डली और पर-देवता है। यहां पर हे प्रिये ! ब्रह्मादिक सब निरन्तर स्थित रहा करते हैं। पच देवमय वर्ण है और सदा चतुर्ज्ञानमय है। पच प्राणयुत् वर्ण है तथा तीन गुणो के स्वरूप वाला है। तीन बिन्दुओ के रूप वाला वर्ण तथा पीत विद्युल्लतामय है। हे परमेशानि ! एकार ब्रह्मा, विष्णु और शिवात्मक है। रञ्जनी के कुसुम के समान है और सदा देवमय है। पच प्राणात्मक वर्ण है तथा विन्दुत्रय के स्वरूप वाला है। हे देवि ! चारो वर्गों के देने वाला और स्वय परमकु डली है।

ऐकार परम दिव्य है और स्वय महाकु डलिनी है। करोड चन्द्र के तुल्य चमकता है और सदा पच प्राणमय है। ब्रह्मा-विष्णुमय वर्ण है और तीन विन्दुओ से युक्त है। हे चचलापागि ! ओकार सदा पच-देवो मे पूर्ण है और रक्त विद्युल्लता के आकार वाला है। त्रिगुणात्मा और ईश्वर है। पच प्राणमय वर्ण है। ऐसी वेदमाता को मैं नमस्कार करता हूँ। हे महेशानि ! यह वर्ण है और वह स्वय कु डली है।"

रक्तविद्युल्लताकार औकार कुडली स्वयम् ।
अत्र ब्रह्मादय सर्वे तिष्ठन्ति सतत प्रिये ।
पचप्राणमय वर्ण सदा शिवमय सदा ।
सदा ईश्वरसयुक्त चतुर्वर्गप्रदायकम् ।।
अङ्कार बिन्दुमयुक्त पीतविद्युत्समप्रभम् ।

कुण्डल्लता के आकार वाला और सदा त्रिगुण से समन्वित है । पच देव-मय वर्ण है और सर्वदा पञ्च प्राणमय है । तीन शक्तियों के सहित वर्ण है और सदा तीन बिन्दुओ मे सयुत है । छकार परम आश्चर्यपूर्ण है तथा स्वय परम कुण्डली है । यह सतत कुण्डली से युक्त तथा सदा पच देवमय है ।"

पञ्चप्राणमय वर्ण त्रिशक्तिसहित सदा ।
त्रिबिन्दुसहित वर्ण सदा ईश्वरसयुतम् ।
पीतविद्युल्लताकार छकार प्रणमाम्यहम् ।
जकार परमेशानि या स्वय मध्यकुण्डली ।
शरच्चन्द्रप्रतीकाश सदा त्रिगुणसयुतम् ।
पचदेवमय वर्ण पचप्राणात्मक सदा ।
त्रिशक्तिसहित वर्ण त्रिबिन्दुसहित प्रिये ।

—चतुर्थ पटल

अर्थात् "पञ्च प्राणमय वर्ण है और सदा तीन शक्तियो के सहित है । तीन विन्दुओ के सहित वर्ण है और सदा ईश्वर से सयुत है । पीत विद्युल्लता के आकार वाला जो छकार है उसको मैं प्रणाम करता हूं । हे परमेशानि ! जकार स्वय मध्य कुण्डली है । शरत्काल के चन्द्रमा के तुल्य है तथा सदा त्रिगुण से सयुत हैं । पञ्च देवपूर्ण वर्ण है तथा सदा पञ्च प्राणात्मक है । तीन शक्तियो के सहित वर्ण है और हे प्रिये ! वह तीन बिन्दुओ के सहित है ।"

झकार परमेशानि कुण्डलीमोक्षरूपिणी ।
रक्तविद्युल्लताकार सदा त्रिगुणसयुतम ।
पचदेवमय पचप्राणात्मक सदा ।
त्रिविन्दुसहित वर्णं त्रिशक्तिसहित सदा ।
सदा ईश्वर सयुत ... ।

रक्तविद्युल्लताकार स्वय परमकुण्डली ।
प चदेवमय वर्ण प चप्राणात्मक सदा ।
त्रिशक्तिसहित वर्ण त्रिविन्दुसहित सदा ।
टकार च चलापागि स्वय परमकुण्डली ।
प चदेवमय वर्ण प चप्राणमय सदा ।
त्रिशक्तिसहित वर्ण त्रिविन्दुसहित सदा ।
ठकार च चलापागि कुण्डली मोक्षरूपिणी ।
पीतविद्युल्लताकार सदा त्रिगुणसयुतम् ।
प चदेवात्मक वर्ण प चप्राणमय सदा ।
त्रिविन्दुसहित वर्ण त्रिशक्तिसहित सदा ।

—चतुर्थ पटल

अर्थात् 'हे परमेशानि ! झकार कुण्डली का मोक्षरूपी है । रक्त विद्युल्लता के आकार वाला त्रिगुण से सयुत् है । पच देवमय वर्ण है और सदा पच प्राणात्मक होता है । त्रिबिन्दुओ से सहित वर्ण है तथा सदा तीन शक्तियो मे सयुत् होता है । हे पार्वति ! ञकार सदा ईश्वर से सयुत् होता है —सुन लो । रक्त विद्युल्लता के आकार वाला तथा सदा पच प्राणात्माक होता है । तीन शक्तिया से युक्त वर्ण और सदा त्रिबिन्दु सहित है । टकार स्वय परम कुण्डली है । पञ्च देवमय वर्ण और सदा पच प्राणमय होता है । तीन शक्तियो वाला वर्ण तथा सदा त्रिबिन्दुओ से युक्त है । ठकार मोक्ष रूपिणी कुण्डली । है पीत विद्युल्लता के आकार सयुक्त है । पचदेवात्मक वर्ण है तथा सदा पच प्राणमय होता है । तीन बिन्दुओ के सहित वर्ण होता है और सदा तीन शक्तियो मे युक्त हुआ करता है ।"

डकार चचलापाङ्गि सदा त्रिगुणसयुतम् ।
पञ्चदेवमय वर्ण पञ्चप्राणमय तथा ।
त्रिशक्तिसहि वर्ण त्रिबिन्दुसहित सदा ।

पचप्राणात्मक वर्ण ब्रह्मादिदेवतामयम् ॥
सर्वज्ञानमय वर्ण बिन्दुमयसमन्वितम् ।
अ कार परमेशानि विसर्गसहित सदा ।
····· रक्तविद्युत्प्रभामयम् ।

अर्थात् "रक्त विद्युल्लता के आकार मे युक्त ओंकार स्वय कुडली है । हे प्रिये ! यहाँ पर ब्रह्मादि सब स्थित रहते हैं । पच प्राणमय वर्ण हैं और सदा शिवमय है । सदा ईश्वर से युक्त और चारो वेदो का देने वाला है । अकार बिदु से सयुत है और पीत विद्युत की प्रभा के समान आभा वाला है । पञ्च प्राणात्मक वर्ण है तथा ब्रह्मा आदि देवताओ से पूर्ण है । सर्वज्ञानमय वर्ण है, जो बिन्दुत्रय से युक्त है । अकार हे परमेशानि ! सदा विसर्ग से सहित है तथा रक्त विद्युत की प्रभा से परिपूर्ण है ।"

ककार परमेशानि कुण्डलीत्रयसयुतम् ।
खकार परमाश्चर्य शङ्खकुन्दसमप्रभम् ।
कोणत्रययुत रम्य बिन्दुत्रयसमन्वितम् ।
कोणत्रययुत देवि पचदेवमय सदा ।
त्रिशक्तिसयुत वर्ण सर्वशक्त्यात्मक प्रिये ।
गकार परमेशानि पचदेवात्मक सदा ।
निर्गुण त्रिगुणोपेत निरीह निर्मल सदा ।
पचप्राणमय वर्ण गकार प्रणमाम्यहम् ।
अरुणादित्यसङ्काश कुण्डली प्रणमाम्यहम ॥
घकार चञ्चलापाङ्गि चतुष्कोणात्मक सदा ।
पचदेवमय वर्ण तरुणादित्य सन्निभम् ।
निर्गुण त्रिगुणोपेत सदा त्रिगुणसयुतम् ।
सर्वग सर्वद शान्त घकार प्रणमाम्यहम् ।

—चतुर्थ पटल

अर्थात् "हे परमेशानि ! ककार कुण्डलीत्रय में संयुक्त है। खकार परम आश्चर्ययुक्त है तथा शङ्ख और कुन्द के समान प्रभा वाली है। तीन कोण के सहित है—रम्य और तीन बिन्दुओं से समन्वित है। हे देवि ! गुणत्रय से युक्त और सदा पञ्च देवमय है। तीन शक्तियों में संयुत वर्ण है और हे प्रिये ! सर्वशक्तियों के स्वरूप वाला है। हे परमेशानि ! गकार सदा पंचदेवात्मक है। निर्गुण और तीन गुणों से ओत, निरीह एवं सदा निर्मल है। पंच प्राणमय वर्ण है। गकार को मैं प्रणाम करता हूँ। अरुण आदित्य के सदृश कुण्डली को मैं प्रणाम करता हूँ। हे चञ्चल अपांगों वाली ! घकार सदा चार कोणों के स्वरूप वाला है। पञ्च देवमय वर्ण है और तरुण सूर्य के तुल्य है। निर्गुण तथा त्रिगुणोपेत है, सदा ही त्रिगुण से संयुत है। सबमें गमन करने वाला, सब देने वाला, शान्त घकार को मैं प्रणाम करता हूँ।"

ङकार परमेशानि स्वयं परमकुण्डली।
सर्वदेवमयं वर्णं त्रिगुणं लोललोचने॥
पञ्चप्राणमयं ङकारं प्रणमाम्यहम्।
चवर्णं शृणु सुश्रोणि चतुर्वर्गप्रदायकम्।
कुण्डलीसहितं देवि स्वयं परमकुण्डली।
रक्तविद्युल्लताकारं सदा त्रिगुणसंयुतम्।
पंचदेवमयं वर्णं पंचप्राणमयं सदा।
त्रिशक्तिसहितं वर्णं त्रिबिन्दुसहितं सदा।
छकारं परमाश्चर्यं स्वयं परमकुंडली।
सततं कुण्डलीयुक्तं पंचदेवमयं सदा।

अर्थात् "ङकार हे परमेशानि ! स्वयं परम कुण्डली है, सर्व देवों से पूर्ण वर्ण है तथा हे लोल लोचनों वाली त्रिगुण है। पंच प्राणमय वर्ण वाले ङकार को मैं प्रणाम करता हूँ। हे सुश्रोणि ! अब चवर्ग का श्रवण करो, जो चारों वर्गों का प्रदान करने वाला है। हे देवि !

कुण्डल्लता के आकार वाला और सदा त्रिगुण से समन्वित है । पच देव-मय वर्ण है और सर्वदा पञ्च प्राणमय है । तीन शक्तियो के सहित वर्ण है और सदा तीन बिन्दुओ से सयुत है । छकार परम आश्चर्यपूर्ण है तथा स्वय परम कुण्डली है । यह सतत कुण्डली से युक्त तथा सदा पञ्च देवमय है ।"

पञ्चप्राणमय वर्ण त्रिशक्तिसहित सदा ।
त्रिबिन्दुसहित वर्ण सदा ईश्वरसयुतम् ।
पीतविद्युल्लताकार छकार प्रणमाम्यहम् ।
जकार परमेशानि या स्वय मध्यकुण्डली ।
शरच्चन्द्रप्रतीकाश सदा त्रिगुणसयुतम् ।
पचदेवमय वर्ण पचप्राणात्मक सदा ।
त्रिशक्तिसहित वर्ण त्रिबिन्दुसहित प्रिये ।

—चतुर्थ पटल

अर्थात् "पञ्च प्राणमय वर्ण है और सदा तीन शक्तियो के सहित है । तीन बिन्दुओ के सहित वर्ण है और सदा ईश्वर मे सयुत है । पीत विद्युल्लता के आकार वाला जो छकार है उसको मैं प्रणाम करता हूँ । हे परमेशानि ! जकार स्वय मध्य कुण्डली है । शरत्काल के चन्द्रमा के तुल्य है तथा सदा त्रिगुण से सयुत है । पञ्च देवपूर्ण वर्ण है तथा सदा पञ्च प्राणात्मक है । तीन शक्तियो के सहित वर्ण है और हे प्रिये ! वह तीन बिन्दुओ के सहित है ।"

झकार परमेशानि कुण्डलीमोक्षरूपिणी ।
रक्तविद्युल्लताकार सदा त्रिगुणसयुतम ।
पचदेवमय पचप्राणात्मक सदा ।
त्रिबिन्दुसहित वर्ण त्रिशक्तिसहित सदा ।
सदा ईश्वर सयुक्त ञकार शृणु पार्वति ।

रक्तविद्युल्लताकार स्वय परमकुण्डली ।
प चदेवमय वर्णं प चप्राणात्मक सदा ।
त्रिशक्तिसहित वर्ण त्रिविन्दुसहित सदा ।
टकार च चलापागि स्वय परमकुण्डली ।
प चदेवमय वर्ण प चप्राणमय सदा ।
त्रिशक्तिसहित वर्ण त्रिविन्दुसहित सदा ।
ठकार च चलापागि कुण्डली मोक्षरूपिणी ।
पीतविद्युल्लताकार सदा त्रिगुणसयुतम् ।
प चदेवात्मक वर्ण प चप्राणमय सदा ।
त्रिविन्दुसहित वर्ण त्रिशक्तिसहित सदा ।

—चतुर्थ पटल

अर्थात् 'हे परमेशानि ! झकार कुण्डली का मोक्षरूपी है । रक्त विद्युल्लता के आकार वाला त्रिगुण से सयुत् है । पच देवमय वर्ण है और सदा पच प्राणात्मक होता है । त्रिबिन्दुओ से सहित वर्ण है तथा सदा तीन शक्तियो से सयुत् होता है । हे पार्वति ! ञकार सदा ईश्वर से सयुत् होता है —सुन लो । रक्त विद्युल्लता के आकार वाला तथा सदा पच प्राणात्माक होता है । तीन शक्तियो से युक्त वर्ण और सदा त्रिविन्दु सहित है । टकार स्वय परम कुण्डली है । पञ्च देवमय वर्ण और सदा पच प्राणमय होता है । तीन शक्तियो वाला वर्ण तथा सदा त्रिबिन्दुओ से युक्त है । ठकार मोक्ष रूपिणी कुण्डली । है पीत विद्युल्लता के आकार सयुक्त है । पचदेवात्मक वर्ण है तथा सदा पच प्राणमय होता है । तीन बिन्दुओ के सहित वर्ण होता है और सदा तीन शक्तियो से युक्त हुआ करता है ।"

डकार चचलापाङ्गि सदा त्रिगुणसयुतम् ।
पञ्चदेवमय वर्ण पञ्चप्राणमय तथा ।
त्रिशक्तिसहि वर्ण त्रिबिन्दुसहित सदा ।

है। त्रिशक्ति के सहित वर्ण है और आत्मा आदि तत्वो मे
। त्रिविन्दु सहित वर्ण है और पीत वर्ण वाली विद्युल्लता के
मा वाला है।"

थकार चचलापाङ्गि कुण्डली मोक्षरूपिणी।
त्रिशक्तिसहित वर्ण त्रिविन्दुसहित सदा।
पचदेवमय वर्ण पचप्राणात्मक प्रिये।
तरुणादित्यसङ्काश थकार प्रणमाम्यहम्।
दकार शृणु चार्वङ्गि चतुर्वगप्रदायकम्।
पचदैवमय वर्ण त्रिशक्तिसहित सदा।
सदा ईश्वरसयुक्त त्रिविन्दुसहित सदा।
आत्मादितत्वसयुक्त स्वय परमकुण्डली।
रक्तविद्युल्लताकार दकार हृदि भावय।
धकार परमेशानि कुण्डली मोक्षरूपिणी।
आत्मादितत्वसयुक्त पचदेवमय सदा।
पचप्राणमय देवि त्रिशक्तिसहित सदा।
त्रिविन्दुसहित वर्ण धकार हृदि भावय।
पीतविद्युल्लतकार चतुर्वगप्रदायकम्।

"हे चञ्चलापाङ्गि! थकार मोक्षरूपिणी कुण्डली है।
हित वर्ण है और सदा त्रिविन्दु के सहित है। पञ्च
हे प्रिये! पञ्चप्राणात्मक है। तरुण सूर्य के सदृश
नमस्कार करता हूँ। हे चार्वांगि! अब दकार के
चारो वर्गों का प्रदान करने वाला है। यह
परिपूर्ण है तथा सदा तीनों शक्तियो से युक्त
न्ता है। आत्मा आदि शक्तियों स भी
प कुण्डली है। इस प्रकार रक्त
ार वाले दकार वर्ण की हृदय,

चतुर्ज्ञानमय वर्णमात्मादितत्त्वसयुतम् ।
पीतविद्युल्लताकार डकार प्रणमाम्यहम् ।
ढकार परमराध्य या स्वय कुण्डीपरा ।
पञ्चदेवात्मक वर्णं पञ्चप्राणमय सदा ।
सदा त्रिगुणसयुक्त आत्मादितत्त्वसयुतम् ।
रक्तविद्युल्लताकार ढकार प्रणमाम्यहम् ।
णकार परमेशानि या स्वय परमकुण्डली ।
पीतविद्युल्लताकार पञ्चदेवमय सदा ।
पञ्चप्राणमय देवि सदा त्रिगुणसयुतम् ।
आत्मादितत्त्वसयुक्त महासौख्यप्रदायकम् ।
तकार चञ्चलापाङ्गि स्वय परमकुण्डली ।
पञ्चदेवात्मक वर्णं पञ्चप्राणमय तथा ।
त्रिशक्तिसहित वर्णमात्मादितत्त्वसयुतम् ।
त्रिबिन्दुसहित वर्णं पीतविद्युत्समप्रभम् ।

—चतुर्थ पटल

अर्थात् "हे चञ्चलापागि ! डकार सदा त्रिगुण से युक्त है। पञ्च देवमय वर्ण है तथा पञ्च प्राणमय होता है। त्रिशक्ति सहित वर्ण और सदा त्रिबिन्दु सहित है। चतुर्ज्ञानमय वर्ण और आत्मादि तत्वो से सयुत् होता है। पीतविद्युल्लताकार डकार को मैं नमस्कार करता हूँ। ढकार परमाराध्य है, जो स्वय परमकुण्डली है। पञ्च देवात्मक वर्ण और सदा पञ्च प्राणमय होता है। सदा त्रिगुण से समन्वित है तथा आत्मा आदि तत्वो से पूर्ण है। रक्त विद्युल्लता के आकार वाले ढकार को मैं प्रणाम करता हूँ। हे परमेशानि ! णकार स्वय परमकुण्डली है। पीत विद्युल्लता के आकार वाला तथा सदा पञ्च देवमय है। हे देवि ! सदा पञ्च प्राणमय और त्रिगुण से सयुत है। तकार स्वय परम कुण्डली है। पञ्च देवात्मक वर्ण है तथा पञ्च

प्राणमय है। त्रिशक्ति के सहित वर्ण है और आत्मा आदि तत्वो से युक्त है। त्रिबिन्दु सहित वर्ण है और पीत वर्ण वाली विद्युल्लता के तुल्य प्रभा वाला है।"

थकार चचलापाङ्गि कुण्डली मोक्षरूपिणी।
त्रिशक्तिसहित वर्ण त्रिविन्दुसहित सदा।
पचदेवमय वर्ण पचप्राणात्मक प्रिये।
तरुणादित्यसङ्काश थकार प्रणमाम्यहम्।
दकार शृणु चार्वङ्गि चतुवर्गप्रदायकम्।
पचदैवमय वर्ण त्रिशक्तिसहित सदा।
सदा ईश्वरसयुक्त त्रिविन्दुसहित सदा।
आत्मादितत्वसयुक्त स्वय परमकुण्डली।
रक्तविद्युल्लताकार दकार हृदि भावय।
धकार परमेशानि कुण्डली मोक्षरूपिणी।
आत्मादितत्वसयुक्त पचदेवमय सदा।
पचप्राणमय देवि त्रिशक्तिसहित सदा।
त्रिविन्दुसहित वर्ण धकार हृदि भावय।
पीतविद्युल्लतकार चतुर्वगप्रदायकम्।

अर्थात् 'हे चञ्चलापाङ्गि! थकार मोक्षरूपिणी कुण्डली है। त्रिशक्ति के सहित वर्ण है और सदा त्रिबिन्दु के सहित है। पञ्च देवमय वर्ण है और हे प्रिये! पञ्चप्राणात्मक है। तरुण सूर्य के सदृश है, ऐसे थकार को मैं नमस्कार करता हूँ। हे चार्वाङ्गि! अब दकार के विषय में श्रवण करो, जो चारो वर्गों का प्रदान करने वाला है। यह दकार वर्ण पाँचो देवों से परिपूर्ण है तथा सदा तीनो शक्तियो से युक्त और तीन बिन्दुओ के सहित रहता है। आत्मा आदि शक्तियो से भी समन्वित रहता है एव स्वय यह परम कुण्डली है। इस प्रकार रक्त विद्युल्लता के आकार के समान आकार वाले दकार वर्ण की हृदय,

भावना करो। अब धकार वर्ण के विषय मे बतलाते हैं—हे परमेशानि! यह धकार वर्ण मोक्षरूपिणी कुण्डली है। यह भी आत्मादि तत्वो मे सयुक्त और सदा पाँचो देवो से परिपूर्ण होता है। यह त्रिबिन्दुओ मे सयुक्त है—इसी प्रकार के धकार वर्ण की हृदय मे भावना करनी चाहिए। यह पीत वर्ण की विद्युल्लता के आकार वाला है तथा चारो वर्गो के प्रदान करने वाला है।"

नकार शृणु चार्वङ्गि रक्तविद्युल्लताकृतिम्
पञ्चदेवमय वर्णं स्वय परमकुण्डली।
पञ्चप्राणात्मक वर्णं त्रिबिन्दुसहित सदा।
त्रिशक्तिसहित वर्णमात्मादितत्वसयुतम्।
चतुर्वर्गप्रद वर्णं हृदि भावय पार्वति।
अत पर प्रवक्ष्यामि पकार मोक्षमव्ययम्।
चतुर्वर्गप्रद वर्णं शरच्चन्द्रसमप्रभम्।
पञ्चदेवमय वर्ण स्वय परमकुण्डली।
पञ्चप्राणमय वर्णं त्रिशक्तिसहित सदा।

अर्थात् "हे चारु (सुन्दर) अङ्गो वाली! अब नकार का श्रवण करो, जो रक्त विद्युल्लता की आकृति वाला है। यह पञ्च देवमय वर्ण वाला है और स्वय परम कुण्डली है। पञ्च प्राणात्मक वर्ण और सदा तीन बिन्दुओ से सहित है। तीन शक्तियो से युक्त और आत्मादि तत्व मे समन्वित वर्ण वाला है। हे पार्वति! ऐसे चार वर्गो के प्रदान करने वाले वर्ण को हृदय मे भावित करो। इसके पश्चात् मोक्षस्वरूप और अव्यय पकार का बतलाते हैं। चारो वर्गो के प्रदान करने वाला वर्ण है तथा शरत्काल के चन्द्रमा के समान प्रभा वाला है। पाँच देवो मे परिपूर्ण वर्ण है और स्वय परम कुण्डली है। पाँच प्राणमय वर्ण है तथा सदा तीन शक्तियो से समन्वित है।"

त्रिबिन्दुसहित वर्णमात्मादितत्वमयुतम ।
महामोक्षप्रद वर्णं हृदि भावय पार्वति ।
फकार शृणु चार्वांग रक्तविद्युल्लतोपमम् ।
चतुर्वंगमय वर्ण पञ्चदेवमय सदा ।
पञ्चप्राणमय वर्णं सदा त्रिगुणसयुतम् ।
आत्मादितत्वमयुक्त त्रिविन्दुसहित सदा ।

अर्थात् "तीन बिन्दुओं के सहित वर्ण वाला आत्मादि तत्व मे समन्वित है। यह महामोक्ष के प्रदान करने वाला वर्ण है। इसकी भावना हे पार्वति! आप हृदय में करो! हे चार्वांगि! अब फकार का श्रवण करो, जो रक्त विद्युल्लता के समान है। चारो वर्गों मे पूर्ण वर्ण है तथा सदा पञ्च देवमय है। पाँच प्राणो मे पूर्ण वर्ण है और सदा त्रिगुण से सयुत् रहता है। आत्मा आदि तत्वो से समन्वित सदा तीन बिन्दुओं के सहित है।"

बकार शृणु चार्वाङ्गि चतुर्वर्गप्रदायकम् ।
शरच्चन्द्रप्रतीकाश पञ्चदेवमय सदा ।
पञ्चप्राणात्मक वर्णं त्रिबिन्दसहित सदा ।
त्रिशक्तिसहित वर्णं निविडाऽमृतनिमलम् ।
स्वय कुण्डलिनी साक्षात् सतत प्रणमाम्यहम् ।
भकार चञ्चलापागि स्वय परमकुण्डली ।
महामोक्षप्रद वर्णं पञ्चदेवमय सदा ।
त्रिशक्तिसहित वर्णं त्रिबिन्दुसहित प्रिये ।
मकार शृणु चार्वांगि स्वय परमकुण्डली ।
महामोक्षप्रद वर्णं पञ्चदेवमय सदा ।
तरुणादित्यसङ्काश चतुर्वर्गप्रदायकम् ।
त्रिशक्तिसहित वर्णं त्रिबिन्दुसहित सदा ।
आत्मादितत्वसयुक्त हृदिस्थ प्रणमाम्यहम ।

यकार शृणु चार्वांगि चतुष्कोणमय सदा ।
पलालधूमसङ्काश स्वय परमकुण्डली ।
पचदेवमय वर्ण पचप्राणात्मक सदा ।
त्रिशक्तिसहित वर्ण त्रिविन्दुसहित तथा ।
प्रणमामि सदा वर्ण मूर्तिमान मोक्षमव्ययम ।

अर्थात् 'हे चारु अङ्गो वाली ! बकार का श्रवण करो, जो चारो वर्गों के प्रदान करने वाला और शरत्कालीन चन्द्रमा के तुल्य एव पञ्चदेवो से परिपूर्ण सदा रहता है । यह भी पञ्चप्राणात्मक वर्ण वाला तथा सदा त्रिविन्दुओ के सहित होता है । तीन शक्तियो के सहित वर्ण और निविड अमृत के समान निमल है । यह स्वय साक्षात् कुण्ड-लिनी है । मैं इसको निरन्तर प्रणाम करता हूँ । हे चञ्चल अपागो वाली ! भकार स्वय परम कुण्डली है । महान् मोक्ष के प्रदान करन वाला वर्ण है तथा सदा पञ्चदवो से पूर्ण है । हे प्रिये ! तीन शक्तियो के सहित वर्ण और तीन विन्दुओ के सहित है । हे चार्वांगि ! मकार को सुनो । यह स्वय परम कुण्डली । महामोक्ष का प्रदाता वर्ण और सदा पञ्च देवमय है । तरुण सूर्य के समान है और धर्मार्थ काम मोक्ष इन चार वर्गों का प्रदान करने वाला है । तीन शक्तियो के सहित वर्ण है और सदा तीन विन्दुओ के सहित है । आत्मादि तत्वो से समन्वित है । मैं हृदय मे स्थित इसको प्रणाम करता हूँ । हे चार्वांगि ! यकार के विषय मे श्रवण करो । यह सदा चतुष्कोणमय होता है । पलाल की धुँआ के समान इसका वर्ण है और स्वय परम कुण्डली है । पञ्च देवमय वर्ण तथा सदा प च प्राणात्मक होता है । तीन शक्तियो के सहित वर्ण तथा त्रिविन्दुओ के सहित है । मैं इस मूर्तिधारी अव्यय मोक्ष वर्ण को सदा प्रणाम करता हूँ ।"

लकार चचलापागि कुण्डलीलतत्वमयुतम् ।
पीतविद्युल्लताकार सर्वरत्नप्रदायकम् ।

पचदेवमय वर्ण पञ्चप्राणमय सदा ।
त्रिशक्तिसहित वर्ण त्रिविन्दुसहित सदा ।
आत्मादितत्वसयुक्त हृदि भावय पार्वति ।
पकार शृणु चावङ्गि अष्टकोणमय सदा ।
रक्तचन्द्रप्रतीकाश स्वय परमकुण्डली ।
चतुर्वर्गप्रद वर्ण सुधानिर्मितविग्रहम् ।
पचदेवमय वर्ण पचप्राणमय सदा ।
रज सत्वतमोयुक्त त्रिशक्तिसहित सदा ।
त्रिबिन्दुसहित वर्णमात्मादितत्वसयुतम् ।
सर्वदेवमय वर्ण हृदि भावय पार्वति ।
मकार शृणु चावंगि शक्तिबीज परात्परम ।
कोटिविद्युल्लताकार कुडलीत्रयसयुतम् ।

अर्थात् "हे चञ्चलापागि ! वकार कुण्डली तत्व से सयुत है। पीत वर्ण वाली विद्युल्लता के आकार वाला है तथा सब प्रकार के रत्नो के प्रदान करने वाला है। पञ्च देवो से पूर्ण वर्ण वाला है और सदा पञ्च प्राणमय है। त्रिशक्ति से सहित वर्ण तथा सदा तीन बिन्दुओ से युक्त होता है। हे पार्वति ! आत्मादि तत्वो से समन्वित इसकी हृदय मे भावना करो। हे चार्वांगि ! अब पकार के विषय मे श्रवण करो। यह सदा आठ कोणो मे परिपूर्ण है। रक्तवर्ण वाले चन्द्रमा के समान है तथा स्वय परम कुण्डली है। चारो वर्गों के प्रदान करने वाला वर्ण है और सुधा से निर्मित विग्रह वाला है। पञ्च देवमय वर्ण है और सदा पञ्च प्राण से पूर्ण है। रजोगुण, सत्वगुण और तमो गुण—इन तीन गुणो से युक्त हैं। सदा तीन शक्तियो से समन्वित है। त्रिबिन्दुओ के सहित वर्ण है तथा आत्मादि तत्वो से युक्त है। हे पार्वति !

सब देवो से परिपूर्ण वर्णों वाला है। इसको आप हृदय मे भावित करिए। अब हे चार्वांगि! सकार के विषय मे सुनिए। यह शक्ति का बीज है और परात्पर पर है। करोड़ो विद्युल्लताओ के आकार वाला है तथा तीन कुण्डलियो से समन्वित है।"

पञ्चदेवमय वर्णं पञ्चप्राणमय सदा।
रज सत्वतमोयुक्त त्रिबिन्दुसहित सदा।
प्रणम्य सतत देवि हृदि भावय पार्वति।
हकार शृणु चार्वङ्गि चतुर्वर्गप्रदायकम्।
कुण्डलीत्रयसयुक्त रक्तविद्युल्लतोपमम्।
रज सत्वतमोवायुपञ्चदेवमय सदा।
पञ्चप्राणमय वर्णं हृदि भावय पार्वति।
क्षकार शृणु चार्वङ्गि कुण्डलीत्रयसयुतम्।
चतुर्वर्गमय वर्णं पञ्चदेवमय सदा।
पञ्चप्राणात्मक वर्णं त्रिशक्तिसहित सदा।
त्रिबिन्दुसहित वर्णमात्मादितत्वसयुतम्।
रक्तचन्द्रप्रतीकाश हृदि भावय पार्वति।

—षष्ठ पटल

अर्थात् "पाँच देवो मे परिपूर्ण वर्ण है और सदा पाँच प्राणमय है। रज, सत्व और तमोगुण मे सयुत तथा सदा तीन विन्दुओ मे युक्त है। हे देवि पार्वति! इसको प्रणाम करके इसकी भावना आप अपने हृदय मे करो। अब हकार के विषय सुनिये। यह चतुर्वर्ग के प्रदान करने वाला, तीन कुण्डलियो मे युक्त है और लाल वर्ण वाली विद्युत की लता के सदृश है। रज, सत्व तम, वायु पाँच देवो मे पूर्ण है और सदा ही रहता है। पाँच प्राणमय वर्ण है। हे पार्वती! इसकी भावना हृदय मे करो। अब क्षकार के विषय मे सुनिए। हे चारु अङ्गो वाली! यह तीन कुण्डलियो से समन्वित है। चतुर्वर्गमय इसका वर्ण है और

सदा पञ्च देवमय रहता है। पञ्च प्राणात्मक वर्ण है तथा तीन शक्तियो से युक्त सदा रहता है। तीन बिन्दुओ सहित वर्ण है और आत्मादि तत्वो से युक्त है। हे पार्वति! इसकी भावना आप हृदय मे करे।"

रङ्ग—

वर्णो के रङ्गो की खोज भी भारतीय ऋषियो ने की थी। विभिन्न तन्त्रो मे इसका उल्लेख आता है। 'मातृका विवेक' मे कहा है—

> अकार सर्वदेवत्य रक्त सर्ववशङ्करम
> इत्यादिना प्रत्यक्षर वर्ण विशेष उक्त ।

अर्थात् "अकार सब देवो वाला है, रक्त वर्ण से युक्त तथा सबको वश मे करने वाला है—इत्यादि उक्तियो से प्रत्येक अक्षर का वर्ण विशेष कह दिया गया है।

तन्त्रान्तर के अनुसार—

> स्फटिकाभा स्वरा प्रोक्ता स्पर्शा विद्रुमसन्निभा ।
> यादयो नव पीता, स्यु क्षकारस्त्वरुणा मत ।
> सर्वे वर्णा शुक्ला इत्यपि क्वचित् ।

"सभी स्वर स्फटिक मणि की आभा वाले बतलाये गये हैं। स्पर्श संज्ञा वाले (क से म पर्यन्त) सब अक्षर विद्रुम के समान वर्ण वाले हैं। यकार से लेकर क्षकार पर्यन्त नौ वर्ण पीत वर्ण वाले हैं। किन्तु उनमें क्षकार ही एक अरुण वर्ण का माना गया है। कुछ लोगो का कही पर ऐसा भी मत है कि सभी वर्ण शुक्ल वर्ण वाले होते हैं।"

सुभगोदय की व्याख्या चन्द्रकला मे लक्ष्मीधर ने सनत्कुमार-संहिता के सिद्धात को स्वीकार किया है, जो इस प्रकार है—

> अकाराद्या, स्वरा धूम्रा सिन्दूराभास्तु कादय ।
> डादिफान्ता गौरवर्णा अरुणा पञ्च बादय ।
> लकाराद्या काचनाभा, हकारान्त्यौ तडिन्निभौ इति ।

अर्थात् "अकारादि स्वरो का का रङ्ग धूम्र, 'क' से 'ट' तक सिन्दूराभ, 'ड' से 'फ' तक गौर, पाँच 'ब' आदि अरुण, लकारादि पाँच वर्ण और 'ह', 'व', 'क्ष' तडित वर्ण हैं ।"

ऋषि और छन्द—

प्रत्येक वर्ण का एक मन्त्र माना गया है । इसलिए उसका अलग-अलग ऋषि, छन्द, देवता, शक्ति आदि भी होना चाहिए । स्वरूप की चर्चा हो चुकी है । सभी वर्णों के ऋषि और छन्दो का उल्लेख 'शारदा-तिलक तन्त्र', 'पदार्थादर्श टीका' (षष्ठ पटल पृ० ३=१) में इस प्रकार आता है ।

अर्जुन्यायनमध्ये द्वौ भार्गवस्तौ प्रतिष्ठिका ।
अग्निवेश्य. सुप्रतिष्ठा त्रिषु चाब्धिषु गौतम. ।
गायत्री च भरद्वाज उष्णिगेकारके परे ।
लोहित्यायनकोऽनुष्टुप् वशिष्ठो वृहती द्वयो ।
माण्डव्यो दण्डकश्चाप स्वराणा मुनिछन्दसी ।
मौद्गायनश्च पङ्क्ति के ऽजस्त्रिष्टुप् द्वितय घडो. ।।
योग्यायनश्चजगती गौल्यायनको मुनि, ।
छन्दोऽतिजगती चे छेन्नषक शक्वरी ह्यज ।
शक्वरी काश्यपश्चातिशक्वरो भयोञाष्टठो ।
शुनकोऽष्टि सौमनस्योऽत्यिष्टिडे कारणा घृति ।
ढणोमण्डिव्यातिघृति साङ्कृत्यायनक कृति ।
त्रिषु कात्यायनस्तु स्यात् प्रकृतिर्नपफेपू वे ।
दाक्षायणाकृति व्याघ्रायणे मे विकृतिर्मता ।
शाण्डिल्यसङ्कृति लेऽथ काण्डल्यातिकृतीयरो. ।।
दाण्ड्यायनोत्कृती लेऽथ वे जात्यायनदण्डकौ ।
लाट्यायनो दण्डक, शेषसहे जयदण्डकौ ।
माण्डव्यदण्डकौ लक्षे कादीनामृपिछन्दसी ।।

अर्थात् "अर्जुन्यायन मध्य मे वे दो भार्गव प्रतिष्ठित है। अग्नि वेश्य सुप्रतिष्ठा है और तीन अग्नियो मे गौतम है। गायत्री, भरद्वाज और एकारक मे उष्णिक है। लौहित्या यनक अनुष्टुप् है। दोनो का वाशिष्ठ और बृहती है। माडव्य और दण्डक भी स्वरो के मुनि तथा छन्द है। पंक्ति मे मौद्गायन है घट का द्वितय मे अत्र और त्रिष्टुप् है। योग्यायन जगती है और गोपाल्यायनक मुनि है। अतिजगती छन्द है। चेकेन्तश्क, शक्वरी और अज है। झ म और ट ठ का शक्वरी, काश्यप और अत्रि शक्वरी है। शुनक, अष्टि, सौमनस्य और अत्यष्टि मे धृति कारण है। ढ ण का माडव्य, अतिधृति, मार्कण्यायनक कृति है। तीनो में न प फ में कात्यायन है। ण मे प्रकृति मानी गई है। दाक्षायणा कृति व्याघ्रायण है और भ से विकृति मानी गई है। म मे शाडिल्य और सक्राति है। य और र की काडल्यातिकृति है। ल मे दायड्यायनोत्कृति है तथा व मे जात्यायण और दण्डक हैं। श में लाट्यायन दण्डक है तथा प स ह में जय और दण्डक हैं,ल और क्ष मे माडव्य तथा दण्डक हैं। इस प्रकार से कादि वर्णों के ऋषि एवं छन्द होते हैं।"

देवता और शक्तियाँ—

प्रपञ्चसार तन्त्र मे वर्णो के देवता और शक्तियो का वर्णन है। 'मन्त्र और मातृकाओ' मे उद्धृत कर यहाँ दे रहे —

वर्ण	रुद्र	शक्ति	विष्णु	शक्ति
अ	श्रीकंठ	पूर्णोदरी	केशव	कीर्ति
आ	अनन्त	विरजा	नरायण	कान्ति
इ	सूक्ष्म	शाल्मली	माधव	तुष्टि
ई	त्रिमूर्ति	लोलाक्षी	गोविन्द	पुष्टि
उ	अमरेश्वर	वर्तुलाक्षी	विष्णु	धृति
ऊ	अर्घीश	दीर्घघोणा	मधुसूदन	क्षान्ति

(शांति शा० त०)

वर्ण	रुद्र	विष्णु	विष्णु	शक्ति
ॠ	(भारभूतीश भावभूति शा० ति)	सुदीर्घमुखी	त्रिविक्रम	क्रिया
ॠ	(तिथीश) तिथि	गोमुखी	वामन	दया
ऌ	स्थाणु	दीर्घजिह्वा	श्रीधर	मेधा
ॡ	हर	कुण्डोदरी	हृषीकेश	हर्षा
ए (झिण्डीश)	झिंटीश	ऊर्ध्वकेशी	पद्मनाभ	श्रद्धा
ऐ	भौतिक	विकृतमुखी	दामोदर	लज्जा
ओ	सद्योजात	ज्वालामुखी	वासुदेव	लक्ष्मी
औ	अनुग्रहेश्वर	उल्कमुखी	सङ्कर्षण	सरस्वती
अं	अक्रूर	श्रीमुखी	प्रद्युम्न	प्रीति
अः	महासेन	विद्यामुखी	अनिरुद्ध	रति
क	क्रोधीश	महाकाली	चक्री	जया
ख	चण्डेश	सरस्वती	गदी	दुर्गा
ग	पञ्चान्तक	गौरी	शार्ङ्गी	प्रभा
घ	शिवोत्तम	त्रैलोक्यविद्या	खड्गी	सत्या
ङ	एकरुद्र	मन्त्रशक्ति	शङ्खी	चण्डा
च	कूर्म	आत्मशक्ति	हली	वाणी
छ	एकनेत्र	भूतमाता	मुषली	विलासिनी
ज	चतुरानन	लम्बोदरी	शूली	विरजा
झ	अजेश	द्राविणी	पाशी	विजया
ञ	शर्व	नागरी	अंकु	२५
ट	सोमेश्वर	वैखरी	मुकु	दा

(खेचरी शा० ति०)

वर्ण	रुद्र	शक्ति	विष्णु	शक्ति
ड	दारुक	रूपिणी	नन्दी	स्मृति
ढ	अर्द्धनारीश्वर	वीरिणी	नर	ऋद्धि
ण	उमाकान्त	कोटरी	नरकजित	समृद्धि
	(काकोडरी शा० ति)			
त	आषाढी	पूतना	हरि	शुद्धि
थ	दण्डी	भद्रकाली	कृष्ण	भुक्ति
द	अद्रि	योगिनी	सत्य	मुक्ति
ध	मीन	शङ्खिनी	सात्वत	मति
न	मेष	रञ्जिनी	शौर	क्षमा
प	लोहित	कालरात्रि	शूर	रमा
फ	शिखी	कुब्जिनी	जनार्दन	उमा
ब	छागलण्ड	कपर्दिनी	भूधर	क्लेदिनी
भ	द्विरण्ड	महावज्रा	विश्वमूर्ति	क्लिन्ना
म	महाकाल	जया	वैकुण्ठ	वसुदा
य	कपाली	सुमुखेश्वरी	पुरुषोत्तम	वसुधा
र	भुजङ्गेश	रेवती	वली	परा
ल	पिनाकी	माधवी	वलानुज	परायणा
व	खड्गीश	वारुणी	वाल	सूक्ष्मा
श	वक	वायवी	वृषघ्न	सन्ध्या
ष	श्वेत	रक्षोविदारिणी	वृष	प्रज्ञा
स	भृगु	सहजा	सिंह	प्रभा
ह	नकुली	लक्ष्मी	वराह	निशा
ळ	शिव	व्यापिनी	विमल	अमोघा
क्ष	सावर्तक	माया	नृसिंह	विद्युता

ध्यान और मूर्ति

प्रत्येक वर्ण एक शक्ति है। उनके आह्वान के लिए ध्यान की

वर्ण	रुद्र	विष्णु	विष्णु	शक्ति
ऋ	(भारभूतीश भावभूति शा० ति)	सुदीर्घमुखी	त्रिविक्रम	क्रिया
ॠ	(तिथीश) तिथि	गोमुखी	वामन	दया
ऌ	स्थाणु	दीर्घजिह्वा	श्रीधर	मेधा
ॡ	हर	कुण्डोदरी	हृषीकेश	हर्षा
ए (झिण्डीश)	झिंटीश	ऊर्ध्वकेशी	पद्मनाभ	श्रद्धा
ऐ	भौतिक	विकृतमुखी	दामोदर	लज्जा
ओ	सद्योजात	ज्वालामुखी	वासुदेव	लक्ष्मी
औ	अनुग्रहेश्वर	उल्कमुखी	सङ्कर्षण	सरस्वती
अं	अक्रूर	श्रीमुखी	प्रद्युम्न	प्रीति
अः	महासेन	विद्यामुखी	अनिरुद्ध	रति
क	क्रोधीश	महाकाली	चक्री	जया
ख	चण्डेश	सरस्वती	गदी	दुर्गा
ग	पञ्चान्तक	गौरी	शार्ङ्गी	प्रभा
घ	शिवोत्तम	त्रैलोक्यविद्या	खड्गी	सत्या
ङ	एकरुद्र	मन्त्रशक्ति	शङ्खी	चण्डा
च	कूर्म	आत्मशक्ति	हली	वाणी
छ	एकनेत्र	भूतमाता	मुषली	विलासिनी
ज	चतुरानन	लम्बोदरी	शूली	विरजा
झ	अजेश	द्राविणी	पाशी	विजया
ञ	शर्व	नागरी	अङ्कुशी	विश्व
ट	सोमेश्वर	वैखरी (खेचरी शा० ति०)	मुकुन्द	वित्तदा
ठ	लाङ्गलि	मञ्जरी	नन्दज	सुतदा (सुनदा शा० त०)

वर्ण	रुद्र	शक्ति	विष्णु	शक्ति
ड	दारुक	रूपिणी	नन्दी	स्मृति
ढ	अर्द्धनारीश्वर	वीरिणी	नर	ऋद्धि
ण	उमाकान्त (काकोदरी शा० ति)	कोटरी	नरकजित	समृद्धि
त	आषाढी	पूतना	हरि	शुद्धि
थ	दण्डी	भद्रकाली	कृष्ण	भुक्ति
द	अद्रि	योगिनी	सत्य	मुक्ति
ध	मीन	शङ्खिनी	सात्वत	मति
न	मेघ	राजिनी	शौर	क्षमा
प	लोहित	कालरात्रि	शूर	रमा
फ	शिखी	कुब्जिनी	जनार्दन	उमा
ब	छागलण्ड	कपर्दिनी	भूधर	क्लेदिनी
भ	द्विरण्ड	महावज्रा	विश्वमूर्ति	क्लिन्ना
म	महाकाल	जया	वैकुण्ठ	वसुदा
य	कपाली	सुमुखेश्वरी	पुरुषोत्तम	वसुधा
र	भुजङ्गेश	रेवती	बली	परा
ल	पिनाकी	माधवी	बलानुज	परायणा
व	खड्गीश	वारुणी	बाल	सूक्ष्मा
श	वक	वायवी	वृषघ्न	सन्ध्या
ष	श्वेन	रक्षोविदारिणी	वृष	प्रज्ञा
स	भृगु	सहजा	सिंह	प्रभा
ह	नकुली	लक्ष्मी	वराह	निशा
ल	शिव	व्यापिनी	विमल	अमोघा
क्ष	सवर्तक	माया	नृसिंह	विद्युता

ध्यान और मूर्ति

प्रत्येक वर्ण एक शक्ति है। उनके आह्वान के लिए ध्यान की

साधना का विधान मिलता है। शारदा-तिलक तन्त्र की पदार्थादर्श टीका मे तन्त्रान्तर से उद्धृत वर्णों मे ध्यान के लिए मूर्ति का निर्धारण इस प्रकार किया उपलब्ध होता है—

चामीकरनिभ शूलगदाराजद्भुजाष्टक ।
चतुरास्योऽतिकाय स्यादकार कूर्मवाहन ।
पाशाङ्कुशकरा श्वेता पद्मस्थे भवाहना ।
षष्ट्यूर्ध्वयोजनमिता स्यादा मौक्तिक भूषणा ।
पीत कराब्जकुलिशपरशु वैरिनाशनम् ।
द्वयेकयोजनमान स्यादिकार कच्छपस्थितम् ।
दशयोजनदीर्घार्द्धं नाहासौ हसवाहना ।
ई स्यात्पुष्टिप्रदा श्वेता मौक्तिकाढ्या सितानना ।
गदाङ्कुशकर काकवाहन कृष्णभूषणम् ।
योजनद्विसहस्राणां मानमुद्वयमक्षरम् ।

अर्थात् "सुवर्ण के तुल्य, शूल और गदा आठ भुजाएँ शोभित करने वाला, चार मुखो से युक्त अति विशाल काया वाला और कूर्म के वाहन से युक्त अकार होता है। पाश और अकुश को करो में धारण करने वाला, पद्म पर स्थित हाथी के वाहन वाला, साठ से ऊर्ध्व योजन परिमित तथा मोतियो के भूषणो से विभूषित आकार है। पीत, हाथो हाथो मे कमल, कुलिश और परशु धारण करने वाला है। वैरियो का नाशक, दो-एक योजन के मान वाला कच्छप पर स्थित इकार है। दस योजन दीर्घ और आधा योजन विस्तार वाला, हस के वाहन से युक्त ईकार है। पुष्टिप्रद, श्वेत मोतियो से सयुत, सित मुख वाला, गदा-अकुश धारण करने वाला काक वाहन तथा कृष्ण भूषणो वाला, दो सहस्रों योजन के मान युक्त दोनो उकार हैं।"

पाशशक्तिभुज रक्त वाह्लबिम्बस्थितोष्टगम ।
उक्तप्रमाण कालघ्नमृऋवर्णद्वय भवेत ।

चतुरस्राब्जहम्स्थ पुष्पगागसमप्रभम् ।
पाशवज्रकर गौद्र लृयुग्म स्यान्निरोधनम् ।
गदाफलाग्निपद्माढ्यकार हारविभूषणम ।
चक्रवाकस्थित श्याममेकार तु महद्भवेत् ।
नवकुन्दनिभा शूलवज्रवाहा द्विपस्थिता ।
कोटियोजनमाना स्यादैमूर्ति कविता करी ॥
चिन्मय सवग शान्त द्विसहस्रकरोज्ज्वलम् ।
पीत गोवृपसस्थ स्यादोरूप श्रीकरात्मकम् ।

अर्थात् "पाश और शक्ति को भुजाओ मे धारण करने वाला, वह्नि के बिम्ब के समान स्थित रक्त काल का हनन करने वाला तथा उक्त प्रमाण से युक्त दानो ऋृकार है । चतुरस्राब्ज, हम पर स्थित, पुष्पराग के समान प्रभा से युक्त पाश और वज्र करो मे धारण करने वाला और गौद्र निरोधन करने वाला दोनो लृ का युग्म है । गदा, फलादि, पद्म मे आढय करो वाला, हार के भूषण से युक्त चक्रव क पर स्थित, श्याम वर्ण वाला एकार महान् होता है । नवीन कुन्द के समान शूल, वज्र को वहन करने वाला, हाथी पर स्थित, करोड योजन के मान वाला, कविता करने की मूर्त्ति के युक्त ऐकार चिन्मय सर्वदा शान्त दो सहस्र करो से समुज्वल, पीत वर्ण वाला गोवृप पर स्थित ओकार का स्वरूप है, जो श्री के करने का स्वरूप वाला होता है ।"

तप्तहेमनिभा पाशचक्रबाहुर्विभूतिदा ।
योजनाना सहस्रेण स्यादौवर्णामितोजसा ॥
नवकुङकुमसच्छाय पद्मस्थो रक्तभूषण. ।
चतुर्भुज स्यादवर्ण. श्रीकरो रिपुनाशक ।
वज्रशूलकर क्षुद्र (युद्ध) फलद खरवाहनम् ।
सहस्रयोजनमित स्वरान्त द्विभुज स्मरेत् ।
शूविम्वगजसस्थ स्यान्नवकुङकुमसन्निभ ।

शूलवज्रकर कार्य, सहस्रद्वययोजन ।
पाशतोमरहस्त खो मेषसस्थो निरोधन ।
योजनाना सहस्रेण मित कृष्णो विभीषण ।
पाशाङ्कुशकर पद्म फणिसस्थोऽरुणप्रभ ।
गकार सर्पभूष स्यात् शतयोजनसस्थित ।

—पृष्ठ ३५६

अर्थात् "तपे हुए सुवर्ण की काति के समान काति वाला, पाश और चक्र बाहुओ मे धारण करने वाला, विभूति का प्रदाता, एक सहस्र योजन के मान से युक्त और अमित ओज से पूर्ण ओकार है। नवीन कु कुम के समान कांति वाला, पद्म पर समास्थित, रक्त भूषणो से विभूषित तथा चार भुजाओ वाला अ कार वर्ण है, जो श्री के करने वाला एव रिपुओ का नाशक होता है। वज्र और शूल करो मे धारण करने वाला क्षुद्र (युद्ध), फल के देने वाला, खर के वाहन से युक्त, एक सहस्र योजन के मान वाला ऐसा (अ) स्वरान्त दो भुजाओ वाला है, ऐसा स्मरण करना चाहिए। भू-विम्ब गज पर स्थित नूतन कु कुम के समान आभा वाला, शूल और बज्र करो मे धारण करने वाला, दो सहस्र योजन के मान वाला क वर्ण है। पाश और तोमर हाथो मे धारण करने वाला, मेष पर स्थित ख वर्ण है। निरोध करने वाला, कृष्ण वर्ण से युक्त तथा विशेष भीषण, पाश और अ कुश करो मे धारण करन वाला पद्म पर तथा फणी पर सस्थित और अरुणप्रभा से युक्त गकार होता है। सर्पों की भूषा वाला, सौ योजन पर सस्थित है।"

उष्ट्रोलूलखसम्थ स्याद् गदावज्रकरोमित ।
योजनाना सहस्रेण द्विमुखो घ' सितेतर ।
कोटियोजनदीर्घार्द्धनाह कृष्णा ज्वलत्प्रभम् ॥
द्विभुज काकवाह स्यात डार्णं क्षुद्रफलप्रदम् ।
युगाग्रपद्मसस्थ स्यात चतुर्बाहु सितप्रभ ॥

च कपर्दी मुगन्धाढ्य कोटियोजनमस्थित ।
सितस्तावत्स्थित. पद्मे चतुर्बाहुश्छवर्णक ॥
जझौ च कोटिमानौस्त चतुर्बाहूमितप्रभौ ।
योजनाना सहस्रं स्यात् मम्मित काकवाहनम् ॥
विद्वेपकरण ञार्ण कृष्णवर्णं भुजद्वयम् ।
क्रौञ्चस्थो द्विभुष्ट स्यान्नागनद्धा महाध्वनि ।
धरापद्मगजेन्द्रस्थष्टवर्ण द्विकरोज्जवल ।
लक्षयोजनमान स्याद् गरनाशकरो विभु ।

—पृष्ठ ३६०

अर्थात् 'उष्ट्र और उलूखल पर मस्थित, गदा और वज्र करो मे धारण करने वाला, एक सहस्र योजन माना गया, दो मुखो से युक्त, सित मे इतर वर्ण वाला घकार है। करोड योजन दीर्घार्द्ध मान वाला कृष्ण, जलती हुई प्रभा से युक्त, दो भुजाओ वाला, काक के वहन से युक्त और क्षुद्र फल देने वाला ङकार वर्ण होता है। युगाग्र पद्म पर स्थित, चार बाहुओ से समन्वित, सित प्रभा से युक्त चकार होता है। कपर्दी, सुगन्ध से आढ्य, कोटि योजन मान पर सस्थित, सित, पद्म पर स्थित, चार बाहुओ वाला छ वर्ण होता है। जकार और झकार एक करोड मान वाले होते हैं, दोनो के चार चार बाहुएँ हैं और सित प्रभा वाले है। सहस्र सम्मित मान वाला, काक के वाहन से युक्त तथा विद्वेप करने वाला ञ वर्ण होता है। कृष्ण वर्ण वाला, दो भुजाओ से युक्त क्रौंच पर स्थित, द्विभुज टवर्ण होता है। नाग से नद्ध, महाध्वनि वाला, धरा, पद्म गजेन्द्र पर स्थित ठ वर्ण होता है। दो करो से उज्ज्वल, एक लक्ष के योजन के मान वाला, गर का नाशक और विभु ड वर्ण होता है।"

डवर्णोप्यष्टबाहु स्याच्चतुर्वक्त्र स्वलङ्कृत ।
योजनाना सहस्रेण मित कुवलये स्थित. ॥

अग्निबिम्बाजगो ढार्णो दशबाहूर्ज्वलत्प्रभ. ।
सहस्रमान ग्राव्रस्थ योजनानां हिण हुत् ।।
पष्टिहायनसस्थ स्याच्चतुर्बाहु. स्वल कृत ।
सहस्रमान गन्धाढ्य कुड् कुमव्रभश्च ताक्षर. ।
कोटियोजनमान स्यादष्टबाहुश्चतुर्मुख. ।
पीतवर्णो वृषारूढ धवर्णोऽपि भयङ्कर ।
द्विमुख षडभुज कोटिमान द महिषस्थितम् ।
सिंहबाहश्चतुर्बाहुर्धश्चतुर्लक्षसम्मित ।
द्विभुज काकवाह न तत्सहस्रमिन भवेत् ।
विशभुजो दशास्य. प कोचिमानो बकस्थित ।

अर्थात् 'ह वर्ण आठ भुजाओं वाला है तथा उसके चार मुख हैं और अविभूषित है। एक सहस्र योजन का उसका मान है तथा कुवलय पर संस्थित है। ढ मक्षर अग्नि-बिम्ब के समान है, दस उसके बाहुएँ हैं और जाज्वल्यमान प्रभा वाला है। एक सहस्र का मान है। ग्गाघ्र पर उसकी संस्थिति है। योजनों से दिष्ट होता है। यह पष्टिदायन पर सस्थित है। चार भुजाओं वाला एवं गन्नी भाँति ग्रलकृत है। एक सहस्र का मान है तथा गन्ध से समन्वित है। त अक्षर कुंकुम की आभा के समान प्रभा वाला है। एक करोड योजन के मान वाला है। आठ इसके भुजाएँ हैं और चार मुख हैं। पीत वर्ण वाला, वृष पर समारूढ थ वर्ण भी अत्यन्त भयानक है। दो मुख वाला, छै भुजाओं से युक्त एक करोड के मान वाला, चार बाहुओं से युक्त तथा चार लाख योजनों के मान वाला और महिष पर स्थित द वर्ण है। सिंह पर सवारी करने वाला, चार बाहुओं से युक्त तथा चार लाख योजनों के मान वाला ध वर्ण है। दो भुजाओं वाला, काक पर समारूढ और तत्सहस्र मान वाला न वर्ण है। बास भुजाओं वाला, दस मुखों से युक्त और एक करोड मान वाला बक पर स्थित प वर्ण है।"

दशकोटिमित फार्णो योजनाना भुजद्वय ।
कण्ठीरवसिताम्भोजे निषण्णश्चञ्चल पित ।।

पडास्यो द्विभुजो व स्याद्दशकोटिमितोऽरुण ।
नीलोत्पललसद्धसवाहन पुष्टिदायक ।
त्रिहस्त त्रिमुख व्याघ्रवाहन भीपणाकृतिम् ॥
दशलक्षमित भार्ण धूम्राभ स्यान्महावलम् ।
चतुर्भुजो मकार स्यात् मत्रिपोरगसन्निभ' ॥
मण्डितो मुण्डमालाभि शशिखण्डविराजित ।
व्याप्तश्चतुर्मखो 'भुजो) धूम्रो यार्ण स्यान्मृगसस्थित ॥
त्रिकोणाम्वुजमेपस्थो रार्णो वाहुचतुष्टय ।
चतुरस्राब्जतीन्द्रपृष्ठेनोपरि राजिता ॥
चतुर्भुजा लकारस्य मूर्ति स्यात् घुसृणप्रभा ।
अब्धिस्थपद्मनक्रस्थो द्विभुजो व मित स्मृत ।
करद्वयाब्जगा हेमवर्णा शार्णाकृतिस्तथा ॥

—पृष्ठ ३६१

अर्थात् "फ अक्षर दस करोड योजनो के मान वाला तथा दो भुजाओ से युक्त कण्ठीरव पर अवस्थित, अम्भोज पर निषण्ण, चवल और मित है। ब वर्ण छै मुखों वाला है तथा वर्ण है। नीलोत्पल के समान लसमान है। हस का वाहन रखता है। परम पुष्टि का देने वाला है। भ वर्ण तीन हाथो वाला, तीन मुखो वाला, व्याघ्र के वाहन वाला, भीषण आकृति से समन्वित, दस लाख योजन के मान वाला, धूम्र के समान आभा से युक्त और महान् बल वाला होता है। मकार चार भुजाओं से युक्त, सर्प के समान, मुण्डो की माला से मण्डित, चन्द्र क खण्ड भाग से सुशोभित होता है। य वर्ण व्याप्त चार मुखो वाला, धूम्र और मृग पर विराजमान होता है। र वर्ण त्रिकोण, अम्बुज मेष पर सस्थित और चार बाहुओ से युक्त होता है। चतुरस्र, अब्ज और जन्तीन्द्र पीट पर सस्थित, चार भुजाओ से युक्त लकार होता है, जो घुसृण की प्रभा के समान होता है। व वर्ण समुद्र मे स्थित पद्म और नक्र पर

विराजमान, दो भुजाओ वाला तथा सित वर्ण से युक्त होता है। ष अक्षर की आकृति दोनो हाथो मे अब्ज धारण करने हेम के समान वर्ण से समन्वित होती है।"

सहस्रमान कृष्णाभो द्विभुज कार्मरणेऽथ ष ।
कोटिमान सित स' स्यात् हसगो (ह्याङ्गो)
द्वि भुजान्वित ।
हार्ण. श्वेनस्त्रिबाहु स्यात् व्याप्तशीताशुशेखर ।
पाशाभयकरा लार्णमूर्ति श्वेना गजस्थिता ।
भूविम्बशैलसस्थ क्षो दशबाहुमणिप्रभ ।
मूर्तिभेदा यथार्णाना मयात्रप्रतिपादिता ॥

—पृष्ठ ३६१

अर्थात् "षकार एक सहस्र योजन मान वाला, दो भुजाओ से युक्त कार्मण पर स्थित होता है। करोड मान वाला, सित वर्ण से युक्त सकार होता है। हकार श्वेत वर्ण से युक्त, तीन बाहुओ वाला, व्याप्त तथा शीताशु को मस्तक पर धारण करने वाला होता है। पाश और अभय को करो में धारण करने वाली ल वर्ण की मूर्ति होती है, जो श्वेत है और गज पर स्थित रहती है। क्षवर्ण भूबिम्ब शैल पर स्थित, दस भुजाओ वाला तथा मणि की प्रभा वाला होता है। जो वर्णों की मूर्तियो के भेद होते हैं, वे सब मेरे द्वारा यहाँ पर प्रतिपादित कर दिए गए हैं।"

तन्त्रो मे वर्णों का महत्व वैज्ञानिक आधार पर स्थित है। इनकी रेखाकृतियो का निर्धारण ऋषियो की समाधि-अवस्था मे किया गया है। इनकी रेखाकृतियो की जो ध्वनि निश्चित की गई है, उसके वैज्ञानिक परीक्षण भी किए जा चुके हैं। सूक्ष्म निरीक्षण मे उनके रग और स्वरूप का भी अनुसन्धान किया गया है। इनसे निकलने वाली ध्वनिया की अनुभूतियो की गहन खोज की गई है। इन्ही खोजो

के परिणामस्वरूप सिद्धान्त निर्धारित किए गए हैं। जनसाधारण को इनकी ओर आकर्षित करने के लिए इनके माहात्म्य शास्त्रों में वर्णित किए हैं। वर्ण शक्तिमय हैं। ध्वनि से उसका विस्तार होता है। इसे व्यावहारिक रूप में प्रत्यक्ष करने के लिए दीर्घकालीन अभ्यास और तपश्चर्या की अपेक्षा है, परन्तु परिणाम सुनिश्चित हैं, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

• • •

मातृकाओं की बौद्धिक व्याख्या

महिमा—

मातृका की महिमा का वर्णन करते हुए तन्त्र-ग्रन्थों में कहा गया है—

> यदक्षरैकमात्रेपि संसिद्धे स्पर्द्धते नरः।
> रवितार्क्ष्येन्दुकन्दर्पशङ्करानलविष्णुभिः।
> यदक्षरशशिज्योत्स्नामण्डितं भुवनत्रयम्।
> वन्दे सर्वेश्वरीं देवीं महाश्रीसिद्धिमातृकाम्॥
> यदक्षरमाहसूत्रप्रोतमेतज्जगत्त्रयम्।
> ब्रह्माण्डादिकटाहन्तं जगदद्यापि दृश्यते॥
> अकचादिटतोन्नद्धपयसाक्षरवर्गिणीम्।
> ज्येष्ठाङ्गबाहुहृत्पृष्ठकटिपादनिवासिनीम्॥
> तामिकाराक्षरोद्धारसाराधारां परापराम्।
> प्रणमामि महादेवीं परमानन्दरूपिणीम्।

—वामकेश्वरीमतम्, प्रथम पटल

अर्थात् "जिसके केवल एक ही अक्षर के भली भाँति सिद्ध हो जाने पर मनुष्य, रवि, तार्क्ष्य, चन्द्र, कामदेव, शम्भु, वायु और विष्णु के साथ स्पर्धा किया करता है, जिसके अक्षर चन्द्र की चाँदनी में यह से यह तीनों भुवनमण्डित है, उस महाश्री सिद्धिमातृका सर्वेश्वरी देवी की मैं वन्दना करता हूँ। जिसके अक्षररूपी महासूत्र से यह त्रिलोकी

प्रोत है और ब्रह्माण्ड के आदि से लेकर अन्त तक यह जगत् आज भी दिखलाई दिया करता है। अकचादिटत मे उन्नद्ध अर्थात् अकारादि सब स्वर कवर्ग चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग से युक्त पवर्ग आदि अन्तस्थ और सकारादि ऊष्मा मज्जक रूपों के वर्णों वाली, ज्येष्ठ अङ्ग बाहु, हृदय, पीठ, कटि और चरणों मे निवास करने वाली उस इकारा-क्षर के उद्धार की सारवाला, पर-से-पर परमानन्द रूप वाली महादेवी को मैं प्रणाम करता हूँ।"

स्वच्छन्द तन्त्र मे कहा है—

"न विद्या मातृका परा"

"मातृका से परे और कोई विद्या नहीं है।"

'परात्रिंशिका' में मातृका-शक्ति के प्राप्त होने पर मुक्ति और इसके अभाव मे बन्धन की चर्चा करते हुए कहा गया है—

असमादेव तु मायीयाद् वर्णपुञ्जान्निरूपिता।
मायामालम्ब्य भिन्नैव श्रीपूर्वे सृष्टिराक्षरी॥
पञ्चाशद्भेदसम्भिन्नप्रत्ययप्रसवात्मिका।
बन्धरूपा स्वभावेन स्वरूपावरणात्मिका॥
अत्रैवातर्गतास्तास्ता खेचर्यो विषयात्मिका।
तन्वते सस्तृति चित्रा कर्ममायागुतामयीम्॥
अस्या. साम्य स्वभावेन शुद्ध भैरवतामयम्।

—परात्रिंशिका, पृष्ठ २१४

अर्थात् 'असमता से ही मायामय तथा वर्णों के समूह से निरूपित है। माया का अवलम्बन करके ही भिन्न है, श्रीपूर्वा अक्षरमयी सृष्टि है। पचास भेदो से सम्भिन्न और प्रत्ययो के प्रसव वाले स्वरूप से युक्त है। बन्ध के रूप वाली स्वभाव से ही है और रसात्मिका है। इसमे ही वे विषयात्मिका खेचरियाँ सब अन्तर्गत रहती हैं। कर्ममायागुतामयी इस विचित्र ससार का विस्तार करती है। स्वभाव से इसका शुद्ध भैरवतापूर्ण साम्य होता है।'

इसके महत्व का मूल्यांकन इसी तथ्य से किया जा सकता है कि इसको प्रणव से उत्पन्न हुआ बताया गया है। इसीलिए इसका एक नाम 'मातृका सू' कहा गया है—

"अक्षर मातृकासूश्चानादिरद्वैतमोक्षदौ'

अर्थात् "अक्षर मातृकासू और अनादि अद्वैत मोक्ष के देने वाले हैं।"

प्रणव में तो निस्सन्देह बन्धनों को काटने की विशेषता है। अत इसका भी एक गुण बताया गया है—

सर्वे वर्णात्मका मन्त्रा ते च शक्त्यात्मका प्रिये।
शक्तिस्तु मातृका ज्ञेया सा च ज्ञेया शिवात्मिका॥
या सा तु मातृकादेवी परतेज समन्विता।
तया व्याप्तमिदं विश्व सब्रह्म भुवनान्तकम्॥

—श्री त न्त्रसद्भाव, सूत्रविमर्शिनी पृष्ठ ५१

अर्थात् "हे प्रिये वे सर्ववर्णात्मक अर्थात् वर्णों के स्वरूप वाले मन्त्र जो है, वे शक्त्यात्मक हैं। उनमें मातृका ही शक्ति है व उसे शिवात्मिका ही समझनी चाहिए। जो यह मातृका देवी है वह पर तेज से युक्त है, उसके द्वारा ब्रह्म के सहित भुवनात्मक यह सम्पूर्ण विश्व व्याप्त है।"

अतिशयोक्ति शैली में वर्णन करते हुए शिव को भी मातृका शक्ति का उपासक बताया गया है—

कथयामि वरारोहे यन्मया जप्यते सदा।
आकारादिक्षकारान्ता मातृका वर्णरूपिणी।
चतुर्दशस्वरोपेता बिन्दुत्रयविभूषिता।
कलामण्डलमास्थाय शक्तिरूप महेश्वरि।
ककारादिक्षकारान्ता वर्णास्तु शक्तिरूपिण।
व्यञ्जनत्वात् सदानन्दोच्चारण सहते यत।

> उच्चारे स्वरसम्भिन्नास्ततो देवि न सशय ।
> प जाशद्वर्ण भेदेन शब्दाख्य वस्तु सुव्रते ।
> अकार प्रथम देवि क्षकारोन्त्यस्तत परम् ।
> अक्षमालेति विख्याता मातृका वर्ण रूपिणी ।
>
> —परात्रिंशिका टि० पृ० ११४

अर्थात् "हे वरारोहे ! जो मेरे द्वारा सदा जाप किया जाता है, उसे कहता हूँ। अकार से आदि लेकर क्षकार पर्यन्त वर्णों के रूप वाली मातृका है। यह चौदह स्वरो से समन्वित और तीन बिन्दुओ से विभूषित है।

हे महेश्वरि ! शक्तिस्वरूप कला-मण्डल मे समास्थित होकर रहती है। ककार से आरम्भ कर क्षकार पर्यन्त वर्ण शक्ति रूप वाले हैं। व्यञ्जन होने से सर्वदा आनन्दपूर्वक उच्चारण किये जाते हैं। हे देवि ! स्वरो से सम्भिन्न भी इनका उच्चारण होता है—इसमे कुछ भी सशय नही है। हे सुव्रते ! पचास वर्णों के भेद से यह शब्द नाम वाली वस्तु है। हे देवि ! इनमे अकार प्रथम वर्ण है, इसके पश्चात् क्षकार सबसे अन्त में होने वाला है। यह वर्णरूपिणी मातृका अक्षमाला—इस नाम से विख्यात है।"

तभी तन्त्र-शास्त्रो मे इसे तन्त्रमाता के सम्माननीय पद से विभूषित किया गया है—

> मन्त्राणा मातृभूता च मातृका परमेश्वरी ॥
> बुद्धिस्था मध्यमा भूत्वा विभक्ता बहुधा भवेत् ।
> सा पुन क्रमभेदेन महामन्त्रात्मना तथा ॥
> मन्त्रात्मना च वेदादिशब्दाकारेण च स्वत ॥
> सत्येतरेण शब्देनाप्याविर्भवति सुव्रता ॥
> मातृका परमा देवी स्वपदाकार भेदिता ।
> वैखरीरूपतामेति करणैर्विशदा स्वयम् ।
>
> —यज्ञवैभव प० ४

अर्थात् "यह मातृका मन्त्रों की माता के समान परमेश्वरी है। बुद्धि में स्थित होकर मध्यमा होती है और बहुत-से रूपों में विभक्त हुआ करती है। वही क्रम भेद से मह मन्त्रों के स्वरूप में रहती है। वेदादि शब्दों के आकार वाले मन्त्र स्वरूप से यह सर्वदा सत्य है और सुन्नता इतर शब्द से भी आविर्भूत होती है। मातृका परम देवी है, जो स्वपदों के आकार से भेदित है। करणों के द्वारा स्वयं विशदा यह वैखरीरूपता को प्राप्त हो जाती है।"

केवल मन्त्र की ही नहीं, वर्ण, कला, तत्त्व और षडध्वनि की भी इसे माता कहा गया है—

या साशक्तिर्जगद्धातु कथिता समवायिनी (मा०वि०३।५) इत्यादिना उक्तम्, इहापि त्रिपुरा परमाशक्तिराद्या जातादित प्रिये। स्थूल - सूक्ष्मविभागेन त्रैलोक्योत्पत्तिमातृकाम्, वामकेश्वरीमतम् ४।४। परदशायामिच्छा-ज्ञानक्रियात्मना, सूक्ष्मदशाया तामाज्येष्ठारौद्रीलक्षणेन, स्थूलदशाया ब्रह्मविष्णवीश-रूपेण विभागेन त्रयाणा पुराणामुक्तगत्या सृष्टिस्थिति-सहारापूरकाणा स्थानाना भावादनुगतार्थतया त्रैलोक्यस्य अतिभवा भवात्मकस्य उत्पत्तावत्र मासेन मातृका जननी, अथच अम्बिकाशब्दव्यपदेश्या जाता।

—वामकेश्वरीमत विवरण पृ० १००

अर्थात् "जो शक्ति जगत् के धाता की कही गई है, वह समवायिनी है, इत्यादि के द्वारा कहा है, स्थूल सूक्ष्म के विभाग से त्रैलोक्य की उत्पत्ति मातृका है। यह कामेश्वरी मत है। पर-दशा में इच्छा, ज्ञान—क्रिया रूप से, सूक्ष्म दशा में वामा, ज्येष्ठा, रौद्री लक्षण से—स्थूल दशा में ब्रह्मा, विष्णु और ईश रूप के विभाग से—पुराण युक्त गति में तीन सृष्टि स्थिति संहारापूरक स्थानों की भाव से अनुगतार्थता होने से अतिभवाभवात्मक त्रैलोक्य के उत्पत्ति तत्व के अवभास में मातृका

जनमी है और यह अम्बिका—इस शब्द से व्यवहार करने के योग्य हो गई है।"

नेत्र-तन्त्र मे इसे विश्व निर्मात्री क्रिया-शक्ति के नाम मे अविहित किया गया है—

यदा स्वतन्त्रालुप्ता सा क्रियाकरणरूपिणी ॥
वर्णरूपाष्टभेदेन स्फोटादिध्वनिरूपिणी
मातृका सा विनिर्दिष्टा क्रियायुक्तिमहेश्वरी ॥
क्रियाख्या परमा सादु सर्ववाङ्मयरूपिणी ।

—नेत्रतन्त्र, २१ अविकार

अर्थात् 'जब यह स्वतन्त्र होती है, तो वह क्रिया करण रूप वाली लुप्ता है। वर्ण रूप आठ भेद मे स्फोट आदि ध्वनि रूप वाली है। वह क्रियाशक्ति महेश्वरी मातृका निर्दिष्ट की गई है। क्रिया नाम वाली वह सर्व वागमयरूपिणी परमा होती है।"

वामकेश्वर तन्त्र के अनुसार—

गणेश ग्रह नक्षत्रयोगिनीरराशिरुपिणीम् ।
देवी मन्त्रमयी नौमि मातृका पीठरूपिणीम् ॥

—प्रथम पटल

अर्थात् "गणेश, ग्रह, नक्षत्र, योगिनी और राशि रूप वाली पीठ स्वरूप से युक्त मन्त्रमयी मातृका देवी को मैं प्रणाम करता हूं।"

शक्ति-स्तोत्र मे कहा है—

पचाशल्लिजदेहजाक्षरमयैर्नाना विधैर्घतुभि-
र्वेहर्थं पदवाक्यमानजनकैरर्थं विनाभावितं ।
साभि प्रायवदर्थकर्मफलदं ख्यातैरनन्तैरिद
विश्व व्याप्य चिदात्मनाहमहमित्युज्जृम्भसे य मातृके ॥

अर्थात् "पचास अक्षरों के देह से पूर्ण, नाना विघ्न, धातु जो बहुत अर्थों वाले पद एवं वाक्यों मात्र के उत्पन्न करने वाले हैं, जो कि अविनाभावि अर्थों में युक्त हैं। अभिप्राय सम्पूर्ण अर्थ, कर्म और फल के देने वाले ख्यात एवं अनन्त है, उनमें हे मातृके! आप विश्व को व्याप्त करके चिदात्मा के द्वारा अहमहमिका से उज्जृम्भित होती हैं।"

आनन्दलहरी नामक स्तोत्र में भगवान शङ्कराचार्य ने स्तुति किग्ते हुए कहा है—

> सवित्रीभिर्वाचां शशिमणिशिला भङ्गरुचिभि—
> र्वशिन्याद्याभिस्त्वां सह जननि सञ्चिन्तयति यः ।
> स कर्ता काव्यानां भवति महतां भङ्गिसुभगैं—
> र्वचोभिर्वाग्देवी वदनकमला मोदमधुरैः ॥

—सौंदर्यलहरी

अर्थात् "वाणियों की सावित्रियों के द्वारा जो कि शशिमणि शिला के भङ्ग की रुचि वाली हैं। हे जननि! जो आद्य वशिणी के साथ आपका चिन्तन करता है, वह काव्यों का कर्ता होता है अर्थात् भाव-भङ्गि से परम सुन्दर, वाग्देवी के मुख-कमल के आमोद से, मधुर वचनों से समन्वित महान् काव्यों की रचना करने वाला बनता है।"

परिभाषा—

वर्णमाला के समुदित रूप को मातृका कहते हैं। तन्त्रशास्त्रों ने मातृका का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है।

तन्त्र-दार्शनिक भास्करराय ने वरिवस्या रहस्य में कहा है—

स्फुरणान्त्रीयज्ञानमेव प्रकाशमिथब्रह्म। तच्च सर्वज्ञत्वम् वैश्वरत्वम्‍ एव-कर्तृत्वपूर्णत्वव्यापकत्वादिशक्ति-मवलितम्। तस्य चानन्दरुपाश एव स्फुरणा परहन्ता विमर्श, परालिताभट्टारिका त्रिपुरसुन्दरी त्यादिदं व्यवह्रियेत।   —पृ० ४

वटबीजान्तर्गतवटवृक्षोय सूक्ष्म रूपतुल्यगव्दसृष्टिस्सूक्ष्म रूपशालिनी

पूर्वोक्तरूपा त्रिपुर सुन्दर्यैव तादृश सूक्ष्मरूप वटवप्रवृत्तिनिमित्तक पराप दवाच्या । सैव च माति, तरतेनि, कार्यति व्युत्पत्या मातृकेत्युच्यते । —पृ० १७

अर्थात् "स्फुरण के अन्वय वाला ज्ञान ही प्रकाश नाम वाला ब्रह्म है । वह सब तत्व, सर्वेश्वर तत्व, मबका करने वाल' पूर्ण और व्यापक आदि शक्तियों म सबन्धित होता है । उसका ज्ञान दरूप जो अ श है वही स्फुरण होता हैं जो पराहन्ता है । विमर्श परालालिता भट्टारिका त्रिपुरसुन्दरी इत्यादि पदो के द्वारा व्यवहार की जाती है । वह वीज के अन्दर रहने वाला वट वृक्षाश सूक्ष्म रूप जैसे होता है, उमी के ममान शब्द सृष्टि सूक्ष्म रूप वाली पूर्व कथित रूप मे युक्त त्रिपुरसुन्दरी ही उसके मे सूक्ष्म रूप वाली प्रवृत्ति निमित्तक पर यह वाच्य है । वही माति अर्थात् मान रखने वाली, तरति, तरण करने वाली और कार्य करने वाली है । मातृका--इन तीन अक्षरो की व्युत्पत्ति से वह 'मातृका'-इस नाम से कही जाती है ।"

काम-कला विलास मे पुण्यानन्दाचार्य के अनुसार—

स्वान्तर्गतानन्ताक्षरराशिमहामन्त्र वीर्य पूर्णाहिन्तारूपिणी प्रकाशानन्दसारा विन्दुत्रयसमष्टिरूपीलप्यक्षररूपिणी काम कला नाम महात्रिपुरसुन्दरी मातृका परमयोगिभि महामाहेश्वरैरनिशमनुस्मतव्या इति । —पृ० १५

अर्थात् "अपने अन्दर रहने वाले अनन्त अक्षरो के समूह वाली, महामन्त्र के वीर्य से परिपूर्ण चिन्तनरूप वाली, प्रकाश और आनन्द के सार से युक्त, विन्दुत्रय (तीन विन्दु) की समष्टिरूप वाली, लिपि के अक्षरो के स्वरूप से समन्वित कामकला नाम वाली त्रिपुरसुदरी मातृका परम योगी महामहेश्वरो के द्वारा निरतर स्मरण करने के योग्य है ।"

मतृकाशब्दराशिमघट्टात् शक्ति भेदवयात्मलक्षणात् लवणारवालवतपरस्परमेलनात्, "भिन्ना वीजै भेदिता योनो

व्यञ्जनानि यस्या ज्ञातथाविद्या सती ।"

—त्रि० पृ० १९२ तृ० आ०

अर्थात् "मातृका शब्द समूह के सघट्ट से, शक्ति वाले ऐक्य स्वरूप लक्षण से, लवण वारि के समान परस्पर मे मेल न होने से, भिन्न बीजो से भेद वाली योनियाँ व्यञ्जन जिसके हैं, वह उस प्रकार की सती होती है।"

तन्त्र मे शब्दराशि को ही 'मातृका' कहा गया है—

सात्र कुण्डलिनी बीजजीवभूता चिदात्मिका ।
तज्ज ध्रुवेच्छोन्मेषाख्य त्रिक वर्णास्तत पुन ।
आ इत्यवर्णादित्यादि यावद्वैसर्गिकी कला ॥
विसर्गशक्तिर्विश्वस्य कारण च निरूपिता ।
ऐतरेयाख्यवेदान्ते परमेशेन विस्तरात ॥
शब्दराशि स एवोक्तो मातृका सा च कीर्तिता ।

अर्थात् "यहाँ पर वह बीज जीवभूता चिदात्मिका कुण्डलिनी है। उससे समुत्पन्न ध्रुव इच्छा, उन्मेष नाम वाला त्रिक है। फिर इसके पश्चात् वर्ण हैं। आ, इस अवर्ण से आदि लेकर जितनी भी वैसर्गिकी कला है,वह इस विश्व की विसर्ग शक्ति का कारण बतलाई गई है। ऐतराख्य वेदान्त मे परमेशने विस्तार से शब्दराशि बतलाई है वह ही मातृका कीर्तित की गई है।"

शिव सू० वा० द्वितीय प्रकाश मे कहा गया है—

स्वभासा मातृका ज्ञेयाशक्ति प्रभो परा ।

तस्या' कलासमूहो यस्तच्चक्रमिति कीर्तितम ॥

अर्थात् "अपनी दीप्ति से वह मातृका जाननी चाहिये और प्रभु की पर क्रिया शक्ति है। उसकी कला का समूह जो है, उसे चक्र—ऐसा कहा गया है।"

अकचटतपयाद्यैः सप्तभिर्वर्णवर्गैर्विरचितमुखबाहापादमध्याहृत्का, सकलजगदधीशा शाश्वता विश्वयोनिर्वितरतु परिशुद्धि चेतस शारदा व ।।

—श्री प्रपञ्चसार तन्त्र, प्रथम पटल १

'अ क च ट त प य आदि वाले सात वर्गों से विरचित मुख बाहु वाली, पाद मध्याह्याहृत्का, सम्पूर्ण जगत् की अधीश्वरी, शाश्वत विश्व को उत्पन्न करने वाली शारदा आपके चित्त की शुद्धि को करे।"

अ वर्ग से भैरव की पूजा होती है और क्ष वर्ग से भैरवी की पूजा होती है, भैरवी उमा का ही रूप है। तन्त्र में अ से लेकर 'श' तक जो ८ वर्ग माने जाते हैं, उनमें उमा को आठवीं देवी माना जाता है। तन्त्र की मान्यता है कि चूंकि वह शिव का अर्द्ध शरीर मानी जाती है, अतः वे स्वयं ही अपने सात रूप कर लेती हैं, जो सप्त मातृकाओं के नाम से प्रसिद्ध है।

स्वरूप—

स्वच्छन्द तन्त्र (१० पटल) में सप्त मातृकाओं के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है—

मातरः सप्तरुपिण्यो नानालङ्कार भूषिताः ।।
परिवार्य महात्मानं समन्तात् पर्यवस्थिताः ।।
ब्राह्मी कमल पत्राभा दिव्याभरणभूषिता ।।
आग्नेय्यां दिशिदेवेशि स्थिता वै श्रीरिवापरा ।
शङ्खगोक्षारसङ्काश त्वैशान्यां तु वरानने ।।
माहेश्वरी महातेजास्तिष्ठते सुरपूजिता ।
कौमारी पद्मगर्भाभा हारकेयूरभूषिता ।।
दिश्युत्तरस्यां देवेशि कामिनापर्युपासिता ।
स्निग्धनीलोत्पलनिभा हारकुण्डल मण्डिता ।।
दक्षिणस्यां दिशि तु सा उपास्ते परमेश्वरम् ।

वैष्णवीति च विख्याता शिवेन परमात्मना ॥
नीलजीमूतसङ्काशा सर्वाभरणभूषिता ।
वारुण्या दिशि देवेशि वाराही पर्युपस्थिता ॥
शङ्ख कुन्देन्दुधवताहारकुण्डलमण्डिता ।
ऐन्द्रया दिशि च सा देवी इन्द्राणी पर्युपस्थिता ।
करालवदना दीप्ता सर्वाभरण भूषिता ।
नैऋत्या दिशि चामुण्डा उपास्ते परमेश्वरम् ॥

अर्थात "मातृरूपों वाली माताये जो कि अनेक अलङ्कारों से भूषित हैं। महान् आत्मा को परिवारित कर जो सभी ओर पर्यवस्थित है। कमलपत्र की आभा के समान आभा वाली, दिव्य आभरणों से शोभित ब्राह्मी, हे देवेशि! दूसरी श्री के समान आग्नेयी दिशा में स्थित है। शङ्ख, गोक्षीर के सदृश महातेज से युक्त माहेश्वरी हे वरानने! सुरों द्वारा पूजित ऐशानी दिशा में स्थित रहती है। पद्म के गर्भ की आभा वाली, हीरा के केयूरों से भूषित कौमारी देवेशि! कामिनियों के द्वारा उपासित उत्तर दिशा में स्थित है। निरन्तर नीलकमल के समान आभा वाली, हार और कुण्डलों से भूषित वह दक्षिण दिशा में परमेश्वर की उपासना किया करती है। परमात्मा शिव के द्वारा वह वैष्णवी विख्यात की गई है। नील मेघ के समान कान्ति वाली समस्त आभरणों से भूषित वाराही हे देवेशि! वारुणी दिशा में उपस्थित रहती है। शङ्ख, कुन्द और इन्दु के समान धवल, हार और कुण्डलों से भूषित वह इन्द्राणी पर्युपस्थिता देवी ऐन्द्री दिशा में स्थित है। कराल मुख वाली, दीप्त और समस्त अलङ्कारों से मण्डित चामुण्डा नैऋत्य दिशा में परमेश्वर की उपासना किया करती है।"

महालक्ष्मी को जब अलग माना जाता है, तो सात के बजाय अष्ठ मातृकाएँ स्वीकार की गई हैं--

ब्रह्माणी माहेशी कौमारी वैष्णवी च वाराही ।
इन्द्राणी चामुण्डा समहालक्ष्मीश्च मातरः प्रोक्ताः ॥

—प्रपञ्चसारतन्त्र, सप्तम पटल

अर्थात् "ब्रह्माणी, माहेशी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, इन्द्राणी, चामुण्डा—ये महालक्ष्मी के सहित मातृकाएँ कही गई हैं।"

इन अष्ट मातृकाओं को शिव सूत्र में पशु माता का नाम दिया गया है—

कवर्गादिषु माहेश्वर्याद्याः पशु मातरः ।

अर्थात् 'कवर्गादि में माहेश्वरी आदि पशु-माताएँ हैं।"

इनके अलग-अलग अधिष्ठातृ देवता इस प्रकार स्वीकार किए गए हैं—

अवर्गे तु महालक्ष्मी कवर्गे कमलोद्भवा ॥
चवर्गे तु महेशानी टवर्गे कुमारिका ॥
नारायणी तवर्गे तु वाराही तु पवर्गिका ॥
ऐन्द्री चैव यवर्गस्था चामुण्डा तु शवर्गिका ॥
एताः सप्तमहामातृ सप्तलोकव्यवस्थिता ॥

—स्वच्छन्द प्र०पटल

अर्थात् "अवर्ग में महालक्ष्मी है। कवर्ग में कमलोद्भवा है। चवर्ग में महेशानी है। पवर्ग में वाराही है और यवर्ग में ऐन्द्री है। श वर्ग में चामुण्डा है—ये सात महामातृकायें हैं, जो सात लोकों में व्यवस्थित हैं।'

योगिनी हृदय (२ पटल) में अष्ट मातृकाओं का स्वरूप इस प्रकार वर्णित किया गया है—

ब्रह्माणी पीतवर्णा च, चतुर्भिः शोभिता मुखैः ।
वरदाभयहस्ता च कुण्डिकाक्षलसत्करा ॥
माहेश्वरी श्वेतवर्णा त्रिनेत्रा शूलधारिणी ।
कपालमेण परशुं दधाना पाणिभिः प्रिये ॥

(एन्द्री त्ग्श्यामवर्णं च वज्रोदरनलसत्करा ।)
कौमारी पीतवर्णा च शक्तितोमर धारिणी ।।
वरदाभयहस्ता च ध्यातव्या परमेश्वरी,
वैष्णवी श्यामवर्णा च शङ्ख चक्र वराभयान् ।।
हस्तपद्मैस्तु बिभ्राणा भूषिता दिव्यभूषणैं ।
वाराही श्यामलच्छाया पात्रचक्रसमुज्ज्वला ।।
हलं च मुसलं खड्गं खेटकं दधती भुजै ।
एन्द्री श्यामवर्णा,च वज्रद्वयलसत्करा ।।
चामुण्डा कृष्णवर्णा च शूल डमरुकं तथा ।
खड्गं वेतालकं चैव दधाना दक्षिणैं करै,,
नागखेटकघण्टाश्च दधानान्यो कपालकम्,
महालक्ष्मीस्तु पीताभा पद्मदर्पणमेव च
मातुलुङ्गफल चवदधाना परमेश्वरी ।

अर्थात् "ब्रह्माणी पीत वर्ण वाली, चार मुखों से शोभित है। वरदा, अभय हस्त वाली, कुण्डिका अक्ष से शोभित करने वाली है। माहेश्वरी! श्वेत वर्ण वाली, तीन नेत्रों से युक्त त्रिशूल को धारण करने वाली है। हे प्रिये! कपाल, एणा, परशु को हाथों में धारण करने वाली है। वज्र और रत्न से भूषित करने वाली है। कौमारी पीत वर्ण वाली है, शक्ति और तोमर को धारण करने वाली है। वरदा और अभय हस्त वाली परमेश्वरी का सदा ध्यान करना चाहिए। वैष्णवी श्याम वर्ण वाली है। शङ्ख, चक्र, वर और अभय धारण करने वाली है। हाथों में पद्म धारण किए हुए है तथा दिव्य भूषणों से भूषित है। वाराही श्यामल कान्ति वाली है। पोत्र और चक्र से समुज्ज्वल है। हाथों में हल, मुसल, खड्ग, खेटक धारण किए हुए है। ऐन्द्री श्याम वर्ण वाली है। वज्रद्वयल से भूषित करने वाली है। चामुण्डा कृष्ण वर्ण वाली है, शूल और डमरु धारण किए हुए है। दक्षिण

हाथो मे खड्ग, वेतालक रखे हुए हैं। अन्य हाथो मे नाग, खेटक, घण्टा और कपाल धारण किये हुए है। महालक्ष्मी पीत वर्ण वाली है। पद्म, दर्पण, मातुलङ्ग फल को परमेश्वरी धारण करने वाली है।"

अष्ट वर्गों के मातृका वर्ण-क्रम इस प्रकार हैं—

(१) अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, लॄ ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः
(२) क, ख, ग, घ, ङ।
(३) च, छ, ज, झ, ञ।
(४) ट, ठ, ड, ढ, ण।
(५) त, थ, द, ध न।
(६) प, फ, ब, भ म।
(७) य, र, ल, व।
(८) श, ष, स, ह (ळ) क्ष।

इन मातृका वर्णों की विशेषताओ का वर्णन करते हुए शिवसूत्र (प्रथम प्रकाश) मे कहा गया है—

अकारादिक्षपर्यन्ता कलास्ता शब्दकारणम् ॥
मातर शक्तयोदेव्यो रश्मयश्च कला स्मृत ॥

अर्थात् "अकारादि से क्षकार पयन्त वे कलायें हैं, जो शब्द का कारण हैं, मातायें देवी शक्ति हैं और रश्मियाँ कही गई हैं।"

अ से क्ष तक सारे वर्ण मातृकास्वरूप को व्यक्त करते हैं, जिनका सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१ अ—मौलि २: आ—मुख ३ इ—दायी आंख ४ ई—बायी आंख ५ उ—दाँया कान ६ ऊ—बायाँ कान ७ ऋ—दायी नासिका ८ ॠ—बायी नासिका ९ लृ—दाँया कपोल १० लॄ—बाँया कपोल ११ ए—ऊपर वाला ओष्ठ १२ ऐ—नीचे वाला ओष्ठ १३ ओ—ऊपर वाली दन्त-पक्ति १४ औ—नीचे वाली दन्त-पक्ति १५ अं—तालु १६ अः—जिह्वा १७ क—दाँया बाहुमूल १८ ख—दाया बाहु कर्पूर

१९ ग—दाया बाहु-मणिबन्ध २० घ—दाया बाह्व गुलि मूल २१ ङ—दाया बाह्व गुल्यग्र २२ च—बाया बाहुमूल २३ छ—बाया बाहु कर्पूर २४ ज—बाया बाहु मणिबन्ध २५ झ—बाया बाह्वगुलि मूल २६ ञा—बाया बाह्वगुल्यग्र २७ ट—दायी जघा २८ ठ—दायी जानू २९ ड—दायागुल्फ ३० ढ—दायागुलिमूल ३१ ण—दाया पादागुल्यग्र ३२ त—बायी जघा ३३ थ—बाया जानू ३४ द—बायाँ गुल्फ ३५ ध—पादागुलिमूल ३६ न—बाया पादांगुल्यग्र ३७ प—दायी कुक्षि ३८ फ—बायी कुक्षि ३९ ब—पृष्ठ ४० भ—नाभि ४१ म—जठर ४२ य—हृदय ४३ र—दाया कन्धा ४४ ल—ककुद ४५ व—बायाँ कन्धा ३६ श—हृदयादि दाया कर ४७ ष—हृदयादि बाया कर ४८ स—हृदयादि दायाँ पैर ४९ ह—हृदयादि बाया पैर ५० ळ—नाभिआदि हृदयान्त ५१ क्ष—हृदयादि भ्रूमध्य ।

शास्त्रो मे मातृकाओ का यही रूप वर्णित किया गया है ।

० ० ०

मन्त्रों की वैज्ञानिक रूपरेखा

परिभाषा—

दस से बीस वर्णों के समूह को मन्त्र कहा जाता है। इष्टदेव का अनुग्रह विशेष ही मन्त्र कहलाता है। देवता के सूक्ष्म शरीर को भी मन्त्र कहा जाता है। दैवी राज्य से सम्बन्धयुक्त शब्द को मन्त्र कहा जाता है। मन्त्र शक्ति से देव-जगत को प्रभावित करके तत्तत् देवता को वश मे किया जाता है। आसुरी प्रवृत्तियो की शक्तियो—भूत, पिशाच, डाकिनी, शाकिनी, प्रेत, दैत्य आदि को भी वश मे करके अपनी इच्छा के अनुसार उनसे काम लिया जा सकता है।

'गारलैण्ड आफ लेटर्स' मे सर जान वुडरफ के अनुसार शिव, शक्ति और आत्मा के एक्य रूप को मन्त्र कहा जाता है।

शिवसूत्र विमर्शिनी मे 'चित्त मन्त्र' कहकर चित्त को ही मन्त्र कहा गया है फिर चित्त की व्याख्या करते हुए कहा गया है—

चेत्यते विभृश्यते पर तत्वमनेन इति चित्तम्। पूर्णास्फुरत्ता सत्व-प्रसाद प्रणवादिविमर्शरूप स वेदनम्, तदेव मन्त्रयते गुप्तम् अन्तर भेदेन विमृश्यते परमेश्वररूप अनेन इति कृत्वा मन्त्र। अतएव च परस्फुरतात्मक मननधर्मात्मता भेदमयससार प्रशमनात्मकत्राणधर्मता च अस्य निरुच्यते। अथ च मन्त्रदेवता विमर्शरित्वेनप्राप्ततत्सामरस्य आराधकचित्तमेव मन्त्र, न तु विचित्र वर्णसङ्घटनामात्रकम्।

अर्थात् "चेतित अर्थात् विमृषित जिसके द्वारा पर-तत्त्व होता

है । अत इसको चित्त कहा जाता है । पूर्ण स्फुरत्ता शब्दों के अहिन प्रणव आदि का विमर्श रूप वाला संवेदन है । वही गुप्त रूप से मन्त्रित कया जाता है अर्थात् अन्तरभेद का द्वारा विभूषित होता है और परमेश्वर के रूप जिसके द्वारा विचारा जाता है, वही मन्त्र है । इसलिए पर-स्फुरण स्वरूप मनन की धर्मात्मता और भेद से पूर्ण संसार के प्रशमन रूप त्राण के धर्म का होना कहा जाता है । इसके उपरान्त मन्त्र-देवता के विमर्श होने से प्राप्त हुए उस साधक का आराधक चित्त ही मन्त्र है, न कि विचित्र वर्णों के संगठन स्वरूप मात्र होता है।"

मन्त्र का अर्थ आमन्त्रण भी दिया है। आमन्त्रण का अभिप्राय धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष से लिया जाता है। सामाजिक जीवन की सफलता के लिए अर्थ और काम आवश्यक है। इनके बिना भौतिक जीवन नीरस हो जाता है, परन्तु यह दोनों शक्तियाँ धर्म पर आधारित हो, तभी यह लाभदायक सिद्ध होते हैं। धर्म कहते हैं कर्तव्य को। कर्तव्य की भावना से अर्थ और काम मोक्ष पथ की ओर अग्रसर करते हैं। जो शक्ति इस कार्य को सम्पन्न करने की सामर्थ्य रखती है, उसे मन्त्र कहते है।

तन्त्र में शक्ति को ही मन्त्र कहा गया है। इसलिए वह पञ्च-शक्तिमय कहा जाता है—

मननात्सर्व भावानां त्राणात्संसार सागरात् ।
मन्त्ररूपा हि तच्छक्तिर्मननत्राण रूपिणी ॥

अर्थात् 'सारे भावों के मनन और सारे जगत् के त्राण करने के कारण उस मनन और त्राण रूपी शक्ति को मन्त्ररूपा कहा जाता है। वह मूल मे तो एक ही परन्तु उपाधिवश विभिन्न प्रकार की हो जाती है।"

परात्रिंशिका में भी कहा है—

मननत्राणधर्माणि सर्वेषामेव वाच्यवाचकादिरूपवर्ग भट्टारकात्मना मन्त्राणाम् ।

होने पर त्राण है और सङ्कोच भी विचार्यमाण चित् की एकता से प्रशमान होने के कारण चिन्मय ही होता है अन्यथा तो कुछ भी नहीं है—यह श्रीपदत्रभिज्ञा हृदय भी मर्यादा मे उसमे क्रोध का भी वैश्वात्म प्रथा मे अनुप्रविष्टता के अनुन्धान मे उत्पादन के द्वारा अपने२ भाव-भग-प्रसङ्ग रूप चकितता' के व्यपोहन लक्षण वाला रक्षण है और तन्मयहेतु द्वय से वेदनके योग्य के विक्षोभ, सवग्रास, विशृङ्खल उल्लास के लिए अनुभूति है। अपने हृदय के द्वारा एक मवेद्या विमर्श शक्ति ही मन्त्र है।"

मनन और त्राण की तान्त्रिक परिभाषा करते हुए डा० शिव शङ्कर अवस्थी ने लिखा है—'परनाद अथवा परस्फुरणा का परामर्श ही मनन है, मनन परशक्ति के महान् वैभव की अनुभूति है—उसके पारमैश्वर्य का उपयोग है। अपूर्णता अथवा सङ्कोचमय भेदात्मक ससार के प्रशमन को रक्षा अथवा त्राण कहते हैं। इस प्रकार शक्ति के वैभव या विकास-दशा मे मननयुक्त तथा सकोच या सासारिक अवस्था मे त्राणमयी, विश्वरूप विकल्प को कवलित कर लेने वाली अनुभूति ही मन्त्र है।"

मन का त्राण करने वाले को तन्त्र-शास्त्रो मे मन्त्र कहा गया है। मन की चचल वृत्तियाँ स्वाभाविक हैं। चञ्चलतासे इसकी शक्तियाँ बिखरी रहती हैं। से जब उसकी वृत्तियाँ एकाग्र हो जाती हैं, तो उसकी सारी अपार सामर्थ्य एकत्रित हो जाती है और दैव जगत् की शक्ति की तरह वह कार्य करने लगता है। मन्त्र द्वारा यह कार्य सरलतापूर्वक हो जाता है। इससे छिन्न-भिन्न मानसिक वृत्तियाँ एक बिदु पर लाई जाती है। तब वह शक्ति का स्रोत बन जाती है। मन्त्र का अन्त करण से घनिष्ट सम्बन्ध रहता है। मन, बुद्धि, चित्त और अहकार को अन्त करण कहा जाता है। मन की शक्ति अन्त करण मे प्रस्फुटित होती है। अन्त -करण के चारो विभाव उसके नियन्त्रण मे चलते हैं। मन इन्द्रियो को

च जान जाता है। इसलिए मन्त्र द्वारा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त की जा सकती है। बुद्धि मन की गुरु है और उसे निरन्तर सदासद् विवेक का निर्देश देती रहती है। इसलिए मन व बुद्धि के अनुसार सात्विक वृत्तियों का आगमन होता है। अन्तःकरण के यह दो मुख्य भाग हैं। मन्त्रशक्ति से इनका सीधा सम्पर्क रहता है।

मन्त्र का अर्थ है—मनन, विज्ञान, विद्या और ज्ञान। मन्त्रशक्ति से मनन का स्वभाव मिलता है। मनन कहते हैं बार-बार विचारने को। जिस विचार को बार-बार मन में जमाने का प्रयत्न किया जाता है, वह मन का एक स्वभाव बन जाता है। अतः मन्त्रशक्ति से मन को अपने मनोनुकूल ढाला जा सकता है। मन्त्र वह विज्ञान और विद्या है, जिससे शक्ति का उद्भव होता है। यह वह ज्ञान और प्रकाश है जिससे अज्ञान और अन्धकार को दूर किया जा सकता है, यह ऐसी मनोभूमि तैयार करता है जिस पर ईश्वरीय सत्ता केन्द्रीभूत होने के लिए अपना आसन लगाने की स्वीकृति प्रदान करती है। ईश्वर सत्, चित् आनन्द है। मन्त्र शक्ति का सफल साधक ऐसी ही स्थिति का अनुभव करता है।

नियत ध्वनियों के समूह को मन्त्र कहते हैं। मन्त्र के अर्थ भी होते हैं। उनमें शिक्षायें और प्रेरणायें भी निहित होती हैं परन्तु विशेषता ध्वनियों की ही होती है। इसलिए मन्त्र में स्वर पर ही विशेष ध्यान दिया जाता है, उसी से शक्तियों का विकास होता है।

जहां मन्त्र का विधिपूर्वक प्रयोग किया जाता है, वहीं शक्तियों का निवास बना रहता है और नाना प्रकार की सिद्धियां प्राप्त होती हैं। योग दर्शन ४।१ में कहा है—"जल, औषधि, मन्त्र, तप और समाधि से सिद्धियां होती हैं।" योगशास्त्र का कथन है—'मन्त्रयोगी मन्त्र-सिद्धि द्वारा, हठयोगी तप-सिद्धि द्वारा और लययोगी संयम-सिद्धि द्वारा ऐसी विभूतियों को प्राप्त करते हैं। मन्त्र साधन द्वारा देवी-देवता अपने आप वश में हो जाते हैं और मन्त्र योग की सिद्धि प्राप्त योगी को संसार के समस्त वैभव सुलभ हो जाते हैं।

मन्त्रों द्वारा प्राण विजय—

मन्त्र से प्राणो पर विजय प्राप्त की जाती है। प्राण हमारी जीवनी शक्ति है। उसी के सहारे समस्त कार्यों का सचालन होता है। सारी गतिविधियाँ उसके निर्देश पर चलती हैं। उसके कारण ही इन्द्रियाँ सशक्त और नीरोग रहती हैं। प्राण के अभ्यास से ही नाडियाँ शुद्ध होती है और कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होती है। इसलिए शास्त्रकारो ने इसे ब्रह्म, प्रजापति और अमृत की सज्ञा दी है। मात्र प्राणो को ही सतऋषि कहा गया है। जिसने अपने महप्राण को जाग्रत कर लिया, वह जागा हुआ कहा जाता है। सोता वही है जिसका प्राण सोता है। जिसने अपने प्राणो मे जाग्रति उत्पन्न करली है, उसके चारो ओर प्रकाश-ही-प्रकाश रहता है, उसका ज्ञान की रश्मियो से निरन्तर अभिसिचन होता रहता है। जीवन का नव-निर्माण करने वाली इस महाशक्ति पर मन्त्रशक्ति का राज्य स्थापित होता है। प्राणशक्ति पर विजय प्राप्त कर साधक शक्तियो का पुञ्ज बन जाता है, उसके लिए साधारण कार्य दूसरो को असाधारण और चमत्कार दृष्टिगोचर होते हैं। वास्तव मे यह मन्त्रशक्ति द्वारा प्राणो पर अधिकार का ही परिणाम है।

विभिन्न शक्तियो का विकास—

प्राचीनकाल मे मन्त्रशक्ति के विशेषज्ञ होते थे। अनेको प्रकार से इस शक्ति को प्रयुक्त किया जाता था। आसुरी शक्तियो का नाश, चरित्र विकास, मनोबल की वृद्धि, बुद्धि-प्रखरता और आत्मिक उत्थान तो इसके सहज परिणाम थे ही। अनेको प्रकार के भौतिक लाभ भी इन से प्राप्त किये जाते थे। धनलाभ आरोग्य प्राप्ति, विपत्ति-निवारण, आयुवृद्धि, शत्रुओ से रक्षा और उत्तम वर्षा के लाभ भी मन्त्रो से उठाए जाते थे। युद्ध के अस्त्र-शस्त्रो मे भी यह एक प्रमुख शक्ति मानी जाती थी। मन्त्रों से अभिमन्त्रित दिव्यास्त्र, पाशुपतास्त्र, आग्नेयास्त्र आदि होते थे। मन्त्रशक्ति से शत्रुसेना में अग्नि की ज्वालायें भडक उठती थी और

मन्त्र से इस अग्नि को बुझाने के लिए वर्षा भी कराई जाती थी। मन्त्र से शत्रु सेना को ज्वर आदि से पीड़ित किया जाता था और सर्प-ही सर्प छोड़ दिये जाते थे। मन्त्रों से ऐसे भयंकर अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग होता था जिससे प्रलय तक घटने की सम्भावना हो जाती थी। इनकी तुलना आधुनिक एटम व हाइड्रोजन बमों से की जा सकती है।

इतिहास की साक्षी—

रामायण और महाभारत में इसकी पुष्टि में अनेकों उदाहरण मिलते हैं। जब रावण को अपनी पराजय स्पष्ट दिखाई देती है, तो वह अपने पुत्र मेघनाद को एक तन्त्र यज्ञ करने का आदेश देते हैं। मेघनाद निकुम्भला नामक स्थान पर यज्ञशाला बनाकर उसके चारों ओर अपने अस्त्रों को बिछाकर अभिमन्त्रित करने की विधि-व्यवस्था बनाता है, परन्तु उसकी इस योजना को असफल कर दिया जाता है। कहा जाता है कि यदि मेघनाद इसे पूर्ण कर लेता, तो वह अजय हो जाता और आज रामायण का इतिहास कुछ और ही होता।

राजा जन्मेजय के सर्प-यज्ञ में मन्त्रशक्ति द्वारा सारी पृथ्वी के सर्प हवन-कुण्ड में आ-आकर भस्म होते जा रहे थे। राजा पृथु ने १०१ अश्वमेध यज्ञों का सकल्प किया था, जिसमें से १०० पूर्ण हो चुके थे। इन्द्र को अपना आसन छिन जाने का भय उत्पन्न हुआ। वह ब्राह्मण के वेष में आकर यज्ञ में से घोड़े को चुराकर ले गया। दो बार तो घोड़े को वापिस लाया गया परन्तु जब बाद में इसकी पुनरावृत्ति होने लगी, तो राजा पृथु क्षुब्ध हो उठे और अपने धनुष को उठाया इन्द्र को मारने के लिए, इस पर ऋषियों ने उसे मना किया और कहा कि "यज्ञों में प्रयुक्त होने वाले मन्त्रों द्वारा तुममें इतनी शक्ति उत्पन्न हो गई है कि इससे केवल इन्द्र ही नहीं, सारी इन्द्रपुरी भस्म हो जायगी और संसार में प्रलय आ जायगी।"

राजा बलि ने १०१ अश्वमेध यज्ञों का आयोजन किया था और

मन्त्रशक्ति के प्रभाव से शक्ति के रूप में उन्हें दिव्य अस्त्र-शस्त्र प्राप्त हुए थे, जिनकी सहायता से उन्होंने इन्द्र को पराजित करके इन्द्रासन पर अधिकार प्राप्त किया था। वास्तव में मन्त्र एक शक्ति है। इसका प्रयोग जिस क्षेत्र में भी किया जाए, उसमें ही सफलता प्राप्त होती है।

एक विदुषी द्वारा मन्त्रशक्ति के चमत्कार का आँखों देखा वर्णन—

मन्त्रशक्ति का उद्भव और विकास भारत में ही हुआ और हिन्दू संस्कृति को ही इसका श्रेय प्राप्त है। इसके बाद अनेक सम्प्रदायों ने इसका अनुकरण किया और अपने ढङ्ग और आस्था के मन्त्र बनाकर उनका प्रयोग करने लगे। ईसाई और मुसलिम जगत् में भी यह विद्या प्रचलित है, बौद्ध और जैन मत-मतान्तर वाले भी इसका लाभ उठाते हैं। विश्व के हर कोने में इस विद्या की छाप पड़ी परन्तु प्रमुखता इसके जन्मस्थान भारत की ही रही और रहेगी। तिब्बत में अनेकों भारतीय गये थे। उन्होंने वहाँ संस्कृत और भारतीय संस्कृति का प्रचार किया था। तिब्बत की भाषा भी संस्कृत पर आधारित है। मन्त्रविद्या वहाँ खूब फली-फूली। वहाँ आज भी अनेकों मन्त्र सिद्ध योगी मिलते हैं। लामाओं का मन्त्र शक्ति द्वारा ओलों को रोकना और वर्षा को बन्द कर देना प्रसिद्ध है। अनेकों विदेशी लेखकों ने आँखों देखे समाचार लिखे हैं। अंग्रेजी पत्रिकाओं में इन्हें प्रकाशित भी किया गया है। २० जनवरी १९४१ के अंग्रेजी ट्रिब्यून में छपे एक लेख के अनुसार 'अलाइस इलिजबेथ' ने लिखा है कि महाराजा ने उन्हें लामा-नृत्य देखने का निमन्त्रण दिया था। परन्तु निश्चित समय पर वर्षा हो रही थी और हम लोग वाटरप्रूफ और छाताओं सहित पहुँचे। हमें सन्देह था कि लामाओं के सुन्दर वस्त्र वर्षा में भीग जायेंगे और नृत्य की शोभा जाती रहेगी परन्तु हुआ इसके विपरीत ही। महाराजा से जब हमने अपना सन्देह प्रकट किया तो उनका सहज उत्तर था—"मेरे लामा वर्षा को मन्त्र

द्वारा बंद करना जानते हैं, और हुआ भी वैसा ही। नृत्यस्थल पर पहुंचते-पहुंचते वर्षा बन्द हो चुकी थी।"

अलाइस इलिजवेथ के 'वाइज आफ मिस्टिक इण्डिया' में लिखा है कि लामा लोग अपने हाथ में एक तुम्बा लेते हैं, जिसमें स्वर्णादि विभिन्न धातुओं के टुकड़े और पीली सरसों के दाने होते हैं। मन्त्रों के उच्चारण से लामा ओलों के बड़े टुकड़ों को तोड़ देते हैं छार-छार कर देते हैं और खेती की रक्षा करते हैं। जब बादल की गरज हो रही हो और वर्षा की सम्भावना हो, तो वह अपनी धर्म पुस्तक में से एक संस्कृत के मन्त्र का उच्चारण करता है। इसका अधिकार उसे लम्बी साधना के पश्चात् ही प्राप्त होता है। मन्त्र पढ़ने से वह बादल की गरज को बन्द कर देता है। जब ओले गिरने आरम्भ हो जांय, तो उस दिशा में पीली सरसों के दाने छिड़ककर मन्त्र पढ़ता है और ओला-वृष्टि बन्द हो जाती है।

यह वर्णन किसी आस्थावान भारतीय का नहीं, वरन् तर्कशील विदेशी का है, जिसके मन में मन्त्र के प्रति अगाध श्रद्धा जाग उठी।

मन्त्रशक्ति का वैज्ञानिक रहस्य—

मन्त्रों से होने वाले लाभ व सिद्धियाँ, शक्तियां किसी देवी-देवता की कृपा से अकस्मात ही प्राप्त नहीं हो जाती वरन् उनके द्वारा जो वैज्ञानिक प्रक्रिया अपने आप स्वयं होती है, उससे लाभ होता है। मन्त्रों का एक स्वतन्त्र विज्ञान है जिसका आधार ठोस वैज्ञानिक तथ्य है। साधारण रूप से इसे यूं समझा जा सकता है कि जड़ और चेतन दो प्रकार का संसार होता है। यह जगत् स्थूल और सूक्ष्म दो भागों में बँटा हुआ है। हमारे स्थूल नेत्रों से जो कुछ दिखाई देता है, वह स्थूल है। जो वस्तु स्थान चाहती है, जिसका वजन और नाप-तोल होती है, उसे विज्ञान की भाषा में स्थूल कहते हैं। जिसको हम स्थूल नेत्रों से देख नहीं सकते, जिसका नाप-तोल और वजन नहीं होता और जिसे स्थान

की अपेक्षा नहीं रहती, वह सूक्ष्म कहलाता है। शरीर स्थूल है और मन सूक्ष्म है। मन में हजारों-लाखों तरह के भिन्न भिन्न विचार भरे रहते हैं और असंख्य और भरे जाने की गुंजायश रहती है परन्तु स्थान का अभाव नहीं खटकता। स्थूल वस्तुओं की शक्तियां सीमित होती हैं सूक्ष्म की असीम। स्थूल की गति का कारण ही सूक्ष्म होता है अन्यथा वह तो जड़ है। शरीर में सूक्ष्म प्राण रहने के कारण उसमें नाना प्रकार की गतिविधियाँ होती रहती हैं। जब प्राण इससे अलग हो जाता है तब शरीर उसे अपने साथ रखने के सर्वथा अयोग्य हो जाता है तो वह अपने सर्वव्यापी प्राण-तत्व से मिल जाता है और शरीर सड़ने लगता है। स्थूल से सूक्ष्म शक्तिशाली होता है। जितनी कोई वस्तु स्थूल से सूक्ष्म बनती जाती है, उतनी ही वह शक्ति का विकास करती है। जल से अधिक जल की वाष्प में शक्ति होती है जिससे सैकड़ों मन के रेलगाड़ी के डिब्बे खींचे जाते हैं। अग्नि का सूक्ष्म रूप विद्युत है, जिससे बड़े-बड़े कारखाने और मिलें चलाई जाती हैं और अन्धकार को प्रकाश में परिवर्तित करने की सामर्थ्य प्राप्त होती है।

हमारे स्थूल शरीर में कुछ भी शक्ति नहीं है। सूक्ष्म शक्तियों की प्रक्रिया का इसमें प्रदर्शन-मात्र होता है। हमारे सूक्ष्म शरीर में अनेकों प्रकार की शक्तियाँ विद्यमान हैं। उनको जगाकर ही हम असाधारण कार्यों के सम्पादन की क्षमता वाले हो पाते हैं। यह प्रत्यक्ष नियम है, सूक्ष्मजगत् तक सूक्ष्म की ही पहुँच से सम्भव हो सकती है स्थूल वस्तुओं का वहाँ प्रवेश निषिद्ध है। मन्त्र में शब्द होते हैं, जो सूक्ष्म होते हैं। पाँच तत्वों में आकाश-तत्व सबसे सूक्ष्म और शक्तिशाली है। अतः इससे सम्बन्धित शब्द का प्रभाव सूक्ष्म शरीर स्थित शक्ति-केन्द्रों पर पड़ता है, वह जाग्रत होते हैं और साधक को नाना प्रकार की शक्तियों से विभूषित करते हैं। यदि किसी स्थूल शक्ति को इनके जागरूक का माध्यम बनाया जाय तो लक्ष्य में असफलता ही होती।

मन्त्र का प्रविर्भाव—

श्रीमानव पुण्डलीक पण्डित न म त्र के प्रविर्भाव पर प्रकाश डालते हुए कहा है—

"इस भूमि के ऋषियो का यह प्राचीन अनुभव है कि जब ब्रह्म अभिव्यक्त होता है, तो सर्वप्रथम नादरूप, नादब्रह्म रूप ग्रहण करता है और नादशक्ति मे ही बाद मे सृष्टि उत्पन्न होती है—'वागेव विश्वा भुवनानि यज्ञे, ऊ-वतम प्रकाश मे स्थित यही वह सनातन शब्द है जो वेद ऋचाओ मे नित्यवाक कहकर प्रशंसित है और मानव वाणी अपने सर्वोच्च रूप उसका चतुर्थ स्वरूप है। जब किसी ऋषि ने तपस्या काल मे आन्तरिक दिव्य दर्शन मे सत्य को अनुभूत किया, तो उन्होने इसकी मूल ध्वनि को देखा, जिसमे यह अपने को स्वय के लोक मे प्रकट करता है और उन्होने इसे ऐसी मानव-ध्वनि मे बोलने का प्रयत्न किया, जो उस मूल ध्वनि के अत्यन्त समीप हो। ऐसे अनुभूत विचार या सत्य के ठीक अपरिहार्य शब्द—शरीरात्मक—रूप के लिए ही मन्त्र शब्द का प्रयोग किया जाता है, इसलिए म त्रद्रष्टा अथवा ऋषि के द्वारा साक्षात्कृत सत्य का मूर्त प्रतीक या यथार्थ ध्वनिरूपी वाहन होता है। यह अपने द्वारा मूर्त सत्य की शक्ति और सक्रियता के द्वारा स्पन्दित होता है।"

शब्द-शक्ति के चमत्कार—

शब्द शक्ति की व्याख्या श्री कापालि शास्त्री ने बड़े ही सुदर शब्दो मे की है—"शब्द ध्वनि में एक शक्ति छिपी हुई है और वह वर्ण ध्वनियो के अनुसार भिन्नता रखती है। इन शब्द ध्वनियो का ठीक-ठीक प्रयोग हमें उनके द्वारा सकेतित गति और लक्ष्यो के योग्य बनाती है। तन्त्रिको का यह सिद्धात उनके इस प्रथम स्वयसिद्ध सिद्धान्त पर आधृत है कि शब्द या ध्वन्यात्मक सृष्टि पदार्थों की सृष्टि से पहले उत्पन्न होती है। शब्द पहले हैं और अर्थ (वाच्यार्थ या पदार्थ) बाद मे। 'अर्थ सृष्टे'

पूर्वम् शब्दसृष्टि —शब्द यहाँ वैदिक साहित्य के वाक् का स्थान ले लेता है। यह प्रथम शब्द नाद ही प्रथम सृष्टि आद्य स्पन्द है, जो विश्व के निर्माण को निष्पन्न करने को तथा पदार्थों को उत्पन्न करने के कार्य में अग्रसर होता है। यह प्राचीन वैदिक सृष्टि का सिद्धांत है कि वाक् गर्जना करने वाले वृषभ की वाणी, परम सत्य का देवाधिदेव की वाणी को तन्त्र की भाषा में परम और आद्य स्पन्दन, अनन्त ब्रह्म के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंश के स्पन्दनशील गति का रूप दे दिया गया है, जो कि समस्त विश्वों, इस विश्व और इसके पदार्थों को आयोजित, निर्मित और अभिव्यक्त करता है। यह वही शब्द ध्वनि, लय नाद है जो कि लघुतम वस्तुओं से लेकर महत्तम तक के निर्माण में कार्य-रत है तान्त्रिकों ने व्यक्त वाक् से ध्वनि-प्रतीकों की खोज की और उतना प्रकाशन किया है जो केवल भौतिक वस्तुओं को ही नहीं, बल्कि सूक्ष्मतर लोकों से सम्बन्ध रखने वाले पदार्थों को रूप प्रदान करने वाले छन्दों का प्रतिनिधित्व करती है।"

शास्त्र भी इसका समर्थन करता है—

शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः ।
छन्दोभ्य एव प्रथममेतद्विश्वं व्यवर्त्तत ।।

—वा० प० प्र० का०

अर्थात् "आम्नाय के ज्ञाता यह शब्द का परिणाम है—ऐसा जानते हैं। यह विश्व प्रथम छन्दों ही से वर्तमान हुआ था।'

याहमित्युदितवाक् परा च सा
यः प्रकाशलुलितात्म विग्रहः
यौ मिथः समुदिताविहोन्मुखौ ।
तौ पडध्वपितरौ-श्रेयः शिवौ

—चिद्गगन चन्द्रिका, प्रथम विमर्श

अर्थात् "जो अहम् यह उदित वाणी है और वह परा है। जो

प्रकाश से लुलित आत्मविग्रह वाला है। जो दोनो समुदित होते हुए यह उन्मुख हैं वे दोनो षड्ध्व रितर और श्रेय शिव हैं।"

अव्याहितकला यस्य कालशक्ति मुपाश्रिता
जन्मादयो विकारा षड भाव भेदस्य योनय ॥

अर्थात् "जिसकी अव्याहित कला को कालशक्ति उपाश्रित है। जन्मादि विकार भेद की योनि षड्भाव है।"

शास्त्रो ने शब्द को ब्रह्म की सज्ञा दी है और इसकी उपासना का निर्देश भी दिया है। शब्द अच्छा हो या बुरा, उसे ब्रह्म मानना ही इस उपासना का लक्ष्य है। इससे शब्द मात्र मे समबुद्धि उत्पन्न हो जाती है और वह निन्दा स्तुति मे अप्रभावित होता होता है। यह सम वृत्ति उसके अन्त करण को शुद्ध करती हुई आनन्द और शान्ति के मार्ग पर ले जाती है।

मन्त्र का आधार शब्द इसलिए माना गया है कि यह अन्य तत्वो की अपेक्षा शक्तिशाली है। शास्त्रो ने इसकी शक्ति और सामर्थ्य को देखकर इसे ब्रह्म ही कह डाला। वास्तव मे शब्द मे अपार सामर्थ्य है। जब शब्दों का उच्चारण होता है, तो उनसे कम्पन उत्पन्न होते हैं, वह कम्पन्न विश्व यात्रा की तैयारी करत हैं और ईथर-तत्व के माध्यम से परिभ्रमण करके कुछ ही क्षणो मे इस परिक्रमा को समाप्त कर लेते हैं। इस यात्रा मे अनुकूल कम्पनों से मिलन होता है। अनुकूलता मे एकता का सिद्धात प्राकृतिक है। इन कम्पनो का एक पुञ्ज-सा बन जाता है और अपने केन्द्र तक लौटते-लौटते वह अपनी शक्ति को काफी बढा लेते हैं। यह कार्य इतनी तीव्रगति से हो जाता है कि साधक को इसका अनुभव भी नही हो पाता कि शब्दो के उच्चारण मात्र से यह चमत्कार कैसे उत्पन्न हो रहे हैं।

लोक में भी शब्द को अनेको चमत्कारिक प्रत्यक्ष रूप मे हम देखते हैं। बीन बजाने से सर्प को मोहित किया जाता है। शब्दो के

प्रभाव से हाथी जैसे विशालकाय पशुओ को वश मे किया जा सकता है, सगीत से मृग तन्मय हो जाते हैं, गायो का दूध बढाया जाता है। मेघ-मल्हार मे वर्षा की जाती है, दीपक राग से बुझे हुए दीपक जलाए जाते हैं। थाला बजाकर सर्प, बिच्छू आदि के विष उतारे जाते हैं और भूतोन्माद व कण्ठमाला जैसे रोगो का शमन किया जाता है। सैनिको को पुल पर से पग मिलाकर चलने का निषेध रहता है क्योकि इसमे पुल के गिरने की सम्भावना होती है। आधुनिक विज्ञान ने भी सगीत के प्रभाव की अनेको प्रकार से परीक्षा की है।

सगीत का केलो पर प्रभाव का परीक्षण अन्नमलाई विद्यालय के वनस्पति अनुसधान विभाग के अध्यक्ष टी० सी० एन० सिंह की देखरेख मे किया गया। तजोर जिले के एक गांव मे किये गये परीक्षण मे यह तथ्य प्रकाश मे आया है कि सगीत का केले के वृक्ष पर अनुकूल प्रभाव पडता है। वह न केवल सगीत का रसास्वादन ही करता है, वरन् उससे खूब फलता-फूलता भी है।

केलो के एक बगीचे मे जहाँ ३॥ महीने नादस्वरम् नामक प्रसिद्ध दक्षिण भारतीय वाद्य प्रतिदिन आधा घण्टे तक बजाया जाता था—केले के पेड बढे, साथ-साथ उनकी पैदावार भी बढी। वहाँ से सौ मीटर दूर, उसी तरह की भूमि तथा वैसे ही हालात के अन्तर्गत उगे हुए केले के वृक्षो की पैदावार के मुकाबले मे दुगुनी पैदावार हुई।

पशुओ पर भी इसके अनुभव किए गए है। शैले इगलैंड की प्रसिद्ध सगीतज्ञ है। वह प्लाईमौथ के चिडिया घर मे जाकर झील के किनारे अपना साज बजाना आरम्भ कर देती है। उसकी आकर्षक ध्वनि से अनेको पशु किनारे पर आ जाते हैं और जब तक वह साज बजता रहता है, वह तन्मय होकर सुनते रहते हैं। सील मछली की सगीत-प्रियता जगत् प्रसिद्ध है। उसकी इस वृत्ति से लाभ उठाकर शिकारी अपनी नाव या जहाज मे वेला बजाते हैं, तो स्वर-लहरी की माधुरी से

मुग्ध होकर सील अपना मुख पानी से निकालकर स गीत सुनने मे इतनी तन्मय हो जाती है कि उसे अपने प्राणो की सुध-बुध तक नही रहती और शिकारी के जाल मे फँस जाती हैं।

पशु मनोविज्ञान के विशेषज्ञ डा० जाज फेर विन्सन की खोजो के परिणामस्वरूप यह पता चला है कि पियानो के बजते ही कमरे के सब चूहे अपनी सकोचशीलता तथा भय की भावना को दूर करके दिन मे भी पियानो के पास आ जाते हैं और बडे ध्यान से स गीत सुनते हैं। कुत्तो पर भी सगीत का प्रभाव देखा गया है। उल्लू और गरुड को सगीत विशेष रूप से आकर्षित करता है। चिडियो को भी स गीत बहुत प्रिय है। नार्वे के डा० हन्सन ने पता लगाया है कि शहद की मक्खी स गीत के स्वर का आनन्द उठाने मे सबसे तेज होती है। मच्छर तो मनुष्य की आवाज से भी प्रभावित होते हैं। अत सिद्ध है कि शब्द प्राणी मात्र को प्रभावित और आकर्षित करते हैं, क्योकि उनमे एक अद्भुत शक्ति होती है।

ध्वनि तरङ्गो में परीक्षण–

मन्त्र मे ध्वनियाँ होती है ध्वनियो के समूह को मन्त्र कहते हैं। वैज्ञानिको ने ध्वनि-तरगो पर परीक्षण किए हैं। उन्होने देखा कि चिकित्सा के क्षेत्र मे ऊँची फ्रीक्वेंसी वाली ध्वनि का प्रयोग माँस-पेशियो की पीडा के उपचार मे बहुत उपयोगी पाया गया है। एक ऐसे उपकरण की सहायता से, जिससे प्रति सैकिड लगभग १० लाख चक्रो की रफ्तार से ध्वनि तरगें नि सृत होती हैं डाक्टर मानव-शरीर के रुग्ण भाग मे ध्वनि धाराये भेजते हैं ताकि उसमे उससे ताप उत्पन्न हो। यह ताप शक्तिप्रद और आरोग्यकारी होता है। किन्तु ध्वनि शब्द का सबसे क्रातिकारी प्रयोग मानसिक रोगियो की चिकित्सा मे किया जाता है। 'यूटा कालेज आफ मेडीसन' के डा० पेटर लिबस्ट्राय ने गम्भीर रोग वाले १९२ मानसिक रोगियो के मस्तिष्को मे अतिस्वन ध्वनि

धारायें पहुँचाई। इन ६० विक्षिप्त और १३२ स्नायु रोगियों में से कोई भी काम नहीं कर पाता था और उन्हें असाध्य रोगी समझा जाता था। बिजली, मनोविज्ञान या औषधि की चिकित्सा-पद्धतियों में उन्हें लाभ नहीं हुआ था। किन्तु प्रतिस्वन चिकित्सा से ३१ विक्षिप्त और १०६ स्नायु रोगियों की स्थिति में इतना सुधार हुआ कि वे फिर रोजगार करने लायक हो गये।

न्यूयार्क में येशीवा विश्वविद्यालय में 'अल्बर्ट आइन्स्टाइन कालेज आफ मेडीसन' में अभी हाल में ध्वनि तरंगों का उपयोग लम्बाई-चौड़ाई और मोटाई वाले फोटो तैयार करने की अनूठी विधि में किया गया था। इसके द्वारा डाक्टर आँख की रसौली का पता लगाने में सफल हो गये, जबकि सामान्य उपायों से ऐसा नहीं हो सकता था। अमेरिका के डा० हचिसन ने विभिन्न प्रकार की संगीत ध्वनियों की सहायता से अनेकों असाध्य रोगों की सफल चिकित्सा की है।

पं० दीनानाथ शर्मा शास्त्री ने लिखा है—'अभी वैज्ञानिकों ने परीक्षणों द्वारा सिद्ध किया है कि तीव्र स्वरों के भोंपू जिनकी फ्रीक्वेंसी तीन हजार से लेकर चौबीस हजार साइकल प्रति सैकिंड हो, तो उसके द्वारा उत्पादित तरंगों के बीच काफी की एक बड़ी केतली रखने से वह काफी उबल जाती है और यदि उनकी गति और बढ़ा दी जाय तो छोटे सिक्के हवा में तैराये जा सकते हैं।'

स्वर-लहरों की अद्भुत प्रक्रिया—

इङ्गलैण्ड में 'स्टोन हेञ्ज' नाम का एक स्थान है, जहाँ के पत्थर एक-दूसरे के साथ इस तरह से मिले हुए हैं कि उनके पास मध्यम स्वर की ध्वनि से उनमें कम्पन उत्पन्न हो जाते हैं। यदि ध्वनि तरंगें लगातार बजती रहें, तो उनके गिरने की भी सम्भावना रहती है। इसलिए उनके निकट संगीत व गाने का निषेध है।

शब्द विज्ञान का अद्भुत प्रभाव एक जर्मन वैज्ञानिक ने सिद्ध

किया है। उसने ओंकार के उच्चारण से निकलने वाली ध्वनि तरंगों से उत्पन्न शक्ति का वर्णन करते हुए लिखा कि यदि 'ॐ' का उच्चारण विधिपूर्वक किया जाय तो उससे एक दीवार फट सकती है।

'वायस फिगज' पुस्तक की लेखिका मिस वट्स ह्यूज ने शब्द-विज्ञान के चमत्कार क्रियात्मक रूप से लन्दन के लार्ड लिटन शिल्प सदन में दिखाये थे। वह अपने बनाये संगीत यन्त्र 'इडोफोन' को विधिपूर्वक बजाती थी, जिससे अनेकों प्रकार के रूप बन जाते थे। एक बार उसने 'डेजी' नामक सुन्दर पुष्प की आकृति बनाई और उसकी व्याख्या भी की कि संगीत यन्त्र को किस विधि से बजाने में ऐसा हुआ। इसके बाद उसने 'पैनसी' नामक फूल, अनेकों समुद्री जीव, वृक्ष पत्थरों आदि की आकृतियाँ बनाई। इससे यह परिणाम निकला कि ध्वनियों से विविध आकृतियाँ बनती हैं। यह शब्दों के सूक्ष्म कम्पनों का ही परिणाम है।

फ्रांस की एक महिला वैज्ञानिक ने शब्द-विज्ञान पर परीक्षण किए थे। उसने सिद्ध किया था कि शब्द के साथ मन और हृदय का सम्बन्ध रहता है। मैडम 'फिनलाग' ने अपने लिए एक वीणा स्वयं तैयार की और नीचे की ओर तारों के साथ एक चाक का टुकड़ा बाँध दिया। चाक को एक बोर्ड पर लगा दिया गया। वीणा को बजाने से चाक हिलने लगा और बोर्ड पर कुछ अस्पष्ट रेखायें खिंच गईं। उसने अनुभव किया कि जिस तरह का गाना गाया जाता है और साज बजाया जाता है, उसी तरह की आकृतियाँ बोर्ड पर बन जाती हैं। एक बार उसने रोमन कैथोलिक मत के अनुयायी को अपना कई धार्मिक गीत गाने का निमन्त्रण दिया। उसके गाने से बोर्ड पर एक स्त्री की गोद में बालक का चित्र खिंच गया। स्त्री मरियम और बालक ईसा था। गीत में प्रभु ईसा की स्तुति की गई थी। उसे इस पर भी सन्तोष न हुआ। उसने वहाँ पढ़ रहे एक भारतीय विद्यार्थी को बुलाया और संस्कृत-मन्त्रों के उच्चारण की प्रार्थना की। विद्यार्थी ने 'काल भैरवाष्टक' के स्तोत्र का गान किया। इससे एक भयङ्कर मूर्ति और कुत्ते की रेखायें अङ्कित हो

गई । स्तोत्र मे व्यक्त भावना के अनुरूप ही आकृति बन गई । इससे वह इस निर्णय पर पहुँची कि शब्दो का भावो से गहन सम्बन्ध होता है और उन पर शब्दो का विशेष प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि मन्त्रो द्वारा हृदय और मस्तिष्क विशेष रूप से प्रभावित होते हैं और उनके जप और पाठ से मानसिक और आत्मिक शक्तियो का उद्भव होता है।

यौगिक ग्रन्थियो का जागरण—

मन्त्रो के निर्माण का भी एक स्वतन्त्र विज्ञान है। मन्त्र अर्थपूर्ण तो होते ही हैं और वह उत्तम शिक्षाओ के साथ ही वह मानवोपयोगी सिद्धान्तो से ओत-प्रोत भी रहते हैं, परन्तु उनसे भी महत्वपूर्ण उनमें भरी शक्तियाँ हैं, क्योकि वेदो के प्रत्येक मन्त्र का गठन कुछ ऐसे चमत्कारी ढङ्ग से किया गया है कि उनका सीधा प्रभाव हमारी सूक्ष्म ग्रथियो षट्चक्रो और शक्ति केन्द्रो पर पड़ता है जिससे सूक्ष्म जगत् के शक्ति केन्द्र जाग्रत होते हैं। मन्त्रो के विधिपूर्वक गठन से वह शब्द उनसे सम्बन्धित यौगिक ग्रथियो को गुदगुदाते हैं उनकी सोई हुई शक्तियो को जगाते हैं। उन ग्रथियो में स्फूर्ति आने से वह क्रियाशील हो जाती हैं। जिस प्रयोजन के लिए जो मन्त्र होते हैं, वह उसी प्रकार की ग्रथियो को जगाते हैं, उन्हीं पर वह शब्द आघात करते हैं। इन ग्रथियो की क्रियाशीलता से ही साधक को विभिन्न प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, जो दूसरो को चमत्कार दिखाई देती हैं। परन्तु वास्तव में वह शब्दो की वैज्ञानिक प्रक्रिया का परिणाम है। विदेशी विचारक 'आर्टी मे ब्लैकबर्न' ने इस तथ्य की पुष्टि करते हुए लिखा है कि 'संस्कृत भाषा के अक्षरो मे भाव और अर्थ दोनो होते हैं। इन अक्षरों के युक्ति-पूर्ण गठन से अनेक बार जादू का-सा प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।'

मन्त्र की सफलता उसके शुद्ध उच्चारण में है तभी उनमे गुथे शब्दो का प्रभाव विभिन्न शक्ति केन्द्रो पर पड़ना सम्भव होता है।

मन्त्र की सफलता में भावना का भी महत्वपूर्ण स्थान है। श्रद्धा और विश्वास इसके मेरुदण्ड हैं।

विज्ञान के इस युग में शब्द-विज्ञान पर अनेकों वैज्ञानिकों के सफल परीक्षणों के बाद भी यदि हम शब्द-विज्ञान पर आधारित मन्त्र-गठन की वैज्ञानिक प्रक्रियाओं पर अविश्वास करें, तो हमें वैज्ञानिक तथ्यों से अनभिज्ञ ही समझा जायगा। सूक्ष्म जगत् की सोई हुई सूक्ष्म शक्तियों को जगाकर भौतिक और आध्यात्मिक लाभ उठाने की विधियां की खोज निकालने का श्रेय हमारे त्रिकालदर्शी ऋषियों को ही है। इन विभिन्न प्रकार की विधियों में मन्त्र भी एक है जिससे अपने शक्तिकोषों को विकसित करके अणु से महान् बना जा सकता है और मानव-जीवनकी सभी उलझी गुत्थियों को सुलझाकर पृथ्वी पर ही अपना स्वर्ग बनाने की क्षमता प्राप्त की जा सकती है।

मंत्र-सिद्धि में सफलता के साधन—

मन्त्र-जप की अपार महिमा शास्त्रों में वर्णित है, परन्तु हर साधक को सिद्धि नहीं प्राप्त होती। अन वह मन्त्र के प्रभाव की ही आलोचना करने लगता है। मन्त्रसिद्धि के उपायों और असफलता के कारणों पर विचार करना आवश्यक है।

तन्त्र का विज्ञान है कि मन्त्रदाता गुरु को मन्त्र का चुनाव करते समय यह देख लेना चाहिए कि देवता और साधक में अनुकूलता और मैत्रीभाव है या नहीं ? यदि दोनों में शत्रुता है, तो सफलता असंदिग्ध रहेगी। सद्गुरु का कर्तव्य यह देखना है कि कौन देवता मन्त्र-दीक्षा चाहने वाले के कुल का है, कौन उसकी राशि में पड़ता है, कौन उसके गण का है, नक्षत्र का है, शत्रुभाव का है या मित्र भाव का, ऋणी है या धनी। इन तथ्यों पर विचार किये बिना यदि मन्त्र-साधना की जाती है, तो लाभ के बजाए हानि की भी सम्भावना हो सकती है। तन्त्र-विज्ञान के आचार्यों का मत है कि भूतों में भी शत्रु मित्र भाव होते हैं,

उसी तरह मन्त्र, वर्णों और उपासक के नामगत वर्णों में भी अनुकूलता और प्रतिकूलता होती है। अतः दीक्षा के पूर्व इसका निर्णय कर लेना आवश्यक होता है। शारदा तिलक (द्वितीय पटल) में इस विषय का विवेचन करते हुए कहा गया है—

> मन्त्रसाधकयोराद्यो वर्णः स्यात् पार्थिवो यदि ।
> तत्कुलं तस्य तत्प्रोक्तमेवमन्येषु लक्षयेत् ।।
> पार्थिवे वारुणं मित्रमाग्नेये मारुतं तथा ।
> ऐन्द्र वारुणयोः शत्रुर्मारुतः परिकीर्तितः ।।
> आग्नेये वारुणं शत्रुर्वारुणे तैजसं तथा ।
> सर्वेषामेव तत्वानां सामान्यं व्योमसम्भवम् ।।
> परस्परं विरुद्धानां वर्णानां यत्र सङ्गतिः ।
> स मन्त्रः साधकं हन्ति वा नास्य प्रसीदति ।।

अर्थात् "मन्त्र और साधक दोनों का आद्य वर्ण यदि पार्थिव हो, उसका वह कुल कहा गया है। इसी भाँति अन्यों में भी देख लेना चाहिए। पार्थिव में वारुण मित्र है। आग्नेय में मारुत है। ऐन्द्र और वारुण दोनों का मारुत शत्रु है। आग्नेय में वारुण शत्रु है और वारुण तैजस है। सभी तत्व व्योमसम्भव सामान्य है। परस्पर में विरुद्ध वर्णों की जहाँ पर संगति है, वह मन्त्र-साधक का हनन करता है अथवा इस पर प्रसन्न नहीं होता है।"

मन्त्र का देवता से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। शास्त्र इसका अनुमोदन करते हैं—

> देवस्य मन्त्र रूपस्य मन्त्र व्याप्तिम जानताम् ।
> कृतार्चनादिकं सर्वं व्यर्थं भवति शाम्भवि ।।

"हे शाम्भवि! देव मन्त्र-स्वरूप वाला ही होता है, अर्थात् मन्त्र ही देवता का सच्चा स्वरूप है। मन्त्र की व्याप्ति का ज्ञान न रखने वाले मनुष्यों के द्वारा की हुई अर्चना आदि सभी निष्फल होती है।"

देवाधीन जगत्सर्व मन्त्राधीनाश्च देवता ।
ते मन्त्रा ब्राह्मणाधीनास्तत्स्याद् विप्रोहि देवता ।।

—मत्स्यपुराण

"देवताओ के आधीन सब ससार है । वे देवता मन्त्रो के आधीन हैं । वे मन्त्र ब्राह्मण द्वारा प्रयुक्त होते हैं,इसलिए ब्राह्मण भी देवता है ।"

यथा घटश्च कलश कुम्भश्चैकार्थ वाचका ।
तथा मत्रो देवता च गुरुश्चैकार्थ वाचका ।।

—सुन्दरी तापिनी

"जिस प्रकार घट, कलश, कुम्भ तीनो शब्द एक ही अर्थ को प्रकट करते हैं, उसी प्रकार मन्त्र, देवता और गुरु एक ही अर्थ के वाचक हैं ।"

तन्त्र का मत है कि हमारी कुण्डलिनी शक्ति सुप्तावस्था मे रहती है । जब तक उसको जाग्रत न कर लिया जाय, तब तक मन्त्रसिद्धि प्राप्त करना असम्भव है । पहले कुण्डलिनी जागरण कर लेना आवश्यक है । कुण्डलिनी जागरण के अनेको विधान तन्त्रो मे लिखे हैं । गुरु द्वारा ही इसकी साधना करनी चाहिए ।

मन्त्रसिद्धि के लिए मन्त्र की शुद्धि और मन्त्र सस्कार का विधान भी आवश्यक माना गया है । इसके बिना भी सफलता अशक्य मानी जाती है । गौतमीय तन्त्र १५।७४-७५ का विचार है कि मन्त्र तभी सिद्ध होते हैं, जब उनका मानसिक जप दिव्यभाव के साथ सुषुम्णा के मार्ग मे किया जाता है । इसके विपरीत यदि उपासक का मन पशु-भाव मे भटकता रहकर, बिना एकाग्रता ही बाह्य जप किया जाता है, तो इस स्थिति मे जप का विचार-शृङ्खला के साथ कोई सम्बन्ध नही रहता । परिणामस्वरूप अभीष्ट सिद्धि नही होती और साधना व्यर्थ हो जाती है ।

तप ही सिद्धि का द्वार खोलता है । अनवरत परिश्रम ही हर

क्षेत्र मे सफलता की कुन्जी है। मन्त्रसिद्धि मे तो तप एक विशिष्ट सूत्र है। इसी माध्यम से वह सफल होना है। परन्तु कुछ लोग मन्त्र को जादू का खेल समझते हैं। वह जादूगर की तरह हथेला पर सरसो जमाना चाहते हैं। मन्त्रसिद्धि के लिए समय, तप, एकाग्रता और सारे विधि-विधान के पालन की अपेक्षा है। इसके साथ साथ गुरु-कृपा और मन्त्र पर अटूट श्रद्धा-विश्वास का होना भी एक आवश्यक उपाय है। इसके बिना साधना लूली-लँगडी मानी जाएगी। मन्त्र-साधना मे गुरु का व्यक्तित्व विशेष महत्व का है, क्योकि वे ही मन्त्र को पुनर्जीवित और जागरित करते हैं, जिससे साधना सरल हो जाती है।

शास्त्रकार मन्त्र के अर्थ, चिनन और विधि-विधान की पूरी जानकारी रखने पर बल देते हैं। यथा—

एक शब्द सम्यग्ज्ञात सुष्टु प्रयुक्त स्वर्गे लोके च काम धुग भवति। —श्रुति

"शब्द के अर्थ का सम्यक् ज्ञान होने और उसका उचित रीति से प्रयोग करने से स्वगलोक और समस्त मनोरथो की पूर्ति होती है।"

अर्थं ज्ञान विना कर्म न श्रेय साधन यत।
अर्थ ज्ञान साधनीय द्विजे श्रेयोर्थिभिस्तत्॥
मत्रार्थ सो जपन् द्रयन् स्तथैवाद्यापयन द्विज.।
अधीत्य यत्किञ्चिदपि मत्रार्थाधिगयेरत।
ब्रह्मलोक मयाज्ञोप्ति धर्मानुष्ठान्ता द्विज।
ज्ञात्वा ज्ञात्वा च कर्माणि जनो यो यो नुतिष्ठति।
विदुष कर्म सिद्धि स्यात्रपाना विदुषी भवेत्।
ज्ञान कर्म च सयुक्त भूत्यर्थ कथित यथा।
अधीत श्रुत सयुक्त तत्र श्रेष्ठ न केवलम्।

"मन्त्र का अर्थ और विधान जानकर ही उपासना करने से

अभीष्ट फल की प्राप्ति होती है। मन्त्र के अर्थ का अध्ययन भी करना चाहिए और उसके रहस्य को भी समझना चाहिए तभी पूर्ण मन्त्र होता है। जो कर्म करता है, उसे अधिकाधिक जानना चाहिए। पूरी जानकारी पर आधारित कर्म में ही सफलता मिलती है। ज्ञान और कर्म को मिला कर अध्ययन और श्रवण के आधार पर जो कर्म किया जाता है, वही श्रेष्ठ है। केवल क्रिया मात्र करते रहना निरर्थक है।"

मन्त्र साधना में योगाभ्यास आवश्यक अङ्ग माना गया है। यम, नियम, आसन प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि का अभ्यास मन्त्रसिद्धि के लिए आवश्यक माना गया है, क्योंकि यह दोनों साधनाएँ एक दूसरे की सहायक हैं—

मन्त्राभ्यासेन योगेन ज्ञानं ज्ञानाय कल्पते ।
न योगेन बिना मन्त्रो न मन्त्रेण बिना हि सः ॥
द्वयोरभ्यास संयोगो ब्रह्म संसिद्धि कारणम् ।

"मन्त्राभ्यास और योग से ज्ञान द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होती है। न तो योग के बिना मन्त्र सफल हो सकता है और न मन्त्र के बिना योग का उपयोग माना जा सकता है। इन दोनों के एक साथ अभ्यास से ही ब्रह्म-प्राप्ति होती है।"

सफलता का एक आवश्यक साधन है—मन्त्र के प्रति पूर्ण श्रद्धा, विश्वास और आस्था। अर्द्ध श्रद्धा का लाभ भी उसी अनुपात से होता है। पूर्ण सिद्धि के लिए तो मन्त्र के प्रति अपने को समर्पित कर देना चाहिए, उसे अपना सर्वस्व समझना चाहिए और शरणागत होकर निरन्तर साधना में लीन रहना चाहिए। शास्त्र का भी संकेत है—

अशुचिर्वा शुचिर्वापि गच्छंस्तिष्ठन् स्वपन्नपि ।
मन्त्रैकशरणो विद्वान मनसैव सदाभ्यसेत् ॥
न दोषो मानसे जाप्ये सर्वदेशेऽपि सर्वदा ।

—शास्त्र

"मन्त्र के रहस्य को जानने वाला जो साधक भगवान् में को ही प्राप्त हो गया है, वह चाहे पवित्र हो या अपवित्र सब समय चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते मन्त्र का अभ्यास कर सकता है। मानस जप में किसी भी समय और स्थान को अनुपयुक्त नहीं समझा जाना चाहिए।"

साधना में जब तक मन बहिर्मुखी रहता है, तब तक सफलता मिलनी अशक्य है। उसके अन्तर्मुखी होने पर ही शक्तियों का विकास होने लगता है—

बहिर्मुखस्य मन्त्रस्य वृत्तयो या प्रकीर्तिता।
ता एवान्तर्मुखस्यास्य शक्तिय परिकीर्तिता।

"मन्त्र अर्थात् विचार के बहिर्मुख होने पर जो वृत्तियाँ कही जाती हैं, वे ही उसके अन्तर्मुख होने पर शक्तियाँ कहलाती है।"

मन्त्र-साधक को साधना में सफलता प्राप्त हो रही है नहीं, इसका निर्णय करने के लिए कुछ लक्षण ऋषियों ने बताये हैं यदि वह साधक परिलक्षित होने लगे तो समझना चाहिए कि साधना सफल हो रही है। 'मन्त्र महोदधि' में कहा है—

गीतस्य ताल शब्दस्य गन्धर्वाणां समीक्षणम्।
स्वतेजस सूर्य साम्येक्षण निद्रा क्षुधा जप॥
रम्यतारोग्य गाम्भीर्यमभाव क्रोधलोभयो।
एवमादीनि चिह्नानियदापश्यति मन्त्रवित्॥

"गीत तथा ताल के शब्दों का कानों में आना गन्धर्वों का दिखना, अपना तेज सूर्य के तेज के समान भान होना, निद्रा, क्षुधा और जप, रम्यता, आरोग्य, गाम्भीर्य का होना, क्रोध तथा लोभ का अभाव होना— ये सब लक्षण हैं, जिनको मन्त्रोपासक देखता है।"

कुछ तन्त्रोक्त मन्त्र नीचे दिए जाते हैं जिनकी साधना से विभिन्न

प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, परन्तु उसके पूरे विधि-विधान का पालन करना आवश्यक है—

१ ॐ—इसे ब्रह्मविद्या, तारा मन्त्र, तारा, तारिणी कहा जाता है। सासारिक बन्धनो को काटने और ईश्वर-प्राप्ति के लिए इसकी साधना की जाती है। इसका अनुष्ठान ३ लाख जप है।

—तन्त्र तत्व प्रकाश

२ ॐ त्र्यम्बक यजामहे सुगन्धि पुष्टि वर्धनम्। उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्। —इसे रुद्र मन्त्र कहते हैं। मृत्यु के पाश पाश से बचने के लिए इसका जप किया जाता है।

—उड्डीश तन्त्र १४)

३ ॐ शान्ते प्रशान्ते सर्वक्रोधोपशमनि स्वाहा। —इसका नाम क्रोध शाति है। २१ बार मन्त्र का उच्चारण करके जल को अभिमन्त्रित करना चाहिए। फिर इच्छित व्यक्ति इससे मुख धो ले।

४ आद्यायै विद्महे परमेश्वर्यै धीमहि तन्न काली प्रचोदयात्। --यह गायत्री मन्त्र है। इससे महापातकों का निवारण होता है।

--महानिर्वाण तन्त्र ५।६३

५ पशुपाशाय विद्महे विश्व कर्मणे धीमहि। तन्नो जीव प्रचोदयात्। इससे यह पशुपाश विमोचिनी गायत्री है। ६ से ८ बन्धनो का क्षय होता है। --महानिर्वाण तन्त्र ६।११०

६ ॐ परमेश्वराय विद्महे परतत्वाय धीमहि। तन्नो ब्रह्म प्रचोदयात्। —यह गायत्री मन्त्र है। अन्त करण की पवित्रता के लिए इसकी साधना की जाती है। —महानिर्वाण तन्त्र ३।१०७

७ ॐ स सा सि सी सु सू से सै सो सौ सं स व वा वि वी वु वू वें वै वो वौ वं व ह स अमृतवर्चसे स्वाहा। यह रोगहर मन्त्र है। शारीरिक रोगो को दूर करने और दुष्कर्मों के परिणामो से बचने के लिए यह प्रयोग में आता है। जल को १०८ बार मन्त्रोच्चारण से अभिमन्त्रित करके प्रात काल पीना चाहिए। —उड्डीश तन्त्र १६५

८ क्रो क्रो क्रो, हूँ हूँ, ह्री ह्री, दक्षिणे क लिके, ॐ क्री क्री क्री हूँ हूँ ह्री ह्री स्वाहा। यह सभी सरस्वती मन्त्र हैं और वाणी की सिद्धि के लिए प्रयुक्त होते हैं। —कर्पूर स्तव

९ ॐ सच्चिदेक ब्रह्म। यह ब्रह्म मत्र है और धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष चारो पुरुषार्थों की उपलब्धि मे सहायक सिद्ध होता है।

—महानिर्वाण तन्त्र ३।१२ १४

१० ॐ ह हा हि ही ह हू हे है हो हौ ह ह क्ष क्षा क्षि क्षी क्षु क्ष क्षे क्षै क्षो क्षौ क्ष क्ष ह स हम्। यह आपच्छान्ति मन्त्र है। विष निवारण क लिए भूत प्रेत और पिशाच के प्रभाव को दूर करने क लिए इसकी साधना की जाती है। —उड्डीश तत्र १६६-१६८

११ श्री ह्री क्री कृष्णाय नम स्वाहा। यह मत्रराज है और मोक्ष प्रदाता है। —गौतमीय तन्त्र २५।२

१२ ऐ सच्चिदेक ब्रह्म ह्री सच्चिदेक श्री सच्चिदक ब्रह्म। धन, लक्ष्मी, विद्या और ज्ञान की इससे प्राप्ति होती है।

—महानिर्वाण तन्त्र ३।३७

१३ ॐ नम सर्वलोकवशङ्कराय कुरु कुरु स्वाहा। यह लोक-वशीकरण मन्त्र है। उड्डीश तत्र १७४ के अनुसार पुष्य नक्षत्र मे पुनर्नवा की जड को उखाडना चाहिए और ७ बार इस मन्त्र से अभि-मन्त्रित करके भुजा मे बांध लेने से अभीष्ट सिद्धि होती है।

१४ तद्विष्णो परम पद सदा पश्यन्ति सूरय। द्विवीव चक्षुराततम्। ॐ तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवास समिन्धते विष्णोयत् परम पदम्। यह मुद्राशोधन मत्र है। महानिर्वाण तत्र ५।२११ के अनुसार इससे आनन्द की प्राप्ति होती है।

१५ इत पूर्वे प्राणबुद्धिदेहधर्माधिकारतो जाग्रत्स्वप्न सुषुप्त्य-वस्थासु मनसा वाचा कर्मणा हस्ताभ्या पद्भ्या मुदरेण शिश्ना यत्

कृत यत् स्मृत यदुक्त तत्सव ब्रह्मार्पण भवतु, मा मदीय सकलमाद्या काली पदाम्भोजेऽर्पयामि ओ तत्सत् ।

यह आत्म समपण मन्त्र है । इसमे उपासक अपनी आत्मा को पराशक्ति के समपण करता है ।

--महानिर्वाण तत्र

• • •

बीजाक्षरों की महान् शक्तियाँ

जिस तरह बीज मे वृक्ष, फल, फूल आदि सूक्ष्म रूप मे विद्यमान रहते हैं और समय पाकर वह व्यक्त रूप मे दृष्टिगोचर होने लगते है, उसी तरह बीजाक्षर म भी सूक्ष्म रूप मे शक्ति रहती है। उस शक्ति के विस्फोट अथवा विकास के लिए साधना रूपी जल और खाद की आवश्यकता रहती है। मन्त्रसिद्धि के मूल मे बीज मन्त्र का विस्फोट ही विशेष महत्व का है। जब मन्त्रो की शक्ति का बहुगुणा करना होता है या शीघ्र सिद्धि प्राप्त करने की इच्छा हो, तो बीज-मन्त्रो का सहयोग अपेक्षित रहता है। विशिष्ट साधनाओ में यह विशेषकर लाभदायक रहता है।

बाबा मोतीलाल के अनुसार "जिस आश्रय से व्यक्ति मे ऊर्ध्वगामिनी उन्नति-गति उत्पन्न होती है, इसका कारण अवश्य कोई 'शक्ति' होगी। उस शक्ति का कोई व्यक्त रूप अवश्य होगा, यही बीज है।"

मालिनी विजयोत्तर तन्त्र (तृतीय अधि०) मे बीज को परिभाषा इस प्रकार की गई है—

बीजयोन्यात्मकाद् भेदात्द्विधा बीज स्वरा मता. ॥

कादिभिश्च स्मृता योनिर्नवधावर्ग-भेदत. ॥

बोजमत्र शिव शक्तिर्योनिरित्यभिधीयते ॥

अर्थात् "बीजो की योनि का स्वरूप होने मे दो प्रकार के बीज होते हैं, जो कि स्वर माने गये हैं। क वर्ग आदि जो हैं, उसे योनि कहा

गया है। ये वर्ण भेद से नौ प्रकार प्रकार के होते हैं। यहाँ पर शिवबीज है तथा शक्ति योनि है, ऐसा कहा जाता है।"

नित्य-तन्त्र मे कहा है—

वर्णत्रयं समारभ्य नववर्णावधि बीजका ॥

"तीन वर्णों से लेकर नौ वर्णों तक बीजमन्त्र कहलाता है।"

एक अधिकारी तान्त्रिक विद्वान् ने बीजमन्त्र के विज्ञान पर प्रकाश डालते हुए सशक्त शब्दो मे कहा है—

"तन्त्रो ने नाडी-संस्थान के केन्द्रो या क्षेत्रो मे विशेष उद्देश्य के लिए चुने हुए बीजाक्षरो की स्थापना करके और उनके अविराम प्रवाह की धाराओ को वहाँ केन्द्रित करके मन्त्रो के उपयोग को ढूँढ निकाला है। बीजाक्षर या उसके समान स्पन्दन सच्चे अर्थ का उनकी कारणावस्था मे साक्षात्कार कराते हैं, साथ ही विश्व-विधान की योजना मे भी उसका साक्षात्कार कराते हैं या, जब इस पद्धति मे कृच्छ्र यौगिक प्रयत्न की आवश्यकता पडती है, जो कि गुह्यज्ञान के साधारण साधक की पहुँच के बाहर होता है तब साधारणतया उसे अपेक्षाकृत सरल और समान रूप से प्रभावशाली विधि को अपनाने की सलाह दी जाती है। यह पद्धति है रुचिपूर्वक अनेक वर्णों का जप। वर्ण या अक्षरो का यह जप चेतना के स्तर पर सूक्ष्म स्पन्दन पैदा करने के लिए है और इसे मन से परे स्थित सत्यो-के-सत्य को पाने के हेतु प्रस्तुत होने के लिए किया जाता है। जप के द्वारा मन मे धारण किए हुए वर्ण ध्वनि की छन्दपूर्ण लयो से जाग्रत होते हैं, जो कि उन सत्यो के स्वाभाविक छन्दो के सबसे निकट पहुँचता है।"

विभिन्न देवी-देवताओ के बीजाक्षर अलग अलग होते है। जैसे ऐं सरस्वती का बीजाक्षर है, क्रीं काली का और ह्रीं माया बीज कहलाता है। इसे तान्त्रिक प्रणव भी कहते हैं। जिस तरह ॐ वेदान्तियो के लिए है, तान्त्रिक ह्रीं को वही स्थान देते हैं।

तत्वबीज इस प्रकार हैं ह—आकाश बीज, य—वायु बीज, र—अग्नि बीज, व—वरुण बीज, ल—भूबीज, प—मनो बीज, प—बुद्धि बीज, म—शक्तिबीज, ग—ग्रादच-जीव बीजादि।

सभी अक्षर मन्त्ररूप हैं। इनमें महान् शक्तियाँ छिपी रहती हैं। केवल इनके ठीक प्रयोग की विधि जानने की आवश्यकता रहती है।

योग दर्शन में महर्षि पतञ्जलि ने आदेश दिया कि मन्त्र-जप, अर्थ-चिन्तन सहित होना चाहिए। अब कुछ बीज मन्त्रों का अर्थ यहाँ दिया जा रहा है—

१ ऐं—ऐं—सरस्वती और बिन्दु—दुःख-नाश। भगवती सरस्वती मेरे दुःखों का दूर करे। यह सरस्वती बीज है।

२ श्रीं—श—महालक्ष्मी, र—धन, ई—पुष्टि, नाद—विश्व-माता, बिन्दु—दुःख-नाश। धन और तुष्टि पुष्टि की अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मी मेरे दुःखों को दूर करे, यही लक्ष्मी अथवा श्रीबीज है।

३ ह्रीं—ह—शिव, र—प्रकृति, ई—महामाया, नाद—विश्व-माता, बिन्दु—दुःख-नाश। इसका अर्थ है—शिव सहित विश्वमाता महामाया शक्ति मेरे दुःखों को दूर करे। यह शक्ति अथवा मायाबीज कहलाता है।

४ दूं—यह दुर्गा बीज है। द—दुर्गा, ऊ—रक्षा, बिन्दु—करो। अर्थ है—दुर्गा मेरी रक्षा करे।

५ क्रीं—क—काली, र—ब्रह्म, ई—महामाया, नाद—विश्व-माता, बिन्दु दुःखनाश ब्रह्मशक्ति रूपिणी महामाया काली मेरे दुःखों का दूर करें। यह काली बीज है।

६ स्त्रीं—स—दुर्गोत्तारण। त—तारक मुक्ति ई—महामाया नाद—विश्वमाता बिन्दु—दुःखनाश। मुक्तिरूपा, विश्वमाता, तारिणी, दुर्गोत्तारिणी भगवती महामाया दुःखों से मेरी रक्षा करे।

७ गं—यह गणेश बीज है। ग—गणेश, बिन्दु—दुःखनाश। गणेश मेरे दुःखों को नष्ट करे।

जप-विज्ञान

महत्व—

सभी धर्मों और सम्प्रदायो की आध्यात्मिक साधनाओ मे अपने-अपने इष्टदेव के मन्त्र-साधना को एक आवश्यक अङ्ग माना जाता है। हिन्दू धम के वैदिक, पौराणिक, स्मृति और तान्त्रिक मतावलम्बियो मे तो यह साधना प्रचलित है ही, बौद्ध और जैन मत वालो ने भी इसे अपनाया है। उनके विधि विधान मे भी जप पर बल दिया गया है। यही नही, सूफी मत और ईसाई कैथोलिक मत वाले भी इसे प्राचीन काल से अपनाए हुए हैं। योगी लोग क्रिया-योग मे स्वाध्याय का इसे एक अङ्ग मानते है। तपयोग, मन्त्रयोग राजयोग और हठयोग मे नादानुसन्धान का वर्णन आता है, वह वास्तव में जप की एक विशेष अवस्था है।

जप-साधना हिन्दू धर्म के आध्यात्मिक कर्मकाड का मेरुदण्ड है। इससे सभी प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इसलिए भगवान कृष्ण ने इसे सब यज्ञो से श्रेष्ठ कहा है और अपनी विभूति माना है। "यज्ञाना जप यज्ञोऽस्मि" यज्ञो मे जप-यज्ञ मैं हूँ। भगवान मनु (२।८७) ने अपने अनुभव से कहा है—"और कुछ करें या न करें, केवल जप से ही ब्राह्मण सिद्धि पाता है।" महाभारत (अश्व० ४४।८) मे कहा है "यज्ञो मे आहुति देकर सिद्धि प्राप्त करने वाला यज्ञ उत्तम है और यही वैदिक कर्मकाड वालो का मत है। परन्तु भक्तिमार्ग मे हविर्यज्ञ की अपेक्षा नामयज्ञ का विशेष महत्व है।"

इसीलिए शास्त्रकारो को यह घोषणा करनी पडी कि दर्श-

८ हूँ—यह वय अथवा कूर्चबीज है। ह—शिव, अ—भैरव, नाद—सर्वोत्कृष्ट, बिन्दु—दु ख-नाश। सर्वोत्कृष्ट असुर भयङ्कर शङ्कर दु खो को दूर करें।

९ हौं—ह—शिव, औ—सदाशिव, बिन्दु—दु खनाश। अर्थ है-शिव और सदाशिव की कृपा से मेरे दु ख दूर हो, यह प्रसाद बीज है।

१०. क्लीं—यह कृष्ण बीज व काम बीज है। क—कृष्ण अथवा काम, ल—इन्द्र, ई—तुष्टि, बिन्दु—सुख शाति प्रदान करने वाला। भगवान कृष्ण मुझे सुख शाति प्रदान करे।

क्ष्रौं—यह नृसिह बीज है। क्ष—नृसिह, र—ब्रह्म, औ—ऊर्ध्व दन्त, बिन्दु—दु,खनाश। अर्थ है—ब्रह्म रूपी ऊर्ध्वदन्त भगवान नृसिह मेरे दु खो को दूर करें।

बीज मन्त्रो के अर्थ न हो, या प्रतीत न हो, तो भी उनमे विशेषता ध्वनि अथवा शक्ति की ही होनी है। वह शक्तिरूपा होते हैं और साधक को शक्ति का ही प्रसाद देते हैं।

●●●

जप-विज्ञान

महत्व—

सभी धर्मों और सम्प्रदायों की आध्यात्मिक साधनाओं में अपने-अपने इष्टदेव के मन्त्र-साधना को एक आवश्यक अङ्ग माना जाता है। हिन्दू धर्म के वैदिक, पौराणिक, स्मृति और तान्त्रिक मतावलम्बियों में तो यह साधना प्रचलित है ही, बौद्ध और जैन मत वालों ने भी इसे अपनाया है। उनके विधि विधान में भी जप पर बल दिया गया है। यही नहीं, सूफी मत और ईसाई कैथोलिक मत वाले भी इसे प्राचीन काल से अपनाए हुए हैं। योगी लोग क्रिया-योग में स्वाध्याय का इसे एक अङ्ग मानते हैं। तपयोग, मन्त्रयोग राजयोग और हठयोग में नादानुसन्धान का वर्णन आता है, वह वास्तव में जप की एक विशेष अवस्था है।

जप-साधना हिन्दू धर्म के आध्यात्मिक कर्मकाण्ड का मेरुदण्ड है। इसमें सभी प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इसलिए भगवान कृष्ण ने इसे सब यज्ञों से श्रेष्ठ कहा है और अपनी विभूति माना है। "यज्ञाना जप यज्ञोऽस्मि" यज्ञों में जप-यज्ञ मैं हूँ। भगवान मनु (२।८७) ने अपने अनुभव से कहा है—"और कुछ करें या न करें, केवल जप से ही ब्राह्मण सिद्धि पाता है।" महाभारत (अश्व० ४४।८) में कहा है "यज्ञों में आहुति देकर सिद्धि प्राप्त करने वाला यज्ञ उत्तम है और यही वैदिक कर्मकाण्ड वालों का मत है। परन्तु भक्तिमार्ग में हविर्यज्ञ की अपेक्षा नामयज्ञ का विशेष महत्व है।"

इसीलिए शास्त्रकारों को यह घोषणा करनी पड़ी कि दर्श-

पौर्णमास, ज्योतिष्टोम, राजसूय आदि यज्ञ, वैश्वदेव, बलिकर्म, नित्य-श्राद्ध, अतिथि-भोज आदि सत्कर्म भगवन्नाम के अथवा गायत्रीरूपी यज्ञ के १६ वें भाग के भी तुल्य नहीं माने जाते।

गोस्वामी श्री तुलसीदास ने भी जप की महिमा का गान किया है—

नाम जपत मगल दिसि दसहूँ,
जपहि नामु जन आरत भारी।
मिटहिं कुसकट होहिं सुखारी ॥'

जप एक आध्यात्मिक व्यायाम है, एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है जिसका हमारे मानसिक और बौद्धिक क्षेत्र पर सुनिश्चित प्रभाव पड़ता है। उससे अनेक प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। साधक का मनोबल दृढ होता जाता है, विचारों में विवेकशीलता आती है, बुद्धि निर्मल व पवित्र बनती है, आत्मा में प्रकाश आता है। इसके अमिट प्रभाव को देखते हुए शास्त्रकारों ने इसकी अपार महिमा का गान किया है। लिङ्ग पुराण ८५। १२४, १२५ मे लिखा है "जप करने वाले का कभी अनिष्ट नहीं होता, यक्ष, राक्षस, पिशाच, भीषण ग्रह उसके पास कभी फटक नहीं सकते। इससे जन्म-जन्मान्तरों के पाप नष्ट हो जाते हैं, सुखों व सौभाग्यों की वृद्धि हो जाती हैं और मुक्ति की प्राप्ति होती है।' गीता मे भगवान् कृष्ण ने कहा—"त्रायते महतो भयात" जप, साधक का महान् भय से त्राण करता है।" मनुस्मृति ४।१४६ मे कहा है—"जप करने वालो का कभी पतन नहीं होता।" भगवान मनु ने एक और स्थान पर कहा है कि जप से अन्त करण पर-ब्रह्ममय हो जाता है।

जप की महिमा बताने वाले कुछ प्रमाण नीचे दिये जाते हैं—

महर्षीणा भृगुरह गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञाना जपयज्ञोस्मि स्थावराणा हिमालय ॥

—गीता १०—२५

"मैं महर्षियों में भृगु और वाणियों में ओंकार, यज्ञों में जपयज्ञ तथा स्थावरों में हिमालय हूँ।"

ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञ समन्वित
सर्वे त जप यज्ञस्य कला नार्हन्ति षोडशाम् ॥

—मनु० २-८६

"होम बलिकर्म, नित्यश्राद्ध, अतिथि-भोजन आदि पाक यज्ञ और विधि-यज्ञ दर्शपौर्णमासादि ये समस्त मिलकर भी जप यज्ञ की सोलहवी कला के समान नहीं है।"

समस्तमख़नन्तुभ्यो जपयज्ञ पर स्मृत ।
हिंसान्ये प्रवर्तन्ते जपयज्ञो न हिंसया ॥
यावन्त कम यज्ञाश्च दानानि च तपांसि च ।
ते सर्वे जप यज्ञस्य नार्हन्ति षोडशीकला ।
जपेन देवता नित्य स्तूयमाना प्रसीदति ॥
प्रसन्ना विपुलान् भोगान् दद्यान्मुक्तिञ्च शाश्वतीम् ।
यक्ष राक्षस वैताल भूतप्रेतपिशाचक ।
जपाश्रयी द्विज दृष्टा, दूरते यान्ति भीतित ॥
तस्माज्जप सदा श्रेष्ठ सर्वस्मत्पुण्यसाधनात् ।
इत्येप स्वर्था ज्ञात्वा विप्रो जपपरो भवेत ।

—भारद्वाज गायत्री व्याख्या

"समस्त यज्ञों मे जप अधिक श्रेष्ठ है। अन्य यज्ञों में तो हिंसा होती है, जपयज्ञ हिंसा से नहीं होता है। जितने भी कर्म यज्ञ, दान तप हैं वे समस्त जपयज्ञ की सोलहवी कला के समान भी नहीं होते हैं। जप द्वारा स्तुति किये गये देवता प्रसन्न होकर बडे-बडे भोगों को तथा अक्षय शक्ति को प्रदान करते हैं। जप जप करने वाले द्विज को दूर से देखते ही क्ष, राक्षस, वैताल, भूत, प्रेत, पिशाच आदि भय से भयभीत हो भाग जाते हैं। इस कारण समस्त पुण्य-साधनों मे

जप सर्वश्रेष्ठ है। इस प्रकार जानकर ब्राह्मण को सर्वथा जप परायण होना चाहिए।

मास शतत्रय विप्र सर्वान्कामानवाप्नुयात्।
एव शतोत्तर जप्त्वा सहस्र सर्वमाप्नुयात ॥

"इस प्रकार एक मास तक ३०० मन्त्र प्रतिदिन जप करने पर सब कार्यों मे सिद्धि प्राप्त करता है। इसी प्रकार ग्यारह सौ नित्य जपने से सब काय ही सम्पन्न हो जाते हैं।"

रूद्धा प्राणमपान च जपोन्मास शतत्रयम्।
यदिच्छेनदवाप्नोति सहस्रात्परमाप्नुयात् ॥

"प्राण अपान वायु को रोककर एक मास तक प्रतिदिन एक सहस्र मन्त्र जपने से इच्छित वस्तु की उपलब्धि होती है।"

एक पादो जपेदूर्ध्व बाहूरुद्धानिल वश ।
मास शतमवाप्नोति यदिच्छेदिति कौशिक ॥

"आकाश की ओर भुजायें उठाये हुए एक पैर के ऊपर खड़ा होकर साँस को यथाशक्ति अवरोध कर एक माप तक १०० मन्त्र प्रतिदिन जप करने से अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति होती है।"

एव शतत्रय जप्त्वा सहस्र सर्वमाप्नुयात्।
निमज्ज्याप्सु जपेन्माम शतमिष्टमवाप्नुयात् ॥

'जल के भीतर डुबकी लगाकर एक मास तक १३०० मन्त्र प्रतिदिन जप करने से अभीष्ट वस्तुओ की प्राप्ति होती है।"

लाभ—

जप आरम्भ करते ही साधक के अन्त करण मे एक हलचल मचती है और उसकी विलक्षण शक्ति से आतरिक क्षेत्र मे अनेको सूक्ष्म परिवर्तन होते हैं। बुरे विचार, भाव और स्वभाव घटने लगते हैं और सत्य, प्रेम, न्याय, क्षमा, ईमानदारी, सन्तोष शांति पवित्रता नम्रता

संयम, सेवा और उदारता जैसे सद्गुण बढ़ने लगते हैं। मन क्षेत्र प्रभावित होने से विवेक, दूरदर्शिता, तत्वज्ञान और ऋतम्भरा बुद्धि की प्राप्ति होती है, जिससे दुःखों का कटना और सुख शान्ति का प्राप्त होना अनिवार्य परिणाम है। जप से मलिनताओं का पर्दा हटकर सद्गुणों का विकास होता है और महानता के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। दुर्गुण और दोष कम होने लगते है और साधक धीरे धीरे निर्मल चरित्र की साक्षात् प्रतिमा बन जाता है। वह असत् से सत्, अन्धकार से प्रकाश, मृत्यु से अमरत्व, निराशा से आशा, सीमित से असीम, शिथिलता से दृढ़ता, नरक से स्वर्ग, तुच्छता से श्रेष्ठता और कुबुद्धि से सद्बुद्धि की ओर कदम बढ़ाता है।

मन्त्र-जप से शक्ति उत्पन्न होती है। शक्ति ही सिद्धि का दूसरा नाम है। योगदर्शन ४।१ में स्पष्ट कहा है कि मन्त्र-जप से सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। अन्तःकरण की पवित्रता तो सर्वश्रेष्ठ सिद्धि है जो जप का स्वाभाविक लाभ है। योगदर्शन १।२८ में तो यहाँ तक कह दिया गया है कि जप साधक धीरे-धीरे इतना से ऊँचा उठ जाता है कि वह इसी साधना से समाधि-अवस्था तक पहुँच जाता है। आगामी सूत्र २९ में महर्षि ने निर्देश दिया है कि साधना-काल में आए विघ्नों का इससे नाश होता है और अन्तरात्मा के स्वरूप का ज्ञान होता है। ईश्वर के साक्षात्कार का मार्ग खुल जाता है और साधक नित्य आनन्द में मग्न रहता है उसे कुछ प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता, उसे किसी वस्तु का अभाव नहीं लगता, वह सम्राटों का सम्राट बनकर सर्वोच्च आसन पर अवस्थित हो जाता है। स्वामी रामतीर्थ इसी स्थिति पर पहुँचकर अपने को राम बादशाह कहा करते थे। हर साधक साधना-तपश्चर्या द्वारा इस साम्राज्य का सर्वोच्च अधिकारी बन सकता है, यदि वह शास्त्रों में वर्णित नियमों के अनुसार साधना करता रहे। पर यह अवस्था लम्बे समय के अभ्यास के बाद आती है, जैसा कि योग दर्शनकार ने

१।१४ में लिखा है—"वह अभ्यास बहुत काल तक लगातार विधि-व्यवस्था से ठीक-ठीक किया जाने पर दृढ अवस्था वाला होता है।'

जप से आध्यात्मिक लाभ ही प्राप्त हो, ऐसी बात नही है, भौतिक उपलब्धियाँ भी इसकी विशेषता है। कठिनाइयाँ और आपत्तियाँ तो हर एक के जीवन मे आती हैं, मनोबल की वृद्धि की जप-साधक उनको हँसते-हँसते झेलता है, पहाड जैसे कष्ट उसे फूल समान लगते हैं। आत्मिक शक्ति के बढने से उनका साहस भी बढता है। आर्थिक अभाव, विवाह, सन्तान, मुकदमे, शत्रुता, सघर्ष आदि आपत्तियो का ऐसा सरल समाधान हो जाता है कि वह चमत्कार-सा ही दिखाई देता है। तपस्वी साधक अपने लिए ही नही, वरन् दूसरे को लाभ पहुँचाने की स्थिति मे रहते हैं। यह किसी के अनुग्रह से अनायास प्राप्त नहीं हो जाते वरन् जप द्वारा प्राप्त शक्ति के ही चमत्कार होते हैं।

जप द्वारा आयु वृद्धि के लाभो की वैज्ञानिक व्याख्या भी विद्वानो ने की है। २४ घन्टे में प्रत्येक स्वस्थ व्यक्ति २१६०० बार श्वास लेता है अर्थात् १ मिनट म १५ बार श्वास लेना स्वाभाविक है। यदि किसी उपाय से इन श्वासों की सख्या कम हो जायें तो आयु वृद्धि सुनिश्चित है। प्राणायाम ऐसी योग की सशक्त क्रिया है, जिसमे श्वास-प्रश्वास क्रिया का नियमन किया जाता है। जप मे भी ऐसा होता है। जप के समय श्वासों की सख्या स्वाभाविक रूप से कम हो जाती है। यह एक मिनट में १५ के स्थान पर ७-८ रह जाती है। यदि साधक एक घण्टा प्रतिदिन जाप करता है, तो लगभग ५०० श्वासों की आयु-वृद्धि हो गई। इस तरह से यदि वह इस प्रक्रिया को निरन्तर जारी रखता है, तो जीवन में कई वर्षों की वृद्धि हो सकती है। यह किसी देव-दानव की कृपा से नहीं, अपने पुरुषार्थ का फल है।

अर्थ—

जप धातु का एक अर्थ है—'जप व्यक्तायां वाचि' स्पष्ट बोलना

और दूसरा 'जप मानसिक मन में उसे कहना। मन्त्र के बार-बार उच्चारण को जप कहते हैं। अग्नि-पुराण में इसकी व्याख्या इस प्रकार से की गई है—

जकारो जन्म विच्छेद पकार पाप नाशक ।
तस्याज्जप इति प्रोक्तो जन्म पाप विनाशक ।।

अर्थात् "'ज' का अभिप्राय जन्म का विच्छेद और 'प' का अर्थ

हृदय में भगवान का नाम लेने को भी जप कहते हैं। एक है पापों का विनाश। जिससे जन्म मरण और पापों का विनाश हो—वह जप कहलाता है।"

विद्वान् ने इसका अभिप्राय भगवान को प्रत्यक्ष करना बताया है और कहा है—'इसकी अत्यावश्यक परिभाषा है—निर्वाच अन्त करण प्रकाश'। यह सूक्ष्म करुणार्द्र अन्त करण की विशुद्ध नीति है इस निर्णयात्मक स्थिति में सारे बन्धन छिन्न हो जाते हैं।" श्री रामकृष्ण परमहंस ने जप का अर्थ किया है—"एकान्त में बैठकर मन-ही-मन भगवान का नाम लेना।"

प्रकार—

जप विभिन्न प्रकार का होता है, उसका संक्षिप्त विवेचन यहां किया जाता है—

१ नित्य-जप—जैसे स्थूल शरीर के लिए बाह्य पवित्रता, स्नान, व्यायाम, भोजन और नियमित मल-विसर्जन आवश्यक क्रियायें हैं, उसी तरह सूक्ष्म शरीर के लिए नियमित रूप से उसके अनुरूप पवित्रता के साधन, उसके पोषण और विकास के लिए आध्यात्मिक व्यायाम जप और मन पर चढ़े मल-विक्षेपों को दूर करने के लिए नित्य अभ्यास आवश्यक है ताकि पुराने संस्कारों का शमन होता रहे और नए आसुरी आक्रमणों के मुकाबिले की तैयारी होती रहे। अपने इष्टदेव का जो रुचिकर और गुरु प्रदत्त मन्त्र हो, उसका जाप नित्य ही करना चाहिए। रोग या यात्रा की अवस्था में इसकी नित्यता

मे बाधा न आना चाहिये । सख्या और विधि-विधान मे कुछ शिथिलता भले ही आ जाए परन्तु इसकी नियमितता मे कोई अन्तर न आना चाहिए । यह नित्य जप कहलाता है । नियमित रूप मे करने के कारण इससे शीघ्र ही सूक्ष्म शक्ति का विकास होता है ।

२ नैमित्तिक जप—कृतज्ञता की भावना का विकास करना हमारी सस्कृति की महान विशेषता है । हम मानते हैं कि आत्मा अजर-अमर है । इसका नाश नही होता, केवल शरीर मे परिवर्तन हो जाता है । अत पितृ ऋण से उऋण होने के लिए हम पितृ-श्राद्ध आदि कर्म करते हैं, जिससे पितर जहाँ भी हो, उनके सूक्ष्म शरीर को बल मिलता है और प्रसन्नता हो जाती है । आशीर्वाद देते हैं ।वे देव पितरो के सम्बन्ध मे जो जप किया जाता है, उसे नैमित्तिक जप की सज्ञा दी जाती है । यह पितृपक्ष मे तो किया ही जाता है । इसके अतिरिक्त पर्व तिथियो मे अथवा अमावस्या, पूर्णिमा एकादशी, शिवरात्रि, रामनवमी, नवरात्रि, गणेश चतुर्थी, कृष्णाष्टमी व ग्रहणादि पर्वों पर भी किया जाता है । इस जप से पितरो की सद्गति होती है ।

३ काम्य-जप—जप-साधना विभिन्न प्रकार के प्रयोजनो से की जाती है । साधक का मन सकाम और निष्काम—दोनो प्रकार का हो सकता है । मन के स्तर के अनुकूल ही साधना चलती है । जिस तरह आरम्भिक साधक के लिए मूर्ति-पूजा और अन्य बाह्य उपकरणो की आवश्यकता रहती है क्योकि उसके लिए ईश्वर के निराकार रूप की कल्पना करना सहज नही है, उसी तरह पशु-भाव के साधक को ईश्वराधन की ओर आकर्षित करने के लिए पहले भौतिक सिद्धियो की उपलब्धि मे सहयोग दिया जाता है, जिससे उसके विश्वास मे दृढता हो और आत्म-कल्याण की साधना को अगली सीढी पर चढने के लिए तैयार हो । किसी विशिष्ट उद्देश्य के लिए जो सकाम साधना की जाती है, वह काम्य-जप कहलाता है । इसमे देव-शक्तियो को आकर्षित किया जाता है, जो अभीष्ट सिद्धि मे सहायक होती हैं ।

निषिद्ध-जप—साधक किसी भी क्षेत्र में साधनारत हो, उसका कुछ भी उद्देश्य हो उसके विधि-विधान का महत्व होता ही । यदि उसकी उपेक्षा की जाती है, तो पूर्ण सफलता में सन्देह ही रहता है । आध्यात्मिक साधना में तो इसका विशेष ध्यान रखा जाता है । पवित्रता, संयम, ब्रह्मचर्य, मिताहार —इन नियमों का पालन, मनोनिग्रह जप-साधना में आवश्यक बताए गए हैं । यदि किसी भी साधना के नियमों का पालन पूर्ण रीति से नहीं किया जाता है, तो देव-कृपा संदिग्ध रहती है । अनधिकारी गुरु से दीक्षा लेकर अशुद्ध उच्चारण के साथ अपवित्र अवस्था में और निकृष्ट स्थान पर यदि अविधिपूर्वक जप किया जाए,तो वह निषिद्ध जप कहलाता है जिसमें देवता और मन्त्र में भी अनुकूलता न हो और श्रद्धा विश्वास का अभाव हो, ऐसी साधना से कोई लाभ नहीं होता । केवल निराशा ही हाथ लगती है ।

४ प्रायश्चित जप--मानव-शरीर धारण करने से पूर्व हमें १४ लाख योनियों से होकर आना पड़ता है जिसमें विभिन्न प्रकार की पशु-योनियां होती हैं । उनके संस्कार हमारे मानस पटल पर अङ्कित रहते हैं । छोटा-सा उत्तेजक कारण मिल जाने पर हमसे बड़े-से-बड़े दोष, अपराध अथवा पाप हो जाते हैं, जिनके लिए बाद को मन में पश्चाताप भी होता है । दोष और त्रुटि मानव स्वभाव का एक अङ्ग है । पिछले संस्कार और सामाजिक परिस्थितियां इसका कारण बन जाती हैं । इन दोषों के परिष्कार के लिए आवश्यक उपाय अपनाना बुद्धिमानी है, क्योंकि हर कर्म की प्रतिक्रिया होती है जो योग और प्रारब्ध के रूप में हमारे सामने आती है । संचित प्रारब्ध कर्मों से ही हमारा जीवन दुःखमय प्रतीत होता रहे तो इन भौतिक दुःखों में भी कमी की जा सकती है । पिछले प्रारब्ध-कर्मों को योग अथवा अन्य साधनाओं द्वारा कम किया जाए और आगे सावधानी बरती जाए, यही ऋषियों का आदेश है । आचार्यों ने संचित व नित्य दोषों के प्रभाव को

दूर करने के लिए अनेकों प्रकार के उपायों का दिग्दर्शन किया है, उनमें में एक प्रायश्चित जप है। इसका स्पष्ट अर्थ है—अपने दोष और अपराध को स्वीकार करना। पाप की गाँठ उसके स्वीकार करने से ही खुलती है। इसे स्वीकार न करने में वह और दृढ़ होती है। अत जान व अनजाने पापों के परिमार्जन के लिए जो जाप किया जाता है। उसका प्रायश्चित किया जाता है।

६ अचल जप—अभीष्ट सिद्धि के लिए कुछ विशिष्ट साधना भी आवश्यक होती है। नियम, संयम और संकल्प भी इसके आवश्यक अङ्ग हैं। बिना संकल्प के कोई भी काम निश्चित समय में पूरा नहीं हो पाता। कठिन कार्यों के लिए तो संकल्प अनिवार्य होता है। जप-साधना में समय और संख्या की विशेषता रहती है। जब साधक यह निश्चय करता है कि नित्यप्रति वह इतना समय लगाकर इतना जप करके ही आसन से उठेगा—वह अचल जप कहलाता है। इससे साधक की मनोभूमि में दृढ़ता आती है और किसी भी बड़ी-से-बड़ी साधना के लिए साहस बटोर सकता है।

७ चल जप—अन्य जप तो विधिपूर्वक आसन पर बैठकर किए जाते हैं, परन्तु चल जप किसी भी परिस्थिति में किया जा सकता है। चलने, फिरते, यात्रा में या कहीं भी यह हो सकता है। इसके लिए किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं है। खाली मन को शैतान का घर कहा गया है, तो उसमें विभिन्न प्रकार के अनावश्यक विचार चक्कर लगाते रहते हैं; कमजोर मन पर आसुरी विचार अपना नियन्त्रण जमा लेते हैं, तो उसके कार्य भी उसी के अनुकूल होने लगते हैं। इससे बचने के लिए आवश्यक है कि मन में बुरे विचारों का आगमन न हो। यह तभी हो सकता है, जब मन खाली न हो और सदैव उसे व्यस्त रखा जाए। अपने इष्ट देवता के स्मरण के अतिरिक्त और कौन-सा श्रेष्ठ साधन हो सकता है? मन्त्र-जप का साधन हर समय चलता रहे, तो आसुरी वृत्तियों के

पोषण विकास का प्रश्न ही नही उठता, क्योकि मन की पवित्रता को बनाए रखने के लिए निरन्तर साधन चलता रहना है। इस साधना मे प्रदर्शन घातक सिद्ध होता है। प्रदर्शन के बिना यह साधना चलती रहे, तो इससे अपूर्व सफलता मिलती है।

८ वाचिक जप—भगवान मनु ने इस जप की महिमा का वर्णन करते हुए कहा है कि यह विधि-यज्ञ से दस गुना श्रेष्ठ है। जिस मन्त्र-उच्चारण को अन्य व्यक्ति भी सुन सकें, उसे वाचिक-जप कहते हैं। आरम्भ मे साधक के लिए यही ठीक रहता है क्योकि अन्य जप अभ्यास साध्य हैं। यह जप निम्न कोटि का जाना माना है। फिर भी शब्द-विज्ञान की महत्ता स्वीकार करते हुए इसकी उपयोगिता को स्वीकार करना ही होगा। योगियो का कहना है कि इससे वाक्-सिद्धि होती है और षट्चक्रो मे विद्यमान वर्णबीज शक्तियाँ जाग्रत होती हैं।

९ उपांशु जप—मनुस्मृति २।८५ के अनुसार उपांशु-जप उसे कहते हैं कि मन्त्र का उच्चारण होता रहे होंठ हिलते रहें परन्तु पास बैठा व्यक्ति भी उसे सुन न सके, जापक स्वयं ही उसे सुने। भगवान मनु ने इसे विधि-यज्ञ की अपेक्षा सौ गुना श्रेष्ठ बताया है। इस जप के प्रभाव से स्थूल से सूक्ष्म शरीर मे प्रवेश होता है और बाह्य वृत्तियाँ अन्तर्मुख होने लगती हैं, एकाग्रता बढने लगती हैं, एक अद्भुत मस्ती प्रतीत होती है, जो अनुभव की ही वस्तु है।

१० भ्रमर जप—भ्रमर के गुञ्जारव की भांति गुनगुनाना इस जप की विशेषता है। इसमें होंठ और जिह्वा नही हिलानी पडती। जिस तरह बंशी बजाई जाती है, उसी तरह प्राणवायु के सहयोग से मन्त्रावृत्ति की जाती है। योग-विज्ञान का मत है कि जो साधक मनोलय के लिए नादानुसंधान की साधना करते हैं, यदि भ्रमर जप मे वह सफलता प्राप्त कर लें, तो उनकी अनाहत नाद की सा ना सरल हो जायगी। इस जप से यौगिक तन्द्रा की वृद्धि होती है और षटचक्रो का धीरे-धीरे

जागरण होने लगता है, प्रकाश की अनुभूति होती है आन्तरिक तेज की वृद्धि होती है।

११ मानसिक-जप—मानसिक जप मे होठ और जिह्वा कुछ भी नही हिलते। मन्त्र के पद और अक्षरो के अर्थ पर मन में विचार किया जाता है। इसकी महत्ता मनुस्मृति २।८६, विष्णुपुराण ५६।१६, वृहद् पाराशर ४।५७ मे वर्णित की गई है। उनके अनुसार विधि-यज्ञ की अपेक्षा मानसिक जप सहस्र गुना श्रेष्ठ स्वीकार किया गया है।

मानसिक जप की उपयोगिता पर प० दीनानाथ शास्त्री लिखते हैं 'स्पष्ट बोलने मे वाणी स्थूलता मे रहती है। और उसका प्रभाव भी सीमित स्थल मे रहता है। पर मन के द्वारा मन्त्र के उच्चारण से वह वाक् सूक्ष्म हो जाती है परा, पश्यन्ती, मध्यमा—यह तीन वाक् भी सूक्ष्म होती हैं। उनके द्वारा नाभि प्रदेश आदि मे प्रयत्न होता है, उसमे विद्युत प्रकट होती उसका प्रभाव अपेक्षित स्थल है। सूक्ष्म की शक्ति स्थूल की अपेक्षा अधिक होती है। पर स्थूल वाक् की अपेक्षा अधिक पडता मन्त्र मे 'मन्त्रि गुप्त भाषणे' धातु है, मन्त्र का मन्त्रत्व गुप्त इसी भाषण मानस जपन होना से है। उसका प्रभाव भी बहुत पडता है। मानस जप का प्रभाव सारे आकाश मे व्याप्त हो जाता है, पपेक्षित स्थल पर तो पडता ही है।"

१२ अखण्ड-जप—इसका अभिप्राय इसके नाम से ही स्पष्ट है। शरीर को धारण करने के लिए जो आवश्यक कृत्य करने होते हैं, उतना समय इनमे तथा शेष साधना मे लगाकर यह अनुभवजन्य है कि हर जप करना सम्भव नही है। थकावट भी होती है और मन भी उचटता है। परिवर्तन मे मन लगता है, इसलिए गुरुजनो ने यह आदेश दिया है कि जब जाप मे मन उचट जाए, तो ध्यान करना चाहिए। ध्यान की भी एक सीमा होती है। जब ध्यान मे मन उचटने लगे, तो आत्म-चिंतन करना चाहिए, आप्त ग्रन्थो का अध्ययन करना चाहिए। इस तरह से मन को हर समय लगाए ही रहना चाहिए, उसे एक क्षण

के लिए भी स्वतन्त्र न छोडना अखण्टना की परिभापा मे आता है। शास्त्र का भी यही आदेश है—

जपाच्छ्रान्त पुनर्ध्यायेद् ध्यानाच्छ्रान्त पुनर्जपेत्।
जपध्यानपरिश्रान्त आत्मान च विचारयेत् ।

"जप करते-करते जब थके ता ध्यान करना चाहिए, ध्यान मे थकें, तो पुन जप करे। इन दोनो से जब थके तो आत्म-तत्व का चिनन करें।"

१२ वप की इस अखण्ड साधना को नप की सज्ञा दी गई ह। इससे महासिद्धि की उपलब्धि होती है।

१३ अजपा जप—यह जप माला के बिना ही होता है। श्वासोच्छ्वास की क्रिया हमारे शरीर मे बराबर स्वाभाविक रूप मे होती रहती है, जो एक अहोरात्र मे २१६०० की सख्या मे होती है। जो श्वास वाहर निकलता है, उसकी ध्वनि 'हम्' की तरह होती है और जो अन्दर आता है उसकी ध्वनि 'स' की तरह होती है। इस तरह मे हस' मन्त्र का जप हमारे शरीर मे अपने आप होता रहता है। इसे अजपा गायत्री भी कहते हैं। अत श्वासोच्छ्वास के साथ मन्त्रावृत्ति अजपा जप कहलाती है। योग की भाषा मे कहा जाए, तो 'स' ध्वनि का सम्बन्ध प्राण से और 'ह' ध्वनि का अपान से सम्बन्ध है। प्राण-अपान की क्रिया बराबर चलती रहती है। यही अजपा विद्या कहलाती है। इस जप की यही विशेषता है कि यह अपने आप होता रहता है, इसके लिए कुछ करना नही पडता। केवल द्रष्टा रूप मे इसकी स्वाभाविक क्रिया को देखना होता है। इस जप को अजपा-गायत्री व हस विद्या के अतिरिक्त आत्म-मन्त्र और प्राण-यज्ञ भी कहा जाता है। गीता के चौथे अध्याय मे कहा गया है—"प्राणानि प्राणेषु जुह्वति।" यही प्राणयज्ञ है इस प्राणयज्ञ को श्रीधर स्वामी ने अपनी टीका मे अजपा साधन बताया है। नाथ-सम्प्रदाय मे तो यह विशेप रूप मे प्रचलित है। नाथ साहित्य मे

इसकी महिमा का वर्णन आता है। बौद्ध मत मे जो साधना 'आनापानसति' के नाम से प्रसिद्ध थी वह आचार्यों की दृष्टि मे अजपा साधन का ही एक भाग थी।

हंसोपनिषद् (५) मे हंस मन्त्र की स्वाभाविक क्रिया का वर्णन करते हुए कहा है—

सर्वेषु देवेषु व्याप्त वर्तते यथा ह्यग्नि काष्ठेषु तिलेषु तैलमिव। त विदित्वा नमृत्युमेति।

"समस्त देहो मे यह जीव हंस हंस जपता हुआ व्याप्त रहता है, उसी प्रकार जैसे काठ मे अग्नि रहती है और तिलो में तेल रहता है। इसके जान लेने वाला मृत्यु को उल्लङ्घन कर जाता है।'

१४ प्रदक्षिणा-जप—इसकी प्रक्रिया नाम से ही स्पष्ट है। वट औदुम्बर व पीपल के वृक्ष को पवित्र माना जाता है। जप करते हुए परिक्रमा करनी पडती है। ज्योतिर्लिंग-मन्दिर की प्रदक्षिणा का भी विधान है। साथ में ब्रह्म-भावना का रहना आवश्यक होता है। इससे भी विशेष लाभ होता है।

जप की सहयोगी प्रक्रियाये—

जप का लाभ तभी होता है, जब वह एकाग्रतापूर्वक किया जाए, वृत्तियाँ अन्तर्मुखी हों, यदि जप-साधन मे माला घुमाने के साथ-साथ विचार अन्यत्र घूमते रहते हैं, तो शक्ति का विशेष विकास नही हो पाता। एकाग्रता के लिए ध्यान किया जाता है, जो शक्ति का विशेष साधन है। ध्यान की सफलता में जप की सफलता निश्चित है। जप के साथ अर्थ-चिंतन को भी आवश्यक बताया गया है। इष्टदेव के मन्त्र का जब उच्चारण किया जाता है, तो मन-मस्तिष्क मे इष्टदेव के गुण-रूप का एक सजीव चित्र बन जाता है, जो कालातर मे सस्कार का रूप ग्रहण कर लेता है और पूर्व सस्कार का शमन करता है। पूर्व सस्कारो मे जो काम, क्रोध, मद, लोभ, द्वेष, ईर्यादि की भावनाएँ भरी पडी हैं,

उनको धीरे-धीरे समाप्त करना जप-साधन की विशेषता है। विचारों में परिवर्तन होता है, मस्तिष्क-कोष प्रभावित होते हैं, उन पर चिन्ह बनते हैं, संस्कार जमते हैं और स्थायित्व आता है।

मन ऐसा ही भूत है जो जब भी निरर्थक बैठता है तभी कुछ-न-कुछ खुराफात करता है। इसलिए यह जब भी काम से छुट्टी पाए, तभी इसे जप पर लगा देना चाहिए। जप केवल समय काटने के लिए ही नहीं है, वरन् वह एक बड़ा ही उत्पादक एवं निर्माणात्मक मनोवैज्ञानिक श्रम है। निरन्तर पुनरावृत्ति करते रहने से मन में उस प्रकार का अभ्यास एवं संस्कार बन जाता है जिससे वह स्वभावतः उसी ओर चलने लगता है।

पत्थर पर बार-बार रस्सी की रगड़ लग जाने से उसमें रगड़ लग जाने से गड्ढा पड़ जाता है। पिंजड़े में रहने वाला कबूतर बाहर निकाल देने पर भी उसी में वापिस आ जाता है। गाय को जङ्गल में छोड़ दिया जाए तो वह भी रात को स्वयमेव लौट आती है। निरन्तर अभ्यास से मन भी ऐसा अभ्यस्त हो जाता है कि अपने दीर्घकाल तक किए गए कार्यक्रम में अनायास ही प्रवृत्त हो जाता है।

अनेक निरर्थक कल्पना-प्रपञ्चों में उछलते कूदते फिरने की अपेक्षा आध्यात्मिक भावना की एक सीमित परिधि में भ्रमण करने के लिए जप का अभ्यास करने से मन एक ही दिशा में प्रवृत्त रहने लगता है। आत्मिक क्षेत्र में मन का लगा रहना, उस दिशा में एक दिन पूर्ण सफलता प्राप्त होने का लक्षण है। मन रूपी भूत बड़ा बलवान है। यह सासारिक कार्यों को भी बड़ी सफलतापूर्वक करता है और जब आत्मिक क्षेत्र में जुट जाता है, जो भगवान के सिंहासन को हिला देने में भी नहीं चूकता। मन की उत्पादक, रचनात्मक एवं प्रेरक शक्ति इतनी विलक्षण है कि उसके लिए ससार की कोई वस्तु असम्भव नहीं। भगवान को प्राप्त करना भी उसके लिए बिलकुल सरल है। कठिनाई

केवल एक नियत क्षेत्र मे जमने की है, सो जप के व्यवस्थित विधान से वह भी दूर हो जाती है ।

हमारा मन कैसा ही उच्छृङ्खल क्यो न हो, पर जब उसको बार-बार किसी भावना पर केन्द्रित किया जाता रहेगा, तो कोई कारण नही कि कालातर मे उसी प्रकार का न बनने लगे ।लगातार प्रयत्न करने से सरकस मे खेल दिखाने वाले बन्दर, सिह,बाघ, रीछ जैसे उद्दड जानवर मालिक की मरजी पर काम करने लगते हैं, उसके इशारे पर नाचते हैं तो कोई कारण नही कि चञ्चल और कुमार्गगामी मनको वशमे करके इच्छा-वर्ती न बनाया जा सके । पहलवान लोग नित्यप्रति अपनी नियत मर्यादा मे दण्ड बैठक आदि करते हैं, उनकी इस क्रिया-पद्धति से उनका शरीर दिनो-दिन हृष्ट पुष्ट होता जाता है और एक दिन वे अच्छे बलवान बन जाते हैं । नित्य का जप एक आध्यात्मिक व्यायाम है, जिससे आध्या-त्मिक स्वास्थ्य को सुदृढ और सूक्ष्म शरीर को बलवान बनाने मे महत्व-पूर्ण सहायता मिलती है ।

एक-एक बूँद जमा करने मे घडा भर जाता है । चीटी एक-एक दाना ले जाकर अपने बिलो मे मनो अनाज जमा कर लेती हैं । एक-एक अक्षर पढने से थोडे दिनो मे विद्वान बना जा सकता है । एक एक कदम चलने से लम्बी मञ्जिलें पार हो जाती हैं । एक एक पैसा जोडने मे खजाने जमा हो जाते हैं । एक एक तिनका मिलने मे मजबूत रस्सी बन जाती है । जप मे भी वही होता है । माला का एक-एक दाना फेरने से बहुत जमा हो जाता है—और इतना जमा हो जाता है कि उससे आत्मा कल्याण का हो जाता है इसलिए योग ग्रथो मे जप को, यज्ञ बताया गया है । उसकी डी महिमा गाई गई है और आत्म मार्ग पर चलने की इच्छा करने वाले पथिको के लिए जप करने का कर्तव्य आवश्यक रूप मे निर्धारित किया गया ।

शब्द-साधना का महत्व—

जप साधना-विज्ञान में शब्द का विशेष महत्व रहता है। सृष्टि का मूल और तत्व भी इसे ही माना गया है। शास्त्र का वचन है—

वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे वाच इत्सर्वममृत यच्च मर्त्यम्।

शब्देष्वेवाश्रिता शक्तिर्विश्वस्यास्य निबन्धनी।

जब शब्द को सृष्टि का मूल माना गया है, तो इसके बाहर जाने के लिए इसी को आधार बनाना पड़ेगा। यही कारण है कि जप योग में शब्दातीत परब्रह्म पद में स्थित होने की घोषणा की गई है। इस विज्ञान पर प्रकाश डालते हुए योगियों ने कहा है कि योगशास्त्र के अनुसार चार प्रकार की वाणियाँ होती हैं—वैखरी मध्यमा, पश्यन्ती और परा। स्थूल शब्द को वैखरी कहते हैं। इस साधक की वृत्ति बहिर्मुखी ही रहती है। वृत्तियों को अन्तर्मुखी करने के लिए सूक्ष्म और सूक्ष्मतर वाणियों का सहारा लेना आवश्यक माना गया है। वैखरी से मध्यमा, पश्यन्ती और परा की ओर बढ़ना ही साधना की सफलता है। अन्तिम सीढ़ी पर चढ़ने के लिए तो इसके भी आगे जाना होता है। वैखरी से मध्यम भूमि पर अवस्थित होने के लिए जप एक सरल मार्ग है। दो किनारों के बीच के स्थान को मध्य कहते हैं। वैखरी और पश्यन्ती के मध्य-स्थिति को ग्रहण करने वाली को मध्यमा कहा गया है। यही इसका कार्यक्षेत्र है। पशु-भाव में से दिव्य-भाव में जाने के लिए इस मध्यमा का अवलम्बन अपेक्षित रहता है। योगियों का मत है कि सहस्र-कमल के दल से हृदय तक इसका विस्तार क्षेत्र है। यह माया के जाल काटने की क्षमता रखती है। अन्तिम अवस्था तक पहुँचने के लिए प्रयत्नशील साधक पश्यन्ती और परा की ओर बढ़ता है और फिर इनका भी अतिक्रमण करता हुआ आगे बढ़ता है, क्योंकि परब्रह्म को

शब्दातीत कहा गया है। इसलिए शास्त्रकारों ने घोषणा की है कि शब्द-में निष्णात होने पर परब्रह्म की उपलब्धि होती है।

शब्द ब्रह्माणि निष्णात. पर ब्रह्माधिगच्छति।

इन सभी उपलब्धियों के लिए जप-साधन को श्रेष्ठ स्वीकार किया गया है क्योंकि शब्द ही उसकी क्रिया का माध्यम है।

वैज्ञानिक प्रक्रिया—

शास्त्रकारों ने जिन लाभों का वर्णन किया है, उसका विशेष वैज्ञानिक कारण है। स्थूल शरीर की तरह ही सूक्ष्म शरीर में भी नाडी-तन्तुओं का जाल बिछा रहता है और सभी एक-दूसरे से सम्बन्धित रहते हैं और उनके सुसञ्चालन के लिए अनेकों केन्द्रों की व्यवस्था की गई है, जहाँ से सम्बन्धित क्षेत्रों का नियन्त्रण होता है। जब जप आरम्भ होता है, तो सूक्ष्म शरीर में एक अद्‌भुत प्रक्रिया का श्रीगणेश होता है। जिस तरह कि वीणा से एक प्रकार की स्वर-लहरी उत्पन्न होती है, उसी तरह से जप से भी सारे शरीर में एक झंकार उत्पन्न होती है, जिसका विशेष प्रभाव उन शक्ति-केन्द्रों पर पडता है जो सूक्ष्म शरीर की शक्तियों के प्रतिनिधि नियुक्त किये गये हैं। इस बार-बार के आघात-प्रतिघात से वह जाग्रत होते है और साधक अपने में अपार शक्ति की अनुभूति करता है। वह समझता है कि यह शक्तियाँ उसे दैव-कृपा से प्राप्त हुई हैं, परन्तु वास्तव में यह उस वैज्ञानिक प्रक्रिया का सुफल है, जो जप प्रारम्भ करते ही शुरू हो जाती है। शब्द की शक्ति को आधुनिक विज्ञान ने भी स्वीकार किया है और उससे लाभ उठाने की विभिन्न विधियाँ खोज निकाली हैं। भारतीय विज्ञान ने तो शब्द-शक्ति का प्रयोग आध्यात्मिक उत्थान के लिये किया था कि यहाँ का हर नागरिक इसका श्रद्धा और विश्वासपूर्वक अभ्यास करता था और अपना नैतिक उत्थान करता हुआ देवता की श्रेणी में पहुँच जाता था, तभी तो भारत में ३३ करोड देवताओं की कल्पना की गई है। विधि-व्यवस्था और

मन्त्र आज भी हमे उपलब्ध हैं, उन पर चलकर हम भी पशुत्व से ऊँचे उठकर सच्चे अर्थों में मानव बन सकते हैं और देवत्व की भूमिका मे प्रवेश कर सकते हैं।

नियम—

जप के जितने लाभ ऊपर वर्णित किये गये हैं, वह तभी प्राप्त होने सम्भव हैं, जब साधना नियमपूर्वक की जाए। अतः शास्त्रों मे जप के कुछ नियम बताए गए हैं, जिनका दृढतापूर्वक पालन करना आवश्यक है।

शरीर की शुद्धि करके धुले और स्वच्छ वस्त्रों को पहिन कर साधना पर बैठना चाहिये। पालथी मारकर सीधे ढग से बैठना चाहिये। कष्टसाध्य आसनो मे चित्त मे अस्थिरता रहती है। प्रातः पूर्व की ओर मध्याह्न को उत्तर की ओर, शाम को पश्चिम की ओर मुख करके बैठना चाहिए। मल-मूत्र त्याग या किसी अनिवार्य कार्य के लिए बीच मे उठना पडे तो हाथ-पैर धोकर पुनः बैठना चाहिए। शिखा खोलकर, पगडी या कुर्ता पहन कर पैर फैलाकर, नंगे होकर, व्यग्र चित्त से, क्रोध मे और जूतादि पहनकर जप करना निषिद्ध है। साधक का आहार-विहार सात्विक होना चाहिए। तन्त्र-सार के अनुसार मन की शुद्धि पवित्रता, संयम, शौच, वैराग्य, मन्त्रार्थ-चिंतन, अन्यग्रता—यह जप-सिद्धि की प्रधान सम्पत्तियाँ हैं। कुलार्णव तन्त्र के अनुसार अपवित्रता, राग-द्वेष, नग्नशिरता, बहिरलाप, अनवधानता, अन्यमनस्कता साधना मे बाधक माने गये हैं। साधक को पराया अन्न नहीं खाना चाहिए। वह जिसका अन्न खाता है, उसी को फल मिलता है।

जप न धीरे धीरे हो, और न ही अधिक तीव्र—स्वाभाविक गति से चलना चाहिये। सिद्धि के लिये मन, शिव, शक्ति और वायु का संयम आवश्यक है। यह न होने पर शास्त्रों के अनुसार कल्पपर्यन्त जप करने पर भी सिद्धि प्राप्त करना सम्भव नहीं है। साधना स्थल का

पूर्ण रूप से सात्विक रखना चाहिए। वहाँ पर तामसिक व राजसिक वृत्ति वाले व्यक्तियों को न आने देना चाहिए। महापुरुषों और देवताओं के चित्रों और प्रेरणाप्रद वाक्यों से वह स्थान सुसज्जित होना चाहिये। साधक को अपनी इन्द्रियों पर संयम रखना आवश्यक है। इससे शीघ्र लाभ होता है। उत्तम विधि को एक साधक ने इस तरह बताया है—

नाम हो जप शून्य मन धरै, पाँचों इन्द्रिय वश में करै।
ब्रह्म अग्नि में होमै काया, ता के विष्णु पखारै पाँया॥

जप के समय मन्त्र के अर्थ का चिन्तन करना चाहिये। मन्त्रार्थ में जिन गुणों का वर्णन किया गया हो वह गुण हममें ओत-प्रोत हो रहे हैं, यह दृढ भावना करनी चाहिये। मन्त्र-जप से जो एकाग्रता और शक्ति उत्पन्न होती है, उसमें उन गुणों को अपने अन्तःकरण में स्थापित करने से सहायता मिलती है और धीरे-धीरे साधक उस मन्त्र के साक्षातरूप होता जाता है, यही सिद्धि के लक्षण हैं। योग-दर्शन १।२८ में इस तथ्य का समर्थन करते हुए लिखा गया है कि मन्त्र का जप और अर्थ विचारने से समाधि-लाभ होता है। पूर्ण मनोयोग के साथ साधना करने वाले साधक इस स्थिति तक पहुँच ही जाते हैं।

जप के लिए उपयुक्त स्थान का होना आवश्यक है। लिंगपुराण ८५।१०६ के अनुसार घर में किए जप का फल साधारण होता है। नदी तट पर किए जप का फल लाख गुना और भगवान के श्री विग्रह के सामने किये जप का फल अनन्त होता है। लिंग-पुराण ८५।१०७-१०८ के अनुसार पवित्र आश्रमों, देवालयों, पर्वत-शिखर पर, देव-हृदय पर, समुद्र तट पर यह लाभ करोड़ गुना हो जाता है। ध्रुवतारा, सूर्य के अभिमुख होकर और गौ, अग्नि, दीपक और जल के सामने जप करने का भी फल श्रेष्ठ माना गया है। सुविधा के लिये घर का स्वच्छ और सात्विक स्थान लेना अभीष्ट है।

जप में माला की भी विशेष उपयोगिता है। तन्त्र-सार के अनु-

अंगुलियों पर मन्त्र-जप साधारण, पुत्र-जीव की माला में दस गुना, शङ्ख से सौ गुना, मूंगे से हज़ार गुना, मणि और रत्नों की माला से दस हज़ार गुना, स्फटिक की माला से भी दस हज़ार गुना, मोती की माला से लाख गुना, सोने की माला से करोड़ गुना, कुश ग्रन्थि की माला से अरब गुना और रुद्राक्ष से जप करने से अनन्त गुना लाभ होता है। गणेशजी का जप हाथी-दांत की माला से श्रेष्ठ माना गया है। कालिका पुराण में मूंगे की माला को सर्व प्रकार की कामनाओं की पूर्ति करने वाली, पुत्र-जीव की माला के पुत्रदाता और समस्त पापों का विनाश करने वाली बताया गया है। वैष्णव मन्त्रों में तुलसी की माला ही श्रेष्ठ मानी गई। सात्विक उपासना के लिये इसी का प्रयोग करना चाहिए।

जप-साधना में आसन भी विशेष महत्व रखता है। हम माहेश्वर तन्त्र में वस्त्र, पल्लव, तृण, पाषाण, वशकुश, कम्बल, कृष्णाजिन, व्याघ्रचर्म आदि के आसनों की चर्चा की गई है परन्तु सात्विक उपासना में कुश का आसन ही श्रेष्ठ माना गया है। यदि बिना आसन भूमि पर बैठकर जप किया जाय, तो जप-साधना से उपार्जित शक्ति के पृथ्वी में प्रवेश करने की सम्भावना रहती है, इसलिए साधक को अभीष्ट लाभ की प्राप्ति नहीं होती। कुश के आसन पर बैठकर साधना करने से यह लाभ है कि वह शक्ति को पृथ्वी में प्रविष्ट करने से रोकने और उसे सुरक्षित रखने की सामर्थ्य रखता है। इसलिए प्राय इसी का प्रयोग किया जाता है।

जप से सिद्धि-प्राप्ति का उसकी संख्या से भी सम्बन्ध बताया गया है। इसलिए विशेष प्रयोजनों के लिए २४०० व १,२५००० के अनुष्ठान किए जाते हैं। यह मान्यता है कि यदि मानसिक रूप से ७४ या ९६ हजार जप किया जाए तो प्रत्याहार की सिद्धि होती है। धारणा के लिए दो करोड़ सात लाख छत्तीस हजार जप करना पड़ता है। यह श्रद्धा-विश्वास युक्त उत्तम साधक की मर्यादा है।

अत जप एक ऐसी वैज्ञानिक प्रक्रिया अथवा आध्यात्मिक व्यायाम है, जिससे साधक मे शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक नवीन शक्तियो का सृजन होता है, जिससे वह हर क्षेत्र मे उन्नति-पथ को प्रशस्त करता हुआ विकासोन्मुख होता है। क्योकि वह चारो ओर से शक्तियो का आकर्षण करता है। शक्ति-केन्द्र बनने पर सभी प्रकार की निर्बलताएँ, असुरताएँ, दोष, दुर्गुण, पाप, बुराइयाँ, अज्ञान, अन्धकार, निराशा आदि अपना उपयुक्त स्थान न देखकर वहाँ से चले जाते हैं और वह सुख, शाति और आनन्द का स्रोत ही बना रहता है। जप मे मन्त्र शक्ति की विशेषता तो है ही। इसके साथ जो नियम-उपनियम बताये गए हैं, वह भी विशेष महत्व के हैं। उनकी सहायता से ही मन्त्र-शक्ति से इच्छित फल की प्राप्ति सम्भव है। यह साधना हमारे चहुँमुखी विकास के लिए ऋषियो की अपार देन है। इसकी उपेक्षा करने से हम अपने भविष्य के निर्माण मे बाधा डालते हैं और एक अनुभूत वैज्ञानिक साधन से लाभ उठाने से वचित रहते हैं।

• • •

षट्कर्म साधना

योगिनी-तन्त्र मे तान्त्रिक षट्कर्मों के नाम इस प्रकार बताए गए हैं—

शान्तिवश्यस्तम्भनानि विद्वेषोच्चाटने तथा।
मारण परमेशानि षट्कर्मेद प्रकीर्तितम्॥

"महेश ने कहा—हे महेशानि! शान्ति वशीकरण, स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन और मारण—यही छ षट्कर्म कहे गये हैं।"

कोई भी शिष्ट व्यक्ति शान्ति के अतिरिक्त कर्मों का अनुमोदन नही कर सकता, क्योकि यह कर्म तभी किए जा सकते हैं, जब मानव मे परले दर्जे की स्वार्थपरता प्रविष्ट हो चुकी हो। ऐसा विचार करने वाला व्यक्ति क्षुद्रता का ही परिचय देता है।

यह भी स्मरण रहे कि तन्त्र एक ऐसी वैज्ञानिक साधना-प्रणाली है जिसके द्वारा शक्ति का उद्भव और विकास होता है। मानव की जैसी मानसिक पृष्ठभूमि है, उसे उसके अनुसार प्रयुक्त प्रकर अपने उद्देश्यो की पूर्ति की जा सकती है। तन्त्र के उच्च श्रेणी के साधक आत्मिक उत्थान की उपासना करते हैं, तो तामसिक साधक इस प्रकार के प्रयोगो में उलझे रहते हैं। फिर भी इनका अपना महत्व है। जब शत्रु किसी के विनाश का प्रयत्न करता है, और तब उसे अपनी सुरक्षा के लिए यह उपाय अपनाने पडे, तो इन्हे बुरा नही कहा जाएगा। क्योकि मरता क्या नही करता की कहावत के अनुसार सभी उपाय जायज माने जायेंगे, परन्तु यदि वह स्वार्थवश इन्हे काम में लाता है, तो यह आलोचना का विषय बन जाता है।

इन दोनो पहलुओ की समालोचना से दूर रहकर यदि हम इस पर विचार करें, तो हमे तन्त्र-विज्ञान के प्रयोगो का चमत्कार ही दृष्टिगोचर होगा, क्योंकि साधारण व्यक्ति को यह प्रयोग असम्भव ही जान पडते हैं परन्तु वास्तव में इनकी वैज्ञानिक पृष्ठभूमि है। इन प्रयोगो का सम्बन्ध अन्तर्मन से है, जो विश्व की एक आश्चर्यजनक प्रयोगशाला है। इसमें अनेको मानसिक ग्रन्थियो का निवास है, जो जटिल क्रियाओ, विलक्षण चेष्टाओ और अद्भुत कार्यो का मूल कारण बनती हैं। विकसित मानव को अभी इसके बारे मे बहुत कम जानकारी प्राप्त हो पाई है, फिर भी जो प्राप्त है, उससे वह बडे-बडे चमत्कार दिखा सकता है। जागरण, उच्चाटन, भाड, फूंक, तावीज, नजर, ग डा, डोरा आदि की सूचना (Suggestion) का प्रभाव इसी अन्तर्मन पर पडता है। आधुनिक मनोविज्ञान भी इस तथ्य को स्वीकार करता है कि सूचना-सकेतो द्वारा अपने या किसी के भी मन को प्रभावित किया जा सकता है, उसके मन में इच्छानुसार विचार उडेले जा सकते हैं, उसके विचारों को जैसा चाहे, बनाया जा सकता है। यह सकेत-विद्या कोई जादू नही है, वरन् मनोविज्ञान की एक विकसित अभ्यास प्रणाली है, जिसके माध्यम से अनेको चमत्कार देखने को मिले हैं। यह प्रयोगकर्ता पर निर्भर करता है कि वह उन सकेतो को किस उद्देश्य के लिए प्रयुक्त करता है।

आधुनिक मनोविज्ञान के शब्दो मे पुष्ट एव दृढ विचार, स्पर्श, ध्वनि, शब्द, दृष्टि तथा विभिन्न आसनो एव क्रियाओ द्वारा किसी के मन पर प्रभाव डालने तथा अपनी इच्छा द्वारा कार्य सम्पन्न कराने का नाम सकेत करना है। सकेत ऐसे वाक्यो से किया जाता है, जिनमें अपूर्व दृढता, गहन श्रद्धा, शब्द शब्द मे शक्ति भरी रहती है। किन्हीं विचारो को बार-बार सोचने से वह मन का एक भाग-सा ही बन जाते हैं और वैसा ही क्रियायें होने लगती हैं। मन एक शक्तिशाली यन्त्र है।

उसकी शक्ति से दूसरों के विचारों को परिवर्तित किया जा सकता है। हिप्नोटिज्म आदि ऐसी वैज्ञानिक प्रणालियों का आविष्कार भी किया जा चुका है, जिनसे यह सिद्ध हो चुका है कि दूसरे के मन को वशीभूत किया जा सकता है।

आधुनिक मनोविज्ञान तो केवल संकेत-विद्या द्वारा दूसरों के मन को प्रभावित करने की बात कहता है, तन्त्र इसके अतिरिक्त मन्त्रशक्ति के प्रयोग की भी विद्या सिखाता है। आज मन्त्रशक्ति की सच्चाई से कोई इन्कार नहीं कर सकता, जबकि ध्वनि से विज्ञान ने अनेकों प्रकार के चमत्कारिक प्रयोग कर दिखाए हैं।

अतः यह कहने में कुछ भी संकोच नहीं कि मारण, मोहन, उच्चाटन आदि कर्म सफलतापूर्वक किए जाते थे, परन्तु इन साधनों का दुरुपयोग न होने लगे, इसलिए इनको गुप्त रखा जाता था, यह अनुभवी गुरु की देख-रेख में ही सिखाते थे। गुरु पात्र शिष्य को ही यह प्रयोग बताता था। आज यह लुप्त प्राय है फिर भी जो जानकारी प्राप्त है, उसके अनुसार सबसे भयानक प्रयोग मारण की संक्षिप्त विवेचना करते हैं।

शत्रुनाश के लिए मारण प्रयोगों को काम में लाया जाता है। मारण कितने ही प्रकार का होता है। एक तो ऐसा, जिससे किसी मनुष्य की तुरन्त मृत्यु हो जाय। ऐसे प्रयोगों में 'घात' या 'कृत्या' है। यह एक शक्तिशाली तान्त्रिक अग्नि-अस्त्र है, जो प्रत्यक्षतः दिखाई नहीं पड़ता, तो भी बन्दूक की गोली की तरह निशाने पर पहुँचता है और शत्रु को गिरा देता है। दूसरे प्रकार के मारण, मंद मारण कहे जाते हैं। इनके प्रयोग से किसी व्यक्ति को रोगी बनाया जा सकता है। ज्वर, दस्त, लकवा, दर्द, उन्माद, मतिभ्रम आदि रोगों का आक्रमण किसी व्यक्ति पर उसी प्रकार हो सकता है, जिस प्रकार कीटाणु बमों से प्लेग, हैजा आदि महामारियों को फैलाया जाती है।

इस प्रकार के प्रयोग नैतिक दृष्टि से उचित हैं या अनुचित ? यह प्रश्न दूसरा है, पर इतना निश्चित है कि यह असम्भव नहीं, सम्भव है। जिस प्रकार विष खिलाकर या शस्त्र चलाकर किसी मनुष्य को मार डाला जा सकता है, वैसे ही ऐसे अदृश्य उपकरण भी हो सकते हैं, जिनको प्रेरित करने से प्रकृति के घातक परमाणु एकत्रित होकर अभीष्ट लक्ष्य की ओर दौड पडते हैं और उस पर भयङ्कर आक्रमण करके उस पर चढ बैठते हैं और परास्त करके प्राण सङ्कट में डाल देते हैं। इसी प्रकार प्रकृति के गर्भ में विचरण करते हुए किसी रोग विशेष के कीटाणुओ को किसी व्यक्ति विशेष की ओर विशेष रूप से प्रेरित किया जा सकता है।

'मृत्यु-किरण' आज का ऐसा ही वैज्ञानिक आविष्कार है। किसी प्राणी पर इन किरणो को डाला जाय तो उसकी मृत्यु हो जाती है। प्रत्यक्ष देखने मे उस व्यक्ति को किसी प्रकार का घाव आदि नहीं होता, पर अदृश्य मार्ग से उसके भीतरी अवयवो पर ऐसा सूक्ष्म आघात होता है कि उस प्रहार से उसका प्राणान्त हो जाता है। यदि वह आघात हल्के दर्जे का हुआ, तो उससे मृत्यु तो नहीं होती, पर मृत्यु तुल्य कष्ट देने वाले या घुला-घुलाकर मार डालने वाले रोग पैदा हो जाते हैं।

शाप देने की विद्या प्राचीनकाल मे अनेक लोगो को मालूम थी। जिसे शाप दिया जाता था, उसका बडा अनिष्ट होता था। शाप देने वाला अपनी आत्मिक शक्तियो को एकत्रित करके एक विशेष विधि-व्यवस्था के साथ जिसके ऊपर उनका प्रहार करता था, उसका वैसा ही अनिष्ट हो जाता था, जैसा कि शाप देने वाला चाहता था। तान्त्रिक अभिचारो द्वारा भी इसी प्रकार से दूसरो का अनिष्ट हो सकता है। परन्तु ध्यान रखने योग्य बात यह है कि इस प्रकार के प्रयोगो मे प्रयोग-कर्त्ता की शक्ति भी कम नष्ट नहीं होती। बालक प्रसव करने के उपरान्त माता बिलकुल निर्बल, निसत्त्व हो जाती है, किसी को काटने के बाद

सांप निस्तेज, हतवीर्य और शक्तिरहित हो जाता है। मारण उच्चाटन के अभिचार करने वाले लोगो की शक्तियाँ भी भारी परिमाण मे व्यय हो जाती हैं और उसकी क्षति-पूर्ति के लिए उन्हे असाधारण प्रयोग करने होते हैं।

जिस प्रकार तन्त्र द्वारा दूसरो का मारण, मोहन, उच्चाटन आदि हो सकता है, उसी प्रकार कोई कुशल तान्त्रिक इस प्रकार के अभिचारो को रोक भी सकता है। उन प्रयोगो का निष्फल भी कर सकता है और यहाँ तक कि उस आक्रमण को इस प्रकार उलट सकता है कि वह प्रयोग-कर्ता पर उलटा पडे और उसी का अनिष्ट करे। घात, कृत्या, चौकी आदि को कोई भी भिज्ञ तान्त्रिक उल्ट दे, तो उसके प्रेरक प्रयोक्ता पर विपत्ति का पहाड टूटा समझिए।

उपरोक्त अनिष्टकर प्रयोग प्राय होते हैं—तन्त्र विद्या द्वारा हो सकते है। पर नीति, धर्म, मनुष्यता और ईश्वरीय विधान की सुस्थिरता की दृष्टि से ऐसे प्रयोगो का किया जाना नितान्त अनुचित और अवाञ्छनीय है। यदि इस प्रकार की गुप्त हत्याओ का तांता चल पडे तो उससे लोक-व्यवस्था मे भारी गडबडी उपस्थित हो जाए और परस्पर के सद्-भाव एव विश्वास का नाश हो जाए, हर व्यक्ति दूसरो को आशङ्का, सदेह एव अविश्वास की दृष्टि से देखने लगे। इसलिए तन्त्र विद्या के भारतीय तान्त्रिको ने इन क्रियाओ को निषिद्ध घोषित करके उन विधियो को गोपनीय रखा है। आजकल परमाणु बम बनाने के रहस्यो को बडी सावधानी से गुप्त रखते हैं, उसकी जानकारी सर्व-सुलभ हो जाने से कही उसका दुरुपयोग न होने लगे। उसी प्रकार इन अभिचारो को भी सर्वथा गोपनीय रखने का ही नियम बनाया गया है।

शारदा-तिलक तन्त्र के गायत्री पटल मे इस प्रकार के अभिचारो का वर्णन है, इनमें सकेत रूप से उन विस्तृत क्रियाओ का थोडा-थोडा आभास कराया गया है। वह सकेत सर्वथा अपूर्ण एव असम्बद्ध हैं, तो

भी उस सूत्र के आधार पर यह जाना जा सकता है कि कार्य को पूरा करने के लिए किस प्रणाली का अवलम्बन करना होगा, किन वस्तुओ की प्रधान रूप से आवश्यकता होगी। इन सकेतो के द्वारा इस मार्ग पर चलने वाले को किसी-न किसी प्रकार उन गुप्त रहस्यो की जानकारी हो ही जाएगी।

शारदा-तिलक तन्त्र मे कुछ ऐसे अभिचार सूत्र दिए गए हैं, जिससे इस प्रकार की विधियो पर कुछ प्रकाश पडता है और यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस प्रकार गायत्री से सात्विक लाभ उठाये जाते हैं उसी प्रकार उससे तामसिक कार्य भी किये जा सकते है। परन्तु ऐसा उन विधानो को गुप्त ही रखा जा रहा है। नीचे कुछ अभिचार सकेतो के श्लोक दिए जा रहे हैं—

धत्तूर विषवृक्षाक्षभूरुहोत्थान्समिद्वरान् ।
राजीतैलेन सलिप्तान् प्रथक्सप्त सहस्त्रकम् ॥
जहुयात् सयतो मन्त्री, रिपुर्यमपुर प्रजेत् ॥

"धतूरा, कुचिला तथा सरसो के तेल से युक्त श्रेष्ठ समिधाओ से, प्रथक् सात हजार आहुति जितेन्द्रिय होकर दे तो शत्रु यमपुर को जावे।"

सप्तरात्र प्रजुहुयात् सिद्धार्थस्नेहलोलितै ।
आद्र वस्त्रो वष्टिकाले, मरीचैर्म्मनुनामुना ॥

"सात रात तक सरसो के तेल से युक्त मिरचो द्वारा हवन करे, गीला वस्त्र धारण कर वर्षाकाल मे यह प्रयोग करे।"

निगृह्यते ज्वरेणारि प्रलयाग्नि समेन स ।
तालपत्रे समालिख्य शत्रु नाम यथाविधि ॥

"ऐसा करने पर शत्रु प्रलयाग्नि के सदृश ज्वर से युक्त हो जाता है। तालपत्र पर शत्रु के नाम को यथा विधिपूर्वक लिखकर।"

आग्नेयास्त्रेण सवेष्ट्य, कुण्डमध्ये निखन्यते ।
जहुयान्मरिचौ क्रुद्धो, ज्वराक्रान्त म जायते ॥

"उस नाम को आग्नेयास्त्र से अभिमन्त्रित कर कुण्ड के मध्य में गाड देवे और क्रोधित होकर मरचो द्वारा हवन करे तो वैरी ज्वर से युक्त हो जाता है ।

तदादाय क्षिपेत्तोये शीतले सर्वंगो भवेत् ।
पिष्ट्वापामार्गबीजानि, मरीच मधु मयुतम् ॥

"पुन कुण्ड में से उखाडकर उसको शीतल जल में डाल देवे और अपामार्ग (चिरचिरा) के बीजो को पीस, शहद मे युक्त मिरचो को—"

अत्युष्ण लवणे तोये निक्षिप्य क्वाथयेत्तन ।
ऋक्षवृक्ष प्रतिकृते हृदये वदने नसि ।

"नमक के जल मे डाल अग्नि पर रखकर क्वाथ के सदृश पकावे । पुन ऋक्ष वृक्ष मे शोधित करे ।"

किंचित्किंचत्क्षिपेत्तोये, दर्व्या कास्करोत्थया ।
आग्नेयमुच्चरन्मन्त्री सोऽचिराज्ज्वरितो भवेत् ॥

'और साथ में थोडा थोडा जल डालता हुआ मन्त्र को उच्चारण कर दर्वी (करछुली) मे चलावे तो शीघ्र ही शत्रु ज्वरयुक्त हो जावे ।"

क्वथितेऽम्भसि ता क्षिप्त्वा हन्याच्छत्रुनयत्नत: ।
तीक्ष्ण स्नेहेन सलिप्ता, शत्रो प्रतिकृति निशि ॥

"क्वाथ बन जाने पर उसको जल मे डालकर कूटे हुए कडुवे तेल मे युक्त उस कूटे हुए क्वाथ को रात्रि मे—

तापयेदेधिते वन्हौ प्रतिलोममनु लपन् ।
ज्वरेणाबाध्यते सद्यो होमादस्य मृतिर्भवेत् ॥

"प्रतिलोमतापूर्वक मन्त्र जपता हुआ प्रज्वलित अग्नि मे तपावे । जल्दी ही शत्रु ज्वर से आक्रान्त हो जाता है और होम से उसकी मृत्यु हो जाती है ।"

सामुद्रे नलिले हिङ्गु बोजजीरकलोलिते ।
क्वथिते पुत्तलिं साध्य नक्षत्र तरुनिर्मिताम् ॥

"नमक युक्त जल मे हीग, जीरा मिलाकर क्वाथ बनाकर, उसकी मूर्ति बनावे ।'

अधोवक्त्रां विनिक्षिप्य, यष्ट्या विषतरूत्थया ।
ताच्छिरस्ताडन कवन् जपेदस्त्र विलोमत ॥

"और उसको अधोमुख पृथ्वी पर डालकर विष-वृक्ष की लाठी से उसका सिर फोडे और मन्त्र को पढता जावे ।"

सप्ताहान्मरणं याति शत्रुर्ज्वर विमोहित ।
आदित्य रथ नागेन्द्र ग्रस्ताडव्रतिद्विषाहतम् ॥

"इस प्रकार करने पर शत्रु ज्वर से युक्त हो जाता है और उसकी एक सप्ताह मे मृत्यु हो जाती है । उसको सर्प पैर मे काट लेता है ।"

नग्न तैलेन लिप्ताङ्ग दग्ध भानुमरीचिभि ।
अधोमुख निज रिपून्ध्यात्वा क्वथित वारिणा ॥
तर्पयेद्ध्रुनुमालोक्य शत्रुमृत्यु, प्रियो भवेत् ॥

"शत्रु की मूर्ति को तेल मे चुपडकर मिरचो के साथ जलाकर उसका नीचे को मुख कर उष्ण जल से तर्पण करे, तो शत्रु की शीघ्र मृत्यु होवे ।

अङ्गणे स्थण्डिल कृत्वा, सुगन्धिकुसुमादिभि ।
देवीमभ्यर्चयेन्नित्य, प्रागुक्तेनैव वर्त्मना ॥

"आंगन मे वेदी बनाकर सुगन्धित पुष्प आदि से नित्य देवी की विधानपूर्वक अर्चना करे ।"

आहरेद्रात्रिपुर्वलिं चरुणा सर्वसिद्धिदा ।
कृत्यारोग भय द्रोह, भूतादीन्नात्र सशय ॥

"और रात्रि मे समस्त सिद्धिदायक चरु द्वारा वलिदान देवे । इस प्रकार करने पर रोग, भय, द्रोह तथा भूतादिको का भय नही रहता ।"

यथावदग्निमाराध्य, गन्धै पुष्पै मनोरमै ।
स्थित्वा तस्याग्रतोमन्त्री जपेन्मन्त्रमनन्यधी ।।

"मनोहर सुगन्धित पुष्पो द्वारा अग्नि की पूजा कर अग्नि के समक्ष अनन्य बुद्धि द्वारा मन्त्रजाप करे।'

जपोऽय सर्व सिद्धयै स्यान्नात्र कार्या विचारणा ।
लवणैमधुरासिक्तै जुहुयात्पश्चिमोमुख ।।

"यह जप समस्त सिद्धि प्रदायक है, इसमे किसी प्रकार का सन्देह नहीं करना चाहिए, तदनन्तर पश्चिममुख हो नमकीन अन्न तथा मिष्ठान्न द्वारा हवन करे।"

मन्त्रार्थ सख्यया मन्त्री, रिपुमात्मवश नयेत् ।
शाली प्रक्षाल्य सशोध्य, शुद्धान्कुर्वीत् तण्डुलान् ।।

"४४ हजार मन्त्रजाप करने पर जपने वाला शत्रु को अपने वश मे कर लेता है। शाठी चावलो को धोकर शुद्ध करे—"

जपित्वा पचगव्येषु सस्कृते हव्यवाहने ।
सपचेञ्जपन्मत्र, मवताय पुन सुधी ।।

"शोधित चावलो को पचगव्य मे शुद्ध करके विद्वान् पुन मन्त्र का जप करे।"

अर्चयित्वा विशदधीर्देवीमग्नौ यथापुरा ।
जुहुयाच्चारुणानेन, साज्येनाष्ट सहस्रकम् ।।

"पुन, पूर्ववत् देवी को पूजकर अग्नि मे घृतयुक्त इस चरु के द्वारा आठ हजार आहुति दे।"

पात्रे सम्पातन कुर्वन्साध्यतत्प्राशयेत्सुधी ।
शेष त निखने द्वारि सम्पान प्राङ्गणान्तरे ।।

'पुन कुछ चरु पत्र में रख स्वय भक्षण करे और शेष को आगन मे गाढ देवे अथवा द्वार पर फेंक देवे।"

कृत्यरोगा विनश्यन्ति सह भूत ग्रहामयै ।
परैरुत्पादिता कृत्या, पुनस्तानेव भक्षयेत् ।।

"कृत्या से उत्पन्न रोग भूत ग्रहो के साथ-साथ नष्ट हो जाते हैं। दूसरो द्वारा भेजी गई कृत्या (घात) उन्ही को नष्ट करती है।"

जुहुयात्सम्पदा भूमि साधको भवति ध्रुवम्।

"ऐसा करने पर साधक सम्पत्ति युक्त निश्चय हो जाता है।"

व्रीहिभिर्हविषा क्षीरै पयोवृक्ष समिद्वरै.।
आज्यैर्मधुत्रयोपेत रतद्दशशत प्रथक ॥

"हवि, जौ, दूध युक्त वृक्षो की समिधाओ, घृत से, शहद से, इनसे एक हजार आहुति प्रथक् दे।"

इसी प्रकार वशीकरण, स्तम्भन, विद्वेषण और उच्चाटन के भी संक्षिप्त विधान मिलते हैं। उनके सम्बन्ध मे केवल इतना जानना ही पर्याप्त है कि विधि-विधान की पूरी जानकारी होने पर इन्हे सफलतापूर्वक किया जा सकता है।

※ तन्त्र-विज्ञान (प्रथम खण्ड) समाप्त ※